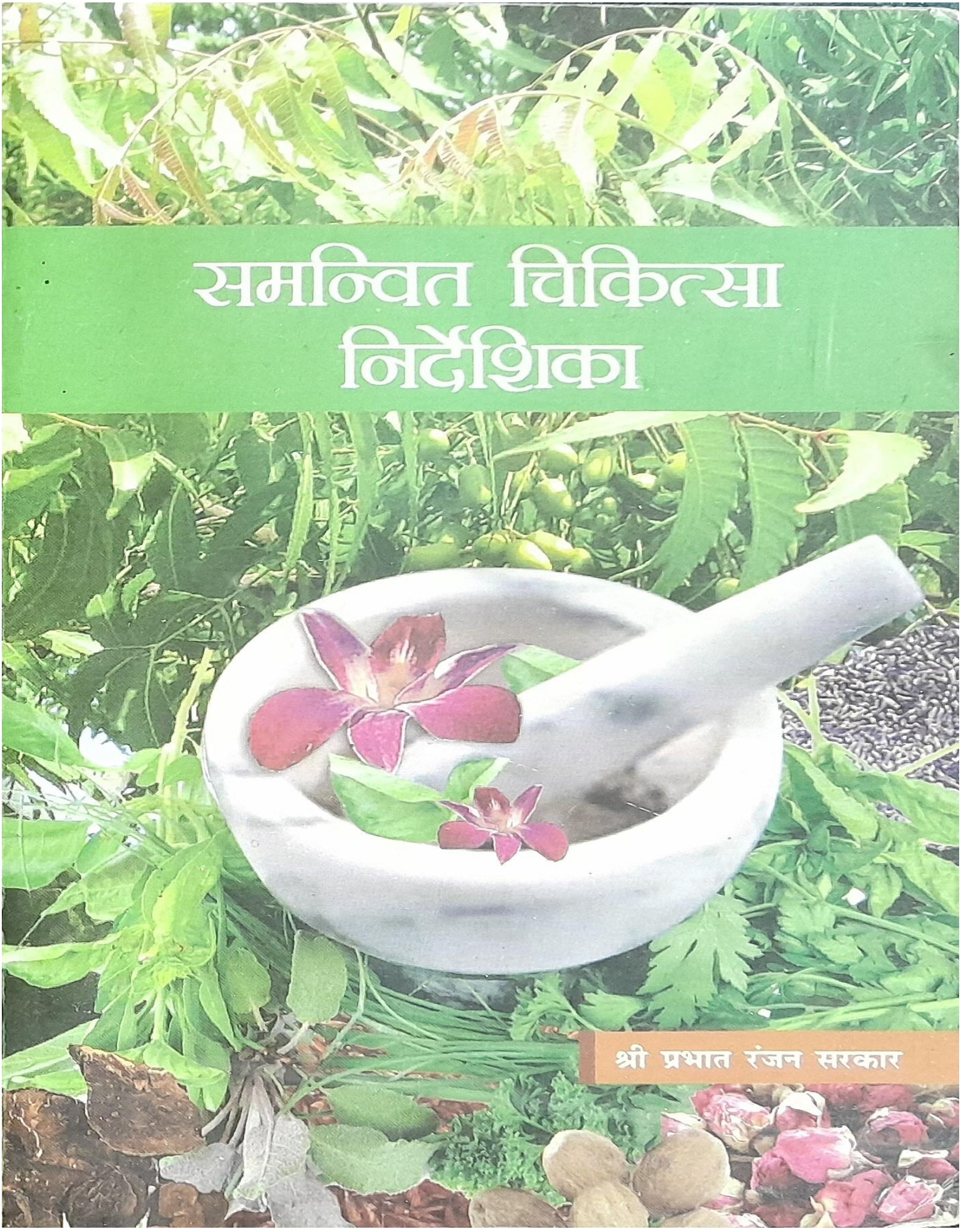

समन्वित चिकित्सा निर्देशिका

श्री प्रभात रंजन सरकार

समन्वित चिकित्सा निर्देशिका

श्री प्रभातरञ्जन सरकार

सूचीपत्र

समन्वित चिकित्सा निर्देशिका

श्री प्रभातरञ्जन सरकार

सूचीपत्र

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ (केन्द्रीय) द्वारा सर्वस्वत्व संरक्षित

आनन्दनगर, पो० बागलता, पुरुलिया (पश्चिम बंगाल)

प्रथम संस्करण : 2006

अनुवादक :

डॉ० भोलानाथ महतो, आचार्य प्रतापादित्य, आचार्य समनन्वयान्द अवधूत

प्रकाशक :

आचार्य रूपातीतानन्द अवधूत (केन्द्रीय) प्रकाशन सचिव
आनन्दमार्ग प्रचारक संघ (केन्द्रीय कार्यालय) आनन्दनगर, पो० बागलता, पुरुलिया (पश्चिम बंगाल) 723215

मुद्रक :

आनन्द मुद्रणालय, मुंबई

ISBN: 81-7252-244-4

मूल्य : 120 रुपये मात्र

सूचीपत्र

रोमन संस्कृत वर्णमाला

विभिन्न भाषाओं का ठीक - ठीक उच्चारण करने के लिए तथा द्रुतलेखन के प्रयोजन को समझकर निम्नलिखित पद्धति से रोमन संस्कृत वर्णमाला का प्रवर्त्तन किया गया है

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
অ	আ	ই	ঈ	উ	ঊ	ঋ	ঌ	ঌ	ৡ	এ	ঐ	ও	ঔ	অং	অঃ
a	á	i	ii	u	ú	r	rr	lr	lrr	e	ae	o	ao	am	ah

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ক	খ	গ	ঘ	ঙ	চ	ছ	জ	ঝ	ঞ
ka	kha	ga	gha	uṇa	ca	cha	ja	jha	iṇa

सूचीपत्र

ट ठ ड ढ ण त थ द ध न

ট ঠ ড ঢ ণ ত থ দ ধ ন

ṭa ṭha ḍa ḍha ṇa ta tha da dha na

प फ ब भ म

প ফ ৰ ভ ম

Pa pha ba bha ma

य र ल व

য ৱ ল ব

ya ra la va

श ष स ह क्ष

শ ষ স হ ক্ষ

sha śa sa ha kśa

अँ ज्ञ ऋषि छाया ज्ञान संस्कृत ततोऽहं

सूचीपत्र

অঁ ঞ্ঞ ঋষি ছায়া জ্ঞান সংস্কৃত ততোঽহং

aṇ̱ jiṇ̱a rśi cháya jiṇ̱ána saṁskrta tato’haṁ

a á b c d ḍ́ e g h i j k l
m ṁ́ n ṇ́ ṇ̱ o p r s ś t ṭ́
u ú v y

समग्र विश्व में बहुत प्रचारित रोमन लिपि के २ ९ अक्षर मात्र से संस्कृत भाषा का ठीक - ठीक उच्चारण किया जाना सम्भव है। इसमें युक्ताक्षर का भी झमेला नहीं है। अरबी , फारसी और अन्यान्य f, q , gh , z , प्रभुति अक्षरों का प्रयोजन रहता है , संस्कृत में नहीं। शब्द के मध्य या शेष में ' ड ' , ' ढ ' यथाक्रम ' ड़ ' और ' ढ़ ' ' रूप में उच्चारित होते हैं। ' य ' (जहाँ ' य ' का उच्चारण ' इ ' , ' अ ' होता है) के समान वे भी कोई स्वतंत्र वर्ण

सूचीपत्र

नहीं हैं। प्रयोजन के अनुसार और असंस्कृत शब्द लिखने के समय ŕa और ŕha व्यवहार किया जा सकता है।

गैर- संस्कृत शब्द लिखने के लिए दिए गए दश अतिरिक्त अक्षर

क़	ख़	ज़	ड़	ढ़	फ़	य़	ऩ	ॅ	अँ
क़	ख़	ज़	ड़	ढ़	फ़	य़	ऩ	त्	अँ
qua	qhua	za	ŕ	ŕha	fa	ya	lra	t	aṉ

वजन मापने की इकाइ- पुहाना और नया

1 मन = 40 सेर

1 सेर = 4 पोया

1 पोया = 4 छटक

1 छटक = 5 तोले

1 तोला = 16 आने = 1 भोरी

1 आना = 0.728987738 ग्राम

1 तोला = 11.6638038 ग्राम

1 पोया = 232.5 ग्राम

सूचीपत्र

सूची पत्र

1) समन्वित चिकित्सा

2) उदर रोगाधिकार

3) शिरो रोगाधिकार

4) यकृत रोगाधिकार

5) प्लीहा रोगाधिकार

6) मूत्र रोगाधिकार

7) श्वास तन्त्र, क्षत, कोष वृद्धि...

8) स्त्री रोग, प्रसूति और/परिचर्या शिशु

9) स्वर-विज्ञान और संगीत चिकित्सा

10) खाद्य-अखाद्य

11) आहार-विहार

12) परिवेश और स्वास्थ्य 13) माइक्रोवाइटा सिद्धान्त

14) माइक्रोवाइटा क्रिया पक्ष 15) परिशिष्ट

16) औषधीय पौधे औषधीय वनस्पतियाँ

वर्णक्रमानुसारी सूचीपत्र

Boils Eosinophilia Epilepsy Fistula

Gout, Elephantiasis and Hydrocele

Hookworm Jaundice Low Blood Sugar

Tonsillitie

अंकुरित छोला अचार और आचार अजवायन अदरक

सूचीपत्र

अधकपारी निवारक सुपारी अनुपान अपामार्ग

अफीम अरण्य रचना अरिष्ट अर्क अकवन

अर्जुन अर्श Piles अर्श और वायुरोग अवलेह

अशोक अश्वगंधा आकन्दर आतपस्नानविधि

आन्त्रिक क्षत, कोष वृद्धि, गल गंडु/श्लीपद, आमानी (काँजी)

आमाशय आमाहल्दी, बार्ली, साबू

आयुर्वेद और युनानी चिकित्सा आयुर्वेद और होमियोपैथी

आयुर्वेद, वैद्यक और विधि चिकित्सा आसव

आहारविधि इतिहास और उपयोग इमली

उत्क्षेपमुद्रा उदर रोग, अग्निमांद्य और स्नायु रोग में

उदररोगाधिकार उपवास औषधि में धातु-अधातु

औषधीय पौधो-औषधीय वनस्पतियाँ कंठ-झिल्ली की व्याधि

कच्चा कटहल कच्चू कण्टकारी; क्रोड़पर्णी चेचक रोग

कदम्ब कन्द शाक कफारि के रूप में अदरक का व्यवहार

कमल कमलगट्टा

कमला नीबू, वाताबी नीबू, पाती नीबू, गँधराज की नीबू

कयेथबेल कर्णशूल कण्ठमाला आदि कलमी

कामरांगा कामिनी कालमेघ कालाजीरा

कुंदरू कुमुद कुष्ठ कृमिरोग कृष्णबीज

केला केले का मोच कोषवृद्धि कोष वृद्धि रोग

कोष्ठबद्धता Constipation क्रोध क्वाथ

खरबूजा खसखस खाद्य अखाद्य व्यवस्था

खाद्य के माध्यम से खाद्य रस गंध तन्मात्र वाहित रोग

गधी का दूध-मातृदुग्ध का विकल्प गन्ध चिकित्सा

गलगण्ड गुरुच-गुलञ्च गुलाब गुलाबके औषधीयगुण

गूमासाग गेंदाल पत्ता गोलमिर्च गोलमिर्च:

घमौरी; घर्मचर्ची घी करेली घृत घृत कुमारी

चक्षुप्रदाह या Conjunctivitis चक्षुरोग चन्द्रलोक विचार

चाय, कॉफी, कोको से नशा चालकोहड़ा चालता

चुकन्दर (हाथीशुर) चूर्ण जल जल की विशुद्धता

जल पान विधि जलवायु की विशुद्धता

जल सम्पदा का संरक्षण जान्तव वस्तुओ का व्यवहार

जूँओं का उपद्रव जूही ज्वर रोग और यक्ष्मा रोग में व्यक्ष्मा

झींगा झींगी पोस्त टोमैटो डूमर तक्र

तरबूज तरल औषधि तरुण के रोगों में राधा तुलसी

तरोई ताड़ ताड़-ताड़ का गूदा

ताड़ी और किडनी का स्वास्थ्य तिल तैल

तुलसी तृतीय स्थान आम का

तृणभोजी जीव मांसाहारी जीव मनुष्य त्रिफला

थूजा-झाऊ और मस्सा-गजमोती दण्डशाक

दमा रोग में बाबुई तुलसी दाँत के एनामेल का क्षयहोना

दालचीनी दीर्घ जीवन लाभ के गुप्त संकेत दुग्धखीरा

दुग्ध (दूध) देशी नीम धुतुरा (धतूरा)

धूम्र पान धौति नटे (गंधारी) साग

नशा का दुष्प्रभाव नागदोना के पौधे नारियल

नासापान निसिन्दा नींबू

नीम नृत्य क्या है नेनुआ पका केला

पक्षाघात रोग और खेसारी पत्रशाक

पद्म का पराग सर्पविष का प्रतिषेधक है पद्ममधु और चक्षुरोग

परवल परिवेश और स्वास्थ्य परिशिष्ट

पानीफल और डाब पुआल छत्रक पुदीना पुनर्नवा

पुरवा भात **पुष्प शाक** पुस्तक की रूप रेखा

पोस्ता प्रथम दो-जामुन और खीरा प्राण शक्ति का ह्रास

प्राणी सम्पदा का संरक्षण प्लीहा रोगाधिकार

फल शाक बकुल बरवटी बाँस

बालों की देखभाल बालों के रोग बिरि कलाय दाल

बेर बेल (बिल्व) बैगन ब्राही ब्रोंकाइटिस

भक्ष्य अभक्ष्य भतुआ भूमिकुष्माण्ड भृंगराज

भेषज द्रव्योंका आभ्यंतरिक प्रयोग

भेषज प्रलेप भोजन के पूर्व जलपान भ्रूण वर्जित अंडा

मदिरा के कुफल मधुमक्खीऔरमधु मधुमेह

मलहम मलेरिया महुआ (माउल)

माइक्रोवाइटा क्रियापक्ष माइक्रोवाइटा सिद्धान्तपक्ष

मानकच्चू मानसिक रोग

मीठा कोहड़ा मूत्र चिकित्सा मूत्र रोगाधिकार

मूत्रस्तम्भ मूली मोतियाबिन्द यकृत रोगाधिकार

यक्ष्मारोग यूकेलिप्टस और पाईन यक्ष्मारोग

यौगिक चिकित्सा रामतुलसी लज्जावती

लवङ्ग और आन्त्रिक क्षत लवण का प्रयोजन लहसुन

लिवर, अर्श, मलबद्धता, किडनी के रोगमें लीची

लोनिया साग लौकी लौकी अलाबू वकफूल

वटिका वयव्रण और उसकी औषध वात रोग

वायु वायु सेवन विधि वासक और रामवासक

विषक्रिया और कृष्णातुलसी विषचिकित्सा विषादवायुः

व्रण और उसकीऔषध शय्या मूत्र शस्य शाक

शाँखालू शिम्बी शाक शिरो रोगाधिकार

शिलाजीत शिशुओं की कृशता

शिशुओं के लिए स्वास्थ्य विधि शिशु रोग में राधातुलसी

शुक्त शुशुनी साग शेफाली शोभाञ्जन या सहिजन

श्वासतंत्र सम्बन्धी रोग श्वेतजयन्ती श्वेतप्रदररोग

संगीत चिकित्सा सद्य जात शिशुओं की देखभाल

सप्तपर्णी या लाजवंती

समन्वित चिकित्सा इतिहास और उपयोग

समन्वित चिकित्सा का स्वरूप

सम्मोहनचिकित्सा सरसो साग सर्दीगर्मी

सागके कुछ श्रेणीविभाजन साग शाक

सुगन्धचिकित्सा सूखीरोटी सूचिकावेध

सूतिका रोग सूर्यालोक

सेम शाक
सेवा सुश्रुषा
सोयाबीन
स्त्रीरोग, प्रसूति, और शिशु परिचर्या
स्नानविधि
स्नायुरोग में कतिपय व्यवस्थाएँ
स्मरणशक्ति बढ़ानेके उपाय
स्लीपद
स्वरविज्ञान और संगीत चिकित्सा
हरितकी
हल्दी
हिस्टीरिया और मिर्गीरोग
हृदयरोग
हेलेञ्चा

प्रकाशकीय

समन्वित चिकित्सा का स्वरूप

चिकित्सा सम्बन्धी प्रथम पुस्तक 'यौगिक चिकित्सा तथा द्रव्यगुण' का प्रणयन श्री प्रभातरंजन सरकार ने बहुत पहले जमालपुर में किया था। यह पुस्तक 1957 (हिन्दी) में प्रकाशित हुई और कमोबेश उसी रूप में कई बार प्रकाशित होतो हुई सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तक के रूप में उपलब्ध है।

'यौगिक चिकित्सा' से प्रायः आसन प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं के द्वारा रोगों का निवारण किया जाना समझा जाता है। किन्तु पुस्तक की विषय वस्तु और प्रस्तावना से यही नहीं

कुछ और भी, उससे अधिक व्यापक उद्भावना का संकेत मिलता है। प्रस्तावना में प्रथमतः ही यह कह दिया गया है कि चिकित्सा का उद्देश्य रोगी को स्वस्थ करना है और वह भी न केवल शारीरिक क्षेत्र में ही बल्कि मानसिक क्षेत्र में भी। यह भी कहा गया कि प्रमुख प्रश्न किसी चिकित्सा विधि को प्रधानता देना नहीं बल्कि रोगी को आरोग्य लाभ पहुँचाना होता है। जिस प्रकार औषधियों के माध्यम से आरोग्य लाभ होता है उसी प्रकार योगासनों और मुद्राओं के द्वारा भी संभवतः कुछ और अधिक अच्छे ढंग से किन्तु इन सभी विधियों का सम्मिलित उपयोग सर्वोत्तम चिकित्सा व्यवस्था मानी जाएगी।

उक्त पुस्तक में भी और प्रस्तुत पुस्तक में भी रोग निवारक प्रायः सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का संकेत प्राप्त होता है। यहाँ तक कि 'स्वर विज्ञान' की भी चर्चा है, एलोपैथी, आयुर्वेद, वैद्यक, होमियोपैथी और प्राकृतिक चिकित्सा माइक्रोवाइटा गन्ध विज्ञान,

संगीत, सम्मोहन ग्रहबाधा निवारण आदि अन्यान्य क्षेत्रों की संकेतात्मक चर्चा है। सभी का सम्मिलित उपयोग उसी दृष्टि पर आधृत है जिसके विषय में प्रथमतः चर्चा की गई है कि चिकित्सा का उद्देश्य रोग चिकित्सा और आरोग्य लाभकराना है न कि किसी पॅथी या चिकित्सा विधि विशेष को प्रधानता देना। किन्तु पूरी विषय वस्तु की पूरी अवधारणा के लिए इन सभी पुस्तकों की आवश्यकता है और आवश्यकता है अनुसन्धान प्रयोग और परीक्षण की।

वास्तव में श्री प्रभातरंजन सरकार ने जो क्रान्तिकारी दृष्टिकोण प्रदान किया है, उसका आधार है मानवता और मानव का सर्वात्मक कल्याण जिसका चरमोत्कर्ष विश्व मानवतावाद की प्रतिष्ठा में होगा। विश्व मानवतावाद की प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो सकती है जब तक मनुष्य को सम्पूर्ण भावजड़ताओं अर्थात् 'डाग्मा' से मुक्त नहीं किया जायेगा। सम्पूर्ण विश्व में चिकित्सा के क्षेत्र में भी

भाव जड़तायें हैं। कोई आँख मूँद कर माने चलता है कि एलोपैथी ही सर्वश्रेष्ठ है, कोई आयुर्वेद, कोई होमियोपैथी और कोई प्राकृतिक चिकित्सा को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर पकड़े बैठा हुआ है। एक विधा का विशेषज्ञ दूसरी विधा को अवैज्ञानिक मान कर चलता है और एक-दूसरे की सभी निन्दा भी करते हैं, इस प्रयास में रोगी की आरोग्यता का लक्ष्य जाने-अनजाने गौण हो जाता है।

इस मनःस्थिति का दूसरा पक्ष भी है। सभी अपनी अपनी पैथी का इतना प्रचार करते है कि सामान्य रोगी भी आग्रह पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर "पैथी" विशेष का गुलाम बनकर शोषण का शिकार बन बैठता है। विभिन्न मत अन्धानुकरण की शोषक मनोवृत्ति इसी प्रकार की व्यवस्था का समर्थन करती है। इसीलिए चिकित्सा भी शोषण का आधार बन गई है और आगे भी बनते जाने की संभावना है। औषधि मूल्य क्षमता से परे हो रहा है और बीमारियाँ बढ़ती जा रही हैं। इस भयावह स्थिति का सामना करने के लिए ही

श्री सरकार ने 'समन्वित चिकित्सा व्यवस्था' (Composite therapy) का दिशा-निर्देश सोदाहरण दिया है। यह मात्र संकेत है इन सूत्रों को पकड़ कर विश्व मानव का भौतिक मानसिक और आध्यात्मिक तीनों स्तरों में समन्वित और सन्तुलित विकाश करने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में शोध का भी यथा प्रसंग संकेत उन्होंने किया है। अपने लौकिक जीवन के अन्तिम काल में उन्होंने इस प्रकार के शोध केन्द्र और चिकित्सा व्यवस्था की स्थापना 'आनन्द नगर' में करने का आदेश-निर्देश भी दिया था। आनन्दमार्ग के अनुयाइयों का दायित्व है कि वह इस लक्ष्य की उपलब्धि करें।

इस पुस्तक को वर्तमान रूप में प्रकाशित करने का उद्देश्य आप सबके सहयोग से इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति करने का संकल्प है।

विषय वस्तु के स्रोत इस पुस्तक में श्री प्रभातरंजन सरकार के विभिन्न प्रवचनों में दिए गए सूत्र संकलित है। मुख्यतः "वर्णविज्ञान", "वर्णविचित्रा", और "शब्दचयनिका" के सभी उपलब्ध अंकों में प्राप्त सामग्री का उपयोग इस पुस्तक में विशेषतया किया गया है। साथ ही कुछ अन्य विश्वसनीय सूत्रों तथा मार्ग के सहयोगी प्रकाशनों से विशेषतः 'यौगिक चिकित्सा', 'योग साइकोलाजी', 'रोगारोग्य' माइक्रोवाइटम' से सम्बन्धित तथा नमः शिवाय शान्ताय, आइडिया एण्ड आइडिओलॉजी से भी सधन्यवाद लिया गया है।

समन्वित चिकित्सा एवं मौलिक उद्भावना समन्वित चिकित्सा की उस नई उद्भावना के पीछे मूल लेखक श्री प्रभातरंजन सरकार का यह विचार स्पष्ट होता है कि समय-समय पर सभी देशों में सभी काल में ऋषि मुनि जनों ने मानव समाज की प्रगति के लिए जो आविष्कार अनुसन्धान किए हैं, उन सबका

लाभ सबको-सम्पूर्ण मानव समाज को मिले और सभी, सभी के विकाश में सहयोगिता के समान यश से मण्डित हो कर वृहत् मानव समाज की अवधारणा को चरितार्थ कर सकें। इसके लिए यह समन्वित चिकित्सा व्यवस्था एक मानव के रूप में मानव समाज को ग्राह्य होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

पुस्तक की रूप-रेखा

चिकित्सा विज्ञान की इस दृष्टि पर व्यापक स्तर पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी विद्वान लेखक ने गवेषणापरक दृष्टि और शोध संकेत दिए हैं। उनका विवरण प्रथम अध्याय में दिया गया है।

औषधियों के रोग निवारक गुणों का सन्दर्भ विशेष औषधियों के सन्दर्भ में दिया गया है।

सूचीपत्र

जहाँ कहीं आवश्यक समझा गया है वहाँ कुछ आयुर्वेद/वैद्यक के दिशा निर्देश तथा मार्गी बन्धुओं द्वारा प्राप्त श्री सरकार के विचार सम्पादक द्वारा पाद टिप्पणियों में प्रयोग जन्य कठिनाइयों के समाधान हेतु दिए गए है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली में कुछ स्थापित मान्यतायें हैं। उनको जान लेने से जड़ी बूटियों के उपयोग में सफलता की संभावना अधिक हो जाती है। इसलिए उसका ज्ञान भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ कुछ बिन्दु निम्नलिखित हैं:

(1)आयुर्वेद/वैद्यक के अनुसार जड़ी बूटियाँ जो हिमालय या विन्ध्याचल पर्वतों पर तथा पंजाब और राजपूताना में उपलब्ध होती हैं- सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं, असम, बंगाल, उड़ीसा आदि

अन्य प्रदेशों की दुर्बल और बिहार, उत्तरप्रदेश, नेपाल के तराई क्षेत्र की मध्यम श्रेणी की होती हैं।

(2) जड़ी बूटियों को पंसारी आदि के यहाँ से न लेकर विभिन्न क्षेत्रों से संग्रह करना अधिक उपयुक्त है क्योंकि औषधियों का रख-रखाव ऐसे भण्डारों में वैज्ञानिक ढंग से नहीं होता। फंफूदी लगी कोई दवा तो कभी नहीं लेना चाहिए।

(3) सामान्यतया जड़ी बूटियाँ वर्षाकाल के बाद लेनी चाहिए और वर्षा के पहले उनका उपयोग कर लेना चाहिए। हरी अवस्था में यदि निर्दिष्ट हों तो उसी अवस्था में, अन्यथा छाया में जहाँ सूर्य की गर्मी और प्रकाश हो किन्तु सीधे किरणें न लगें रख कर सुखाना चाहिए। सूखने के बाद ही चूर्ण, गुटिका आदि बनानी चाहिए। ठीक प्रकार से गुटिका, बटी, अवलेह आदि उचित पैंकिग

कर के रखने से अपेक्षाकृत अधिक समय तक उपयोगी रह जाती हैं। फिर भी इस क्षेत्र में प्रयोग और परीक्षण आवश्यक है।

(4) आसव, अरिष्ट, रस, भस्म आदि जितने पुराने होते हैं उतने ही अधिक गुणकारी होते है। 'रस', 'रसायन' का तात्पर्य प्रायः पारा गन्धक युक्त औषधियों से होता है।

(5) बायबिडंग, पिप्पली, गुड़, धनियाँ, मधु और धृत एक वर्ष से कम समय में औषधि के लिए उपयोगी नहीं होते। मधु प्रायः सभी औषधियों के साथ उपयोग में लाने से औषधि दोष शमन और गुण वृद्धि होने से योगवाही मानते हैं।

(6) जड़ी बूटियों, वनस्पतियों की छाल, जड़, फल, फूल आदि जो भी निर्दिष्ट हों वही लेना चाहिए। प्रायः छोटे वृक्षों की

जड़ें और मोटे वृक्षों की छालें ली जा सकती हैं। खदिर (खैर) का सार, महुआ, बबुल आदि वृक्षों की अन्तछलि का उपयोग उचित है। जहाँ वनस्पतियों का अंग स्पष्ट न हो वहाँ उनकी जड़ या जड़ की छाल लेने का विधान है। कहीं कहीं पूर्णांग जड़ से लेकर पुष्प तक सभी लेने की विधि है। स्पष्ट निर्देश होने पर ही ऐसा करना उचित है।

(7) जहाँ कई औषधियों को एक साथ लेने की व्यवस्था निर्दिष्ट हो किन्तु उनका मान (तौल) न लिखा हो तो उन सब को समान लेना चाहिए। जहाँ कई औषधियों का योग हो किन्तु कोई एक औषधि रोगी के लिए अहितकर हो वहाँ उसे निकाल कर शेष का उपयोग करना तथा किसी अन्य उपयोगी/हितकर

औषधि का संयोग विरुद्ध नहीं होने पर मिलाकर सेवन उचित होता है।

(8) एक ही प्रभाव रखने वाली कई औषधियों को एक में समान मात्रा में मिलाकर मात्रानुसार लिया जा सकता है। एक औषधि से कभी- कभी लाभ नहीं होता है तो दूसरी औषधि भी मिलाने से लाभ होते देखा गया है। एक ही रोग के लिए यदि कई औषधियों का वर्णन हो तो सामान्यतया उन्हें मिलाकर लेना अच्छा होता है।

(9) जहाँ वनस्पतियों के रस के उपयोग की व्यवस्था हो, वहाँ ताजा स्वरस और यदि औषधि सूख गई हो तो उसके चूर्ण का उपयोग, अथवा काढ़ा बनाकर उपयोग कमोबेश वैसा ही लाभ करता है। सभी औषधियों को सामान्यतया चार गुने पानी में खौलाकर गाढ़ा हो जाने पर उपयुक्त पैकिंग करके भी कुछ अधिक दिनों तक तथा सुविधापूर्वक रखा जा सकता है। वैसी स्थिति में उसमें उतनी ही मात्रा में शहद या शीरा आदि संरक्षक निर्दोष द्रव्य

मिलाया जा सकता है। इन दोनों विधियों से प्राप्त औषधि को 'स्वरस' और 'कल्क' कहा जाता है।

(10) सब्जियाँ छिलके सहित पकाना और खाना प्रायः स्वास्थ्यप्रद होता है। पकाते समय सब्जी का रस यदि जलाया न जाय और उसे शुद्ध लोहे या पीतल के बर्तन में पकाया जाय तो ऐसी सब्जी का लगभग पूरा गुण प्राप्त होता है।

(11) किसी भी रोग में औषधि के साथ-साथ हितकर आहार विहार अवश्य होना चाहिए। जो हितकर न हो या अहित कर हो उसे नहीं लेना चाहिए। ग्रन्थकार ने थोड़ी बहुत चर्चा इस विषय की भी की है। कभी भी सन्देह होने पर प्रशिक्षित आचार्यों से सम्पर्क करना उचित है। कभी-कभी एकाधिक चिकित्सा विधियों में विदित औषधियाँ लेने में हानि नहीं है। इस विषय में दुराग्रह उचित नहीं है। औषधि, आहार-विहार के साथ साथ

आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि कैसे समायोजित किया जाय इसका निर्देश अनुभवी आचार्यों से प्राप्त होगा। इसकी चर्चा 'यौगिक चिकित्सा और द्रव्य गुण' में भी की गई है।

यद्यपि श्री प्रभातरंजन सरकार ने जो चिकित्सा व्यवस्था बताई है उसमें सन्देह या किसी प्रकार के दिशा निर्देश का अभाव नहीं है फिर भी सावधानी के लिए तथा आगे चलकर यदि औषधि-निर्माण की व्यवस्था की जाय तो इन जैसे संकेतों का उपयोग हो सके इसलिए ये संकेत यहाँ दिए जा रहे हैं। श्री सरकार ने चिकित्सा व्यवस्था में जो

संकेत दिया है उस पर गवेषणा चिन्तन मनन जन्य निष्कर्ष मानव मात्र के सुलभ स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन के लिए उपयोगी होंगे। इस दिशा में बहुत कुछ करना शेष है।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि जहाँ स्वयं बिना किसी चिकित्सक की सहायता के चिकित्सा व्यवस्था की जाय वहाँ समय-समय पर आधुनिक व्यवस्था के अनुसार उचित परीक्षण तथा चिकित्सकीय परामर्श अनावश्यक नहीं माना जाना चाहिए।

लेखक ने गन्ध चिकित्सा, ग्रह चिकित्सा, स्वर विज्ञान, संगीत माइक्रोवाइटा इत्यादि का सन्दर्भ अन्यान्य स्थानों पर भी दिया है। इन सबको सम्पूर्ण रूप से इस पुस्तक में अलग-अलग समायोजन कतिपय अपरिहार्य कारणों से नहीं हो पा रहा है। पाठकों के उत्साह संवर्द्धन से जब अगला संस्करण छपेगा तो उसमें पर्याप्त सामग्री पाद टिप्पणी सहित दिया जायेगा। बहरहाल 'समन्वित चिकित्सा निर्देशिका' की जो अवधारणा महापुरुष श्री प्रभातरंजन सरकार ने दिया है उसे हम सभी प्रगतिशील चिन्तकों, समाज सेवियों और भक्तों के बीच इस आशा से प्रस्तुत कर रहे हैं

कि महान् पुरुष के इस महान् स्वप्न को हम सभी मिलकर साकार कर सकें।

जड़ी बूटियों और पेड़ पौधों के उपलब्ध, बोटैनिकल नाम यथा स्थान दिए गए हैं जो ग्रन्थकार के कुछ सन्दर्भ तथा बोटैनिकल शब्द कोश से प्राप्त है। इसके सम्बन्ध में आधिकारिक सत्यापन फिलहाल संभव नहीं है। अगले संस्करणों में इसका प्रयास किया जाएगा।

प्रस्तुत संग्रहीत सामग्री 'समन्वित चिकित्सा निर्देशिका' के क्षेत्र में प्रथम प्रयास है। इस क्षेत्र में बहुत कुछ कहना और करना शेष है। इसके लिए आपके सुझाव, आप की सहायता और आपकी शुभेच्छा की हम कामना करते हैं।

सूचीपत्र

अध्याय-1

समन्वित चिकित्सा

इतिहास और उपयोग

औषधि के साथ मनुष्यों का सम्बन्ध किस प्रकार का है इसके सम्बन्ध में दो-चार बातें कहने की जरूरत है।

उपवास

सूचीपत्र

केवल मनुष्य ही नहीं, मनुष्येतर अनेक प्राणियों को भी औषधि के साथ थोड़ा बहुत परिचय है। लेकिन मनुष्येतर अनेक प्राणी प्राचीनकाल से ही अपनी औषधि के रूप में मानते आ रहे हैं उपवास या स्वेच्छा अनशन को। तुम लोगों ने देखा होगा कि कुत्ते तथा और भी कई जीव थोड़ी अस्वस्थता का बोध करते ही आहार छोड़ देते हैं। तुम लोगों को भी यदि कभी शारीरिक अस्वस्थता का बोध हो तो खाने की इच्छा नहीं होती। आजकल के कुछ चिकित्सक खाने की इच्छा न रहने पर भी रोगी को जबर्दस्ती खाने का परामर्श देते हैं और दबाव डालते हैं। लेकिन यह प्राकृतिक रीति के विरुद्ध है। अस्वस्थ जीव के लिए खाना न चाहना ही स्वाभाविक है यदि उसकी अस्वस्थता अतिक्षुधा रोग न हो। आहार बन्द रखने पर शरीर के कई यंत्रों को सामयिक विश्राम मिलता है। फलस्वरूप वह उपवास के अन्त में नए उत्साह से क्रियाशील हो उठता है और जीवदेह में स्वस्थता का बोध लौट आता है। इसलिए केवल प्रागैतिहासिक मनुष्यों का ही नहीं,

प्रागैतिहासिक जीवों का भी आदि, अकृत्रिम और प्रधान औषधि है उपवास या स्वेच्छाकृत अनशन।

अनशन और उपवास में मौलिक पार्थक्य है। स्वेच्छा या अनशन का तात्पर्य है शरीर को स्वस्थ रखने के लिए जानबूझकर न खाना। अन् + अशन अनशन। 'अशन' का अर्थ है खाना, इसलिए 'अनशन' का अर्थ है न खाना। रोग-मुक्ति में अनशन अवश्य ही सहायक है। लेकिन लादे गए अनशन में रोगमुक्ति का गुण नहीं है। क्योंकि जबर्दस्ती अनशन के लिए बाध्य करने पर मन के ऊपर जो एक दबा हुआ विक्षोभ रहता है, वह मानसिक संतुलन को नष्ट कर देता है और साथ ही शारीरिक संतुलन को भी नष्ट कर देता है।

अमावस्या और पूर्णिमा तिथियों के आसपास के दिनों में देखा जाता है कि शरीर के जलीय और गैसीय पदार्थ ऊपर की

ओर उठकर छाती में और माथे में अस्वास्थ्यकर अवस्था पैदा करते हैं। इसलिए उस समय पाकस्थली में आहार न पड़ने पर ऊपर के पदार्थ नीचे उतर आते हैं और उससे शारीरिक अस्वास्थ्यकर अवस्था कम हो जाती है।

हम लोग जो खाद्य ग्रहण करते हैं वही परिवर्त्तित होता हुआ सारभाग शुक्र में परिणत होता है। शुक्र मस्तिष्क का भोजन है। और उसी से जीवमन की चित्तधातु उत्पन्न होती है (ectoplasmic stuff) । विधिसम्मत उपवास करने पर उद्धृत शुक्र मन की हीन वृतियों का उद्रेक न कर मन को उन्नततर वृतियों की ओर परिचालित करता है। इसके अलावा उपवास के फलस्वरूप शरीर के अनावश्यक दूषित पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं। साथ ही भुक्त आहार के पाचन के लिए शरीर की जो शक्ति व्यय होती है उसे अन्य कामों में लगाया जा सकता है। इसलिए उपवास

का समय साधना के लिए प्रकृष्ट समय है। [अतः ऐसे समय में साधना करने से शरीर, मन दोनों को लाभ मिलेगा]

उपवास अनशन तो है ही; अधिकन्तु उस समय कायिक अभिप्रकाश का थोड़ा प्रत्याहार करके मानसिक अभिप्रकाश को परमपुरुष के सान्निध्य में क्रमशः ले चलना भी है। 'उप' का अर्थ है निकट और 'वास' अर्थात् रहना। इसलिए उपवास का व्युत्पत्तिगत अर्थ है- ईश्वर के नजदीक रहना।

हाँ, उपवास में स्वेच्छया अनशन का गुण तो है ही यह मानसिक सन्तुलन में भी विशेष रूप से सहायक है अर्थात् उपवास शारीरिक और मानसिक उभय प्रकार की व्याधियों की दवा है। विधिवद्ध रूप से उपवास करने पर मनुष्य की मनः शक्ति बढ़ जाती है। इसमें कोई सन्देह ही नहीं है। यही युग-युगान्तर का परीक्षित सत्य है।

सूर्यालोकः

सूर्यालोक में रोग निरामय के प्रभूत उपादान हैं। सूर्यालोक में विभिन्न वर्णों की रश्मियाँ विभिन्न प्रकार की व्याधियों की औषधियाँ (rays or pencils of rays) प्रतिषेधक और प्रतिरोधक हैं। दिन के विभिन्न समय में सूर्यालोक के विभिन्न प्रकार के गुण हैं। सूर्यपक्व जल के भी विभिन्न प्रकार के गुण हैं। इसलिए सूर्यालोक को भी जीवदेह की विभिन्न व्याधियों की अन्यतम औषधि के रूप में प्राचीनकाल से ही स्वीकार किया जाता है। वेद में भी कहा गया है- 'सूर्या यथा सर्वलोकस्य चक्षुः'। सूर्यालोकरूपी औषधि का सेवन करना चाहिए पीठ के मेरुदण्ड के माध्यम से; वक्षदेश या उदर के माध्यम से नहीं।

वायुः

निर्जन स्थान की निर्मल वायु भी (O3) जीवदेह की उत्तम दवा है। इस वायु रूपी दवा का सेवन मस्तक के पश्चात् भाग से होकर और कपाल के ऊर्ध्वंश के माध्यम से करना चाहिए। मिट्टी वनभूमि के निकटवर्ती नदी तीर पर जहाँ अल्प परिणाम में बालू और अधिक परिमाण में मिट्टी हो, उस स्थान की मृतिका भी जीवदेह की उत्तम औषधि है। इस औषधि का सेवन भू-शैय्या पर निर्वस्त्र होकर करना चाहिए।

जल:

गंधहीन गुनगुना जल-विशेषकर वह यदि सूर्यपक्व हो, जीवदेह के लिए उत्तम औषधि है। इसमें रोग निरामय का गुण बहुत अधिक मात्रा में रहता है। प्राचीनकाल से जानकर अथवा अनजाने मनुष्य और विभिन्न जीवों ने जल को भी अपनी अन्यतम औषधि के रूप में मान लिया है। वेद में भी कहा गया है: "आपश्च विश्वभेषजी।"

भेषज प्रलेप:

किन्तु मनुष्यों का और जीवों का औषधि सन्धान इस उपवास, सूर्यालोक, जल, वायु या मृतिका तक सीमित नहीं रहा। प्राथमिक स्तर पर लोगों ने जिन औषधियों का आविष्कार किया था, वह था विभिन्न पेड़-पौधों और उनके छाल-मूलों का वहिःप्रयोग। उन दिनों के लोग उन चीजों को दाँत से चबाकर रोगाक्रान्त स्थान पर प्रलेप रगड़ते थे। यह प्रलेप लोगों द्वारा आविष्कृत प्रथम औषधि था।

भेषज द्रव्यों का आभ्यंतरिक प्रयोग:

यह प्रलेप जहाँ बाहर काम नहीं करता, तब उसे शरीर के भीतर ले जाने की जरूरत होती। लोग उसे चबाकर अथवा

निगलकर औषधि के रूप में व्यवहार किया करते थे। यही मानव इतिहास में औषधि व्यवहार का द्वितीय चरण था।

वटिका:

ऐसी अनेक औषधियाँ थीं जो विशेष ऋतुओं में ही पायी जाती थीं। बारहों महीने उपलब्ध नहीं होतीं। उन्हें लोग निर्दिष्ट ऋतु में यथारीति संग्रह करके सुखाकर रखते। कहीं उनकी जल की सहायता से वटिका के रूप में रक्षा करते और कहीं उन्हें पानी के साथ वटिका के रूप में सुरक्षित रखते और कहीं साधारण तौर पर सुखाकर रख लेते थे। इस वटिका या tablet या pill के रूप में संरक्षित औषधि मनुष्य के जीवन में औषधि व्यवहार का और भी परवर्ती स्तर था।

मलहम:

जहाँ औषधि के उक्त उपयोग से काम नहीं चलता, चमड़े के ऊपर या स्नायु के ऊपर रगड़ने का प्रयोजन होता, चमड़े के छिद्रों से होकर शरीर के अन्दर प्रविष्ट कराने की जरूरत पड़ती, उस मर्दनीय औषधि का आविष्कार लोगों ने और भी बाद में किया था। यह मसाज या मालिश और भी बाद की आविष्कृत औषधि है।

तरल औषधि:

जहाँ मर्दनीय औषधियों में विषक्रिया होती उनका व्यवहार बाहर करने के अलावा और कोई उपाय नहीं था। किन्तु जिनमें विषक्रिया नहीं होती उन्हें तरल बनाकर लोगों ने जल या अन्य तरल वस्तुओं के साथ तरल औषधि के रूप में व्यवहार करना सीखा।

अवलेहः

जिन मर्दनीय औषधियों को शरीर के अन्दर ग्रहण करने पर थोड़ी मात्रा में होने पर विषक्रिया नहीं होती, किन्तु अधिक मात्रा में ग्रहण करने पर विषक्रिया की संभावना रहती, वे जिससे स्नायुतन्त्र सहायता से उचित तरीके से काम कर सकें। इसलिए लोगों ने उनको चाटकर या लेप करके व्यवहार करना सीखा। इन औषधियों को बहुत देर तक जीभ से चाटकर तब निगलते थे। अल्प परिमाण में होने के कारण इसमें कोई दोष नहीं रहता बल्कि गुण सोलह आना ही प्राप्त होता है। इस प्रकार की औषधियों को 'अवलेह' कहा जाता है।

अनुपानः

लोगों ने ऐसी भी कुछ औषधियों का आविष्कार किया जो विशेष वस्तुओं के सहयोग से विशेष प्रकार के गुणों से सम्पन्न हो जाती थीं। अर्थात् एक ही औषधि 'क' नामक वस्तु के सहयोग से बनी सिरदर्द की 'ख' के साथ उदरामय की औषधि 'ग' नामक वस्तु के सहयोग से बनी श्वास रोग की औषधि। उसके लिए उन 'क' 'ख' और 'ग' नामधेय वस्तुओं का लोगों ने नाम रखा 'अनुपान' अर्थात्' अनुपानभेद से एक ही वस्तु में विभिन्न औषधियों के गुणों को खोज करके औषधि के रूप में लोगों ने व्यवहार करना शुरू कर दिया।

आसव:

लोगों ने अनुभव से पाया कि किसी-किसी रोग में रोगी की प्राणशक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है। वैसी स्थिति में औषधि के साथ कुछ सुरासारीय गुण रहने पर ही वह सफल सिद्ध होती है। तब लोगों ने उन औषधियों को बनाने के समय उन्हें खमीरीकृत

करके उन्हें औषधियों के विभिन्न रूप दिया करते थे। इस प्रकार खामीरी करण द्वारा तैयार की गयी औषधियों को "औषधीय आसव" (आसव का अर्थ है सुरासार या अलकोहल जैसे- द्राक्षासव) कहते हैं।

अरिष्टः

जिन मामलों में लोगों ने देखा कि औषधि में सुरासार के गुण का प्रयोजन है लेकिन सुरासारीय गुण रहने देने पर फल विपरीत होगा, वैसे मामलों में दोनों औषधि को आसव के पर्याय में न रखकर उसमें कुछ गुणागत भिन्नता लाकर उसे व्यवहार करना शुरू किया। इस प्रकार के औषधि का उन्होंने नाम दिया औषधीय 'अरिष्ट'। जैसे- द्राक्षारिष्ट, दशमूलारिष्ट ।

क्वाथः

कुछ औषधीय पेड़-पौधों में पाया गया कि सामग्रिक तौर पर पेड़-पौधों में औषधियों के गुण धारण की जितनी क्षमता होती है, उन्हें पानी में पकाकर लेने पर उस सिद्धजल में उन पेड़ पौधों का जो रस तैयार होता है, उस रस में औषधीय गुण उससे अधिक होता है। इस रस को कहा जाता है क्वाथ-जैसे खदिर का क्वाथ (खैर का रस), अश्वगंधा का क्वाथ और विभिन्न औषधियों, पेड़-पौधों का क्वाथ। इस प्रकार के क्वाथ को लोगों ने औषधि के रूप में व्यवहार करना शुरू कर दिया। विभिन्न औषधीय पेड़-पौधों को एक साथ सिझाकर जो क्वाथ तैयार होता है, वह बंगला में साधारणतः 'पाचन', नाम से जाना जाता है।

खाद्य के माध्यम से:

जो औषधियाँ अत्यधिक तिक्त स्वाद की या बेस्वाद होती हैं (सूजी के मोहनभोग के साथ बेस्वाद औषधियों को मिलाकर मुगल युग में हकीम लोग तैयार किया करते थे सुमधुर 'हलवा'

बंगला में जिसका उच्चाचरण गलती से 'हालुवा' किया जाता है। संभव होने पर उन्हें राँधकर भात या अन्य किसी प्रधान खाद्य के साथ मिलाकर लोगों ने एक औषधि सेवन की नवतर पद्धति का आविष्कार किया। इसी प्रकार औषधीय गुणसम्पन्न निम्बपत्र (नीम के पत्ते) उतसिका (अच्छा), पटल की लता (पलता), गंधिका (गेंदा) प्रभृति औषधियों को लोग प्रधान खाद्य के साथ जैसे बंगाल में भात के साथ खाकर औषधि के गुणों का आहरण करने लगे।

चन्द्रलोक विचार:

सूर्य की किरणें जिस प्रकार स्वयं औषधि हैं; चन्द्रमा की किरणें वैसी औषधि नहीं हैं। बल्कि चाँदनी कभी-कभी मन को अन्य भाव में डुबा देती है। लेकिन चन्द्रकिरणों के तारतम्य के अनुसार अर्थात् विभिन्न पक्षों में विभिन्न तिथिगत भेद से औषधियों के पेड़-पौधों के गुण में परिवर्तन आता है। इसलिए तिथिगत रूप से औषधि खोदकर निकालने, औषधि तैयार करने

और औषधि का सेवन करने की विधि है। दिन के अलग-अलग समय में औषधियों के गुण बदलते हैं और उसे समझकर ही लोगों को उसका व्यवहार करना चाहिए या करने पर अच्छा होता है। ये जो पेड़-पौधे हैं जिनमें तिथिभेद से या ग्रहभेद से गुणगत तारतम्य घटित होता है, इन पेड़-पौधों को अर्थात् भेषज को एक शब्द में 'कुल्य' कहा जाता है। प्राचीन काल के मनुष्य तिथि-भेद से भक्ष्य वस्तु का गुण परिवर्तित होता है, ऐसा मानते थे। किसी तिथि को वार्ताकु, किसी तिथि को ताड़े, किसी तिथि को वृहती किसी तिथि को अलाबू लक्षण के निषेध की घोषणा कर देते थे। तिथि भेद से अर्थात् चन्द्र के अवस्थान भेद से औषधीय गुणों में परिवर्तित होने के कारण चन्द्रमा को 'औषधिपति' कहा जाता है। (श० च० स० [कुछ औषधियाँ रोगानुसार पहले ग्रास के साथ, कुछ मध्य भोजन में, कुछ अन्त में खाने की व्यवस्था आयुर्वेद में है। कैप्सूल का उपयोग भी उचित होगा।] श. प्र. द्वि.)

जान्तव वस्तुओ का व्यवहार:

प्राचीनकाल से लोगों ने केवल उद्भिज्ज (उद्भिज) वस्तुओं का ही व्यवहार किया है, ऐसी बात नहीं है, विभिन्न जन्तु-जात औषधीय गुणसम्पन्न वस्तुएँ भी व्यवहृत हुआ करती थीं। चिकित्सा में विभिन्न पशु-पक्षियों के वैद्यक और हकीमी यकृत, तीतर पक्षी का वसा (चर्बी) आदि। जान्तव वस्तुएँ अच्छी तरह व्यवहृत हुआ करती थी। आयुर्वेद का छागलाद्य घृत, धनेशादि तेल की बातें कौन नहीं जानता !

एलोपैथिक चिकित्सा में विभिन्न जन्तुओं के यकृत अग्न्याशय इत्यादि से औषधि बनती थी। आधुनिक काल में 'इन्सुलिन' के मामले में इस प्रकार का व्यवहार भी है। कई मत्स्य के लिवर का तेल (कडू लिवर ऑयल), सार्क का तेल (सार्क ऑयल) खूब चलता है। केवल खाने के रूप में चलता है ऐसी बात नहीं है, सूचिका-वेध में भी व्यवहृत होता है।

सूचीपत्र

होमियोपैथी में नैजा, सिना, एपिस, प्रभृति औषधियाँ सोलहों आने जान्तव हैं। मनुष्य को बचाने के लिए किसी जीव की हत्या करना बहुत अच्छा काम न होते हुए भी उपाय न रहने पर वैसा किया जा सकता है-इस नीति को सभी जानते हैं। लेकिन जीव हत्या करके औषधि तैयार करने के समय जहाँ तक संभव हो मनुष्य के जात शत्रुओं में से ही चुनना उचित है। जो मनुष्य के जातशत्रु नहीं हैं-जातमित्र हैं, उनकी हत्या न करना ही अच्छा है।

औषधि में धातु - अधातुः

औषधार्थ विभिन्न प्रकार की धातुएँ और अधातुएँ (metals and non-mentals) प्राचीनकाल से ही व्यवहृत होती आयी हैं। विशेषकर सोना, चाँदी, राँगा या टीन पारा (पारद-mercury) इत्यादि का औषधिार्थ प्रयोग प्राचीनकाल से ही है। आयुर्वेद की सुप्रसिद्ध औषधि मकरध्वज तो मर्करिक सल्फाइड

अर्थात् पारा और गंधक के मेल से बनी है। कैल्शियम संजात औषधियों की संख्या होमियोपैथी, एलोपैथी, हकीमी, आयुर्वेद किसी में भी कम नहीं जिन शंख संजात औषधियों के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही प्रयास किए गए, वे औषधियाँ असल में कैल्शियम फॉस्फेट, कैल्शियम कार्बोनेट और कैल्शियम हाइड्रो-ऑक्साइड छोड़कर और कुछ नहीं हैं।

विष चिकित्सा :

"समः समं शमयति" नीति के महत्व को लोगों ने समझा है महाभारत काल से ही, लेकिन उसे वैज्ञानिक स्तर पर सुन्दर तरीके से लेकर आए महात्मा हैनिमैन अपनी होमियोपैथी की रीति के माध्यम से। इस "समः समं शमयति" नीति के महत्व को महाभारत युग में लोगों ने अनुभव किया था। सर्पविषजर्जरित भीम की विष चिकित्सा के माध्यम से। आयुर्वेद चिकित्सा में विशेष करके सर्प-विष, वृश्चिक-विष, मकड़ा विष हड्डा (बरें) विष सम्बन्धी गवेषणा

काफी आगे बढ़ी थी। इसमें केरल के कोचीन राजपरिवार के लोग विशेष अग्रणी थे। हमारे नाना स्वर्गीय डॉ० यू०एम० वसु (एलोपैथ) ने वृश्चिक विष के औषधीय प्रयोग के सम्बन्ध में गवेषणा की थी। किन्तु उनके गवेषणालब्ध परिणाम के नियमानुसार पंजीकृत होने के पहले ही उनकी मृत्यु हो गयी। इस चिकित्सा में एलोपैथी विज्ञान बहुत अधिक आगे बढ़ा है, ऐसा नहीं लगता। लेकिन आगे बढ़ने की असीम संभावनाएँ हैं।

सूचिकावेध :

जिन मामलों में निगलकर या दूसरे के रूप में औषधि को उदसात् करके फल प्राप्ति में असुविधा है अथवा वैसा करने पर भी फल की प्राप्ति नहीं होती अथवा फलप्राप्ति में विलंब हो, उन मामलों में आजकल सूचिका प्रयोग के द्वारा शरीर में औषधि को प्रविष्ट कराने की विधि व्यापक तौर पर प्रवर्त्तित हुई है। सूचिका-

प्रयोग के द्वारा यदि वस्तु को शरीर में प्रविष्ट करा दिया जाए तो उसे सूचिकावेध (सूचिकाभरण) कहते हैं।

प्राचीनकाल में आयुर्वेद में भी सूचिकाभरण की व्यवस्था थोड़ी मात्रा में थी किन्तु उन दिनों यह विद्या उन्नति लाभ नहीं कर सकी। उसका प्रधान कारण उन दिनों लोगों में विभिन्न प्रकार के कुसंस्कारों का प्रभाव था। वे सूचिकाभरण के द्वारा बाहरी वस्तु को शरीर में लेना नहीं चाहते थे। इसलिए वह विद्या भी अनादृत ही रह गयी थी। आजकल दुरारोग्य और दुश्चिकित्स्य व्याधियों में भी या घातक रोगों में भी इस सूचिकाभरण के द्वारा रोगी को जिलाना संभव हो रहा है। और आनन्द की बात यह है कि स्वेच्छा से हो अथवा अनिच्छा से हो, आधुनिक आयुर्वेदाचार्यों ने और होमियोपैथों ने सूचिका-प्रयोग व्यवस्था को मान ही लिया है और स्वयं भी व्यवहार कर रहे हैं।

चूर्ण :

जिन औषधियों को सूखी अवस्था में रखना पड़ता है लेकिन वटिका (tablet) का रूप प्रदान करना थोड़ा असुविधाजनक है, उन्हें चूर्ण अवस्था में संरक्षित किया जाता था। इस बुकनी की अवस्था में रखी औषधि को आयुर्वेद में चूर्ण कहा जाता है-जैसे लवण भास्कर चूर्ण, गुडुची शर्करा चूर्ण, गांभीरीमि चूर्ण आदि।

(श० च० पंचम)

यौगिक चिकित्सा :

चिकित्सा का उद्देश्य है शारीरिक और मानसिक स्वस्थता-विधान। इसलिए इसमें चिकित्सा-शास्त्र विशेष की मर्यादा-रक्षा का प्रश्न बड़ा नहीं है। बड़ी बात है रोगी का कल्याण। वाह्य अथवा आभ्यन्तरिक औषधि प्रयोग के द्वारा विकार ग्रस्त देहयंत्र को जिस प्रकार स्वाभाविक अवस्था में लाया जाता है, ठीक उसी प्रकार

यौगिक आसन-मुद्रादि की सहायता से अधिकतर निरापद और त्रुटिहीन रूप से देहयंत्र की स्वाभाविक कर्मदक्षता को वापस लाना संभव है। हरेक व्याधि की यौगिक चिकित्सा पद्धति है।

(यौगिक चिकित्सा और द्रव्यगुण)

चिकित्सा पद्धति : तुलनात्मक अध्ययन

आयुर्वेद और युनानी चिकित्सा

आयुर्वेद के मतानुसार जब शरीर में वायु अथवा पित्त अथवा कफ की वृद्धि या स्वल्पता आती है तभी देह की साम्यावस्था नष्ट होने से रोग का प्रादुर्भाव होता है। इस साम्यावस्था को पुनः वापस लाने के लिए ही औषधि का प्रयोजन होता है। वायु की स्वल्पता होने पर दवा देकर उसे बढ़ाना पड़ता है। पित्त के सम्बन्ध में भी वही नियम है। आयुर्वेद का यही मत है। एक

ही पर्याययुक्त यूनानी चिकित्सा पद्धति के अनुसार चार धातुओं की परीक्षा की जाती है-वायु, पित्त, कफ और रक्त। इन दोनों में अन्तर यही है कि यूनानी पद्धति में एक अधिक धातु (रक्त) को मान लिया गया है। बाकी तीन धातुएँ उभय पद्धतियों में समानरूप से महत्त्वपूर्ण हैं। उभय पद्धतियों में स्थूल औषधि का प्रयोग हुआ करता है और शल्य चिकित्सा (Surgery) का महत्त्व वहाँ नाममात्र का है। विशुद्ध आयुर्वेदीय पद्धति में शल्य चिकित्सा का कोई स्थान नहीं है। किन्तु भारत के वैद्यकशास्त्र में (जिसे आयुर्वेदीय शास्त्र के अंगीभूत किया गया है) शल्य चिकित्सा का विशेष स्थान था।

आयुर्वेद और होमियोपैथी:

इसके अतिरिक्त विशिष्ट चिकित्सक डॉ० हैनीमैन के द्वारा और एक अन्य प्रकार की चिकित्सा-पद्धति आविष्कृत हुई है-होमिओपैथी।

आयुर्वेद और यूनानी पद्धति के अनुसार रोगमुक्ति के लिए औषधि का प्रयोग नहीं किया जाता। औषधि प्रयोग का उद्देश्य है देह की पूर्वोक्त धातुओं के बीच समता को लौटा लाना। होमिओपैथी पद्धति में भी जिसकी मूल नीति है 'समः समं शमयति' (like cures like) - रोग की चिकित्सा न करके रोग के लक्षणों की चिकित्सा की जाती है। उदरामय (Diarrhoea) मलेरिया रोग चाहे जो भी हो, पहले रोग-लक्षणों की चिकित्सा होगी, रोग की नहीं।

औषधि का प्रयोग बहुत सूक्ष्म रूप से हुआ करता है। कहा जाता है कि सूक्ष्म चीज स्थूल चीज पर प्रत्याघात करती है, अतः स्थूल रोग को ठीक करने के लिए सूक्ष्म औषधि का प्रयोग किया जाता है। औषधि जितनी सूक्ष्म होगी, स्थूल रोग को भगाने की क्षमता उसमें उतनी ही अधिक होगी। एलोपैथिक पद्धति सीधे तौर पर रोग को भगाने का उपाय है। किसी विशेष रोग को हटाने के लिए किसी विशेष दवा का ही व्यवहार हुआ करता है।

सूचीपत्र

आयुर्वेद, वैद्यक और विधि चिकित्सा

तत्कालीन भारतवर्ष में वैद्यक शास्त्र के साथ आयुर्वेद का एक मिश्रण घटित हुआ था। एक विचित्रता यह थी कि होमिओपैथी के साथ विष चिकित्सा की व्यवस्था थी और साथ ही लोग 'समः समं शमयति' विद्या से भी सावधान थे। दृष्टान्तस्वरूप, कौरवों ने भीम पर विष-प्रयोग किया और घोषणा करके जन साधारण को बता दिया कि भीम की मृत्यु हो गयी है। किन्तु आयुर्वेदाचार्यों ने भीम के शरीर में विषमिश्रित इन्जेक्सन लगाकर उसे अच्छा कर दिया। इसी से प्रमाणित होता है कि उस युग में विष-चिकित्सा के सम्बन्ध में लोगों को सम्यक ज्ञान था और 'समः समं शमयति' विद्या अर्थात् होमिओपैथी के सम्बन्ध में प्राथमिक ज्ञान था। महात्मा हैनीमैन होमिओपैथी विज्ञान के उद्भावक नहीं हैं, बल्कि कहा जा सकता है कि उन्होंने चिकित्सा विज्ञान की इस शाखा को समृद्ध और जनप्रिय बना दिया था।

भारतवर्ष में विष-चिकित्सा का प्रचलन हमेशा ही था और सर्वप्रथम महाभारत में ही इस विद्या का उल्लेख देखने को मिलता है। परवर्तीकाल में आर्य लोग विष चिकित्सा को बहुत अच्छी नजर से नहीं देखते थे। बल्कि अनार्यों (भारत के स्थानीय निवासी) के बीच और दक्षिण भारत में, विशेषतः मालावार अंचल में इस विद्या का व्यापक प्रचलन था। इन अंचलों में जनश्रुति यह है कि भगवान श्रीकृष्ण विष चिकित्सा के और भगवान सदाशिव वैद्यक शास्त्र के प्रथम उद्भावक हैं। वस्तुतः भगवान सदाशिव के पहले से ही आर्य लोग आयुर्वेद से परिचित थे। सदाशिव ने ही आयुर्वेद के साथ वैद्यक शास्त्र का समन्वय घटित किया था। महाभारत के युग में विष चिकित्सा का बहुत समादर था। जनसाधारण इस विषय पर चर्चा किया करते थे, विभिन्न प्रकार के विष के प्रयोग की पद्धतियों के सम्बन्ध में निरीक्षण-परीक्षण किया करते थे। जैसे साँप का विष, हड्ड़े का विष, बिच्छू का विष इत्यादि। कालान्तर में

इस विद्या के प्रति उपेक्षा शुरु हो गयी। अंतिम दिनों कोचीन के राजपरिवार में इस विद्या का कुछ संवर्धन हुआ था। वर्तमान में विषचिकित्सा लगभग उपेक्षित ही कही जा सकती है, लेकिन यदि इस विद्या का संवर्धन शुरु हुआ हो तो चिकित्सा जगत में एक नये विज्ञान का संयोग होगा। जैसे अर्कपत्र (अकवन का पत्ता) कब्रिस्तानों में प्रायः ही देखे जाते हैं। आन्तरिक या वाह्य किसी भी उपाय से अर्कपत्र का व्यवहार होने पर आँखें खराब हो जायेंगी। किन्तु महाभारत के युग में ऐसी एक पद्धति आविष्कृत हुई थी कि उस तरह की वस्तु का यदि बहुत सूक्ष्म रूप में व्यवहार किया जाए तो वही वस्तु विभिन्न प्रकार के चक्षुरोगों को दूर कर सकती है। इस प्रकार विष से विष का नाश होता है, इस पद्धति की भी जानकारी लोगों को थी, इसे विषस्य विषमौषधं कहा गया है।

सर्जरी या शल्यचिकित्सा को एलोपैथी का अंश माना जाता है किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि शल्य चिकित्सा असल में

आयुर्वेद शास्त्र (वैद्यक शास्त्र) का अंश है, भगवान सदाशिव के समय से अबतक शल्य विद्या में पर्याप्त उन्नति हुई है। वैद्यकशास्त्र में उल्लेखित है कि छात्रगण किस तरह मृतदेह का निरीक्षण-परीक्षण किया करते थे, मानवदेह के बाहरी ढाँचे, शरीर को किस तरह साफ सुथरा रखना चाहिए, देह में सड़न किस तरह शुरु होती है इत्यादि। वैद्यक शास्त्र में इन सभी का उल्लेख है। इससे प्रमाणित होता है कि उस युग में शल्य चिकित्सा का स्तर काफी उन्नत था।

उस युग में शल्यचिकित्सा के सम्बन्ध में एक बहुत ही चित्ताकर्षक किस्सा प्रचलित है। श्रीकृष्ण के एक फुफेरे भाई का नाम जरासन्ध था। जरासन्ध मगध के राजा थे और उनकी राजधानी राजगीर थी। जन्म के समय जरासन्ध को अस्त्रोपचार के द्वारा मातृगर्भ से निकाला गया था। लोगों ने उस क्षत-विक्षत, कुत्सित नवजात शिशु को श्मशान भूमि में फेंक दिया था। उस युग

में एक प्रख्यात अनार्य महिला डॉक्टर थी जिनका नाम था जरा राक्षसी। इस महिला ने उपर्युक्त शल्य चिकित्सा के द्वारा क्षत-विक्षत शिशु को जीवित कर दिया था। चूँकि जरा राक्षसी ने शिशु के अंग-प्रत्यंगों को सिलाई करके जोड़ दिया था इसलिए उस शिशु का नाम जरासन्ध रखा गया था। इस प्रकार देखा जाता है कि महाभारत के युग में लोग शल्य चिकित्सा के सम्बन्ध में काफी कुशल थे। इस प्रकार की भावना बिल्कुल समीचीन नहीं है कि इस देश में सभी कुछ भारत के बाहर से आया है। मैंने पहले ही कहा है कि भास्कराचार्य ने ही सर्वप्रथम आविष्कार किया था कि पृथ्वी गोल है। कोपरनिकस इस सिद्धान्त के प्रथम आविष्कारक नहीं है। यह पृथ्वी घूमती है इस सिद्धान्त के भी प्रथम आविष्कारक भास्कराचार्य हैं गैलिलियो नहीं और गुरुत्वाकर्षण सूत्र के भी प्रथम प्रवक्ता भास्कराचार्य हैं; न्यूटन नहीं। हम लोग इस विषय में छोटे-छोटे बच्चों को गलत शिक्षा दिया करते हैं।

होमिओपैथिक विज्ञान भी भारतवर्ष में ही सर्वप्रथम आविष्कृत हुआ था। 'चिकित्सा का तो प्राचीन भारत में ही सर्वप्रथम उद्भव हुआ था।

सम्मोहन चिकित्सा :

मान लो, दो व्यक्ति हैं। एक व्यक्ति का मन अन्य की तुलना में अधिक शक्तिशाली है, वैसी स्थिति में अधिक इच्छाशक्ति सम्पन्न व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के कर्म और इच्छाशक्ति को नियंत्रित कर सकता है। अधिकतर इच्छाशक्तिसम्पन्न व्यक्ति मनस्तात्विक अथवा कृत्रिम उपाय से दुर्बल मन के ऊपर प्रभाव विस्तार कर सकता है। शक्तिशाली मन के प्रभाव के कारण नियंत्रित मन रोग के विरुद्ध अपनी समस्त मानस शक्ति को काम में लाता है और अपने को रोगमुक्त करता है। सम्मोहनी शक्ति को काम में लाकर रोग दूर करने की इस पद्धति का आविष्कार किया था फ्रांस के प्रख्यात डॉक्टर मेसमर ने और उन्हीं के नामानुसार इस पद्धति का नामकरण

हुआ 'मेसमेरिज्म्'। किन्तु डॉ० मेसमर से बहुत पहले से ही भारतीय लोग इस पद्धति से परिचित थे। प्राचीन भारत में यह पद्धति राक्षसी विद्या के नाम से प्रचलित थी। 'प्राचीन भारत' कहने का अभिप्राय है उस युग का अनार्य भारतवर्ष, भारत के आदिम अधिवासियों का भारतवर्ष। प्राचीन भारतवर्ष में एक अनार्य महिला डॉक्टर थीं कर्कटी राक्षसी। यह राक्षसी मेस्मेरिक पद्धति के लिए विशेषज्ञ थीं। अवश्य ही इस पद्धति को उनके नाम से परिचित होना उचित है।

इस प्रकार देखते हैं कि महाभारत के युग में प्रचलित थी- शल्यविद्या, आयुर्वेद, वैद्यकशास्त्र, विष-चिकित्सा, होमिओपैथी; इसके अतिरिक्त जनसाधारण राक्षसी विद्या के सम्बन्ध में भी निष्णात थे। इससे यही प्रमाणित होता है कि उस युग में चिकित्सा विद्या पर्याप्त उन्नत स्तर की थी।

अब प्रश्न उठ सकता है उस युग की चिकित्साविद्या यदि इतनी उन्नत थी तो परवर्तीकाल में वे चीजें नष्ट क्यों हुई ? उसके उत्तर में कहूँगा कि परवर्ती युग में अर्थात् बौद्ध युग के प्रथम भाग मे मृतदेह का स्पर्श करना, मृतक के कंकाल की परीक्षा करना उतना हीन कर्म नहीं माना जाता था। किन्तु बुद्ध के बाद लोग उन कर्मों को हेय समझने लगे। मृतदेह का स्पर्श करना नीच काम समझा जाने लगा। इससे विशेषकर शल्यविद्या के मामले में चिकित्सा विज्ञान को बहुत क्षति पहुँची। फलस्वरूप समग्र चिकित्सा जगत में ही एक व्यापक विपर्यय दिखायी दिया। बुद्ध की मृत्यु के छः/सात सौ वर्ष बाद बौद्धों ने फिर से इस चिकित्सा विज्ञान के सम्बन्ध में गंभीरतापूर्वक चर्चा शुरु की और चिकित्सा विद्या की उन्नति विधान की चेष्टा की। किन्तु बुद्ध के बाद इस चिकित्सा विद्या की उन्नति के लिए यथोचित प्रेरणा और उत्साह नहीं मिलने के कारण धीरे-धीरे चिकित्सा विद्या का बेहिसाब अधोपतन हुआ। जो भी हो बुद्धोत्तर युग में ठीक जिस समय चिकित्सा विद्या की उन्नति शुरु हो रही थी, ठीक उसी समय भारत पर विदेशी आक्रमण शुरु हुआ।

फलस्वरूप आयुर्वेद, वैद्यकशास्त्र, विष-चिकित्सा, शल्यविद्या सभी कुछ उपेक्षित हो गया और यूनानी (हकीमी) पद्धति भारतीय समाज की छाती पर जड़ जमाती गयी। हकीमी पद्धति का विशेष संवर्धन इस देश में नहीं हुआ। इसलिए चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में सामग्रिक तौर पर भारतवर्ष में अधोगति दिखायी दी।

मूत्र-चिकित्सा:

स्वमूत्र : व्यक्ति जब मूत्र त्याग करता है तो प्रारम्भ में निर्गत मूत्र को 'शिवाम्बु' और अन्तिम भाग को कहा जाता है' गुह्यानिष्यन्द'। एक श्रेणी के तन्त्र-मन्त्र हैं जिनकी धारणा है कि नियमित रूप से अपना शिवाम्ब पान करने पर व्याधि मुक्त रहा जा सकता है। इस मतवाद पर मुझे सन्देह है क्योंकि शिवाम्ब और गुह्यानिष्यन्द दोनों ही शरीर की वर्जित वस्तुएँ हैं। उनमें विभिन्न प्रकार की त्रुटियुक्त और दोषयुक्त वस्तुएं रहेंगी, यही स्वाभाविक है। इसलिए उस चीज का पान करने पर रोग मुक्त हुआ जा सकता है।

यह विश्वास योग्य नहीं है। किन्तु कोई-कोई ज्ञानी गुणी व्यक्ति इसके विषय में गवेषणा करके देख सकते हैं। मैं इसे पूर्णतया नकार नहीं रहा हूँ।

गोमूत्र : प्राचीन काल में लोग यकृत की दुर्बलता में या यकृत सम्बन्धी रोगों में गोवत्स-मूत्र या दुग्धपोष्य बछड़े का मूत्र अर्थात 'गोरचना' का पान किया करते थे। जैव लक्षण जिस प्रकार पसीने में रहता है, उसी प्रकार मूत्र में भी रहता है। गोरचना पान के फलस्वरूप कई बार बहुत अच्छा फल प्राप्त होता है। किन्तु गोरचना पान करने के पूर्व निश्चित होना उचित है कि बछड़े या उसे दूध पिलाने वाली गाय रोग ग्रस्त न हो। रोगग्रस्त बछड़े का मूत्र पान करने पर परिणाम हित विपरीत हो सकता है।

निदान व्यवस्था - Diagnosis/Prognosis

साधारणत: अंग्रेजी में रोग को Disease कहते हैं। अच्छी अंग्रेजी में ailment कहते हैं। बंगला 'असुख' शब्द का भावार्थ हुआ जिस अवस्था में व्यष्टि सुख में नहीं रहता। ठीक उसी प्रकार अंग्रेजी में अस्वस्थता को कहा जाता है Disease अर्थात् आराम में नहीं रहता।

उपसर्ग का अर्थ लक्षण है। उपसर्ग वह लक्षण है जिस लक्षण के द्वारा और एक सत्ता की अस्तित्व सिद्धि घटित होती है। जैसे इन्फ्लुएंजा एक रोग है। इसमें सिरदर्द, शरीर में दर्द होता है या हड्डियों के जोड़ो में थोड़ा दर्द होता है या ऐंठन होती है। उक्त लक्षणों को देखकर इनफ्लुएंजा का अस्तित्व (आगमन) सिद्ध होता है। तब इन्फ्लुएंजा के लक्षणों को उपसर्ग कहेंगे। इसी प्रकार किसी चीज (रोग) के आगमन के पहले या आगमन के साथ ही जो लक्षण आस्तित्विक सूचना देते हैं उसे उपसर्ग या prognosis ही कहेंगे और व्याधि के आ जाने के बाद उसके परवर्ती लक्षणों

को देखकर जब रोग का निर्णय कहा किया जाता है तब उस निर्णय- कर्म को diagnosis या घटित लक्षण जाता है।

प्राणशक्ति का ह्रास

दीर्घकाल तक रोग भोगकर अथवा वार्धक्य में या अन्य किसी कारण से व्यष्टि की जीवनी शक्ति (vitality) जब कम हो जाती है तब उसके शरीर में एक के बाद एक रोग आते रहते हैं। आज माथे में दर्द तो कल कमर में यंत्रणा, परसों पेट में गड़बड़ी। उसके दूसरे दिन दाँत में कनकनी इसी प्रकार की अवस्था लम्बे समय तक शरीर में चलती रहती है। उपयुक्त चिकित्सा से, विश्राम से, स्नान से, निद्रा से, खाद्य-निर्वाचन से, धूप सेवन से, विशुद्ध हवा से, खनिज गुणसम्पन्न जल से, उपयुक्त सेंक से, मालिश से धीरे-धीरे व्यष्टि की प्राणशक्ति बढ़ती है। प्राणशक्ति के उचित रूप में क्रियाशील हो जाने पर दल के दल रोगों का आना भी कम हो जाता है।

सेवा-सुश्रुषा :

सुश्रुषा का अर्थ सेवा या नर्सिंग नहीं है, सुश्रुषा का अर्थ है सुनने की इच्छा। रोगी की सेवा करने लिए सुनना पड़ता है कि रोगी को क्या कष्ट हो रहा है, क्या करना होगा, क्या करने से रोगी को आरोग्य मिलेगा। यह जो सुनने की इच्छा है, इसका नाम सुश्रुषा है। रोगी के मुँह से उसकी असुविधा की बात जानकर उसे दूर करने का जो प्रयास है वही सेवा है।

अध्याय-2

उदर रोगाधिकार

अजीर्ण-अम्ल बदहजमी-अग्निमांद्य

अजवायन *(Carum Capticum Benth) :*

परिचय: यद्यपि भावारूढ़ार्थ में गंधपत्र, गंधपत्री, गंधपत्रा तीनों ही एक हैं.. तीनों का अर्थ है जिसके पत्तों में गंध हो, किन्तु योगारूढ़ार्थ में वे अलग हैं। मेथी (मधुगंधी या मेथिका) या अजवाइन (यमानी या यमानिका जिससे हिन्दी में अजवाइन) सुगंधी पत्र के लिए प्राचीनकाल से आदृत है। पाकस्थली में यम अर्थात् संयम अर्थात् control लाने के कारण इसे यमानी या यमानिका कहा जाता है। यमानि > याँइ > जवाइन। हिन्दी में 'ज' लगाकर लिखना होगा। बंगला में लिखना होगा 'य' – लगाकर। अनेक लोग कहते हैं कि चूँकि नाम है यमानी या यमानिका, इसलिए यम को दूर रखती है। अजवाइन एक शीतकालीन रबी फसल है। इसके लिए अलग से जमीन निर्दिष्ट करके रखी जा सकती है। इसे आलू के खेत में खाने का काला जीरा (हिन्दी में

मंगरैला) और मेथी, सौंफ व धनिया के साथ भी लगाया जा सकता है।

अजीर्ण, बदहजमी और अन्य अजवाइन उदररोगों में:

मेथी और अजवाइन दोनों की गंध रोगविनाशक हैं। इसीलिए प्राचीनकाल से पंचस्फोटन (पंचफोरन) में मेथी को अंतर्भुक्त किया गया है। अजवाइन के गुण की बात तो हर देश में विहित है।

अजवाइन का अर्क बदहजमी की उन्नत स्तर की दवा है। अच्छा भास्कर लवण तैयार करने के लिए कृष्ण लवण (बीट नमक) और आधी भुनी हुई अजवाइन का व्यवहार अवश्य किया जाता है। काशी के विख्यात चूर्ण-पाचक में भी कृष्ण लवण के साथ अजवाइन का व्यवहार था, शायद आज भी है। यह लवण भास्कर अनेक नई औषधियों के आविष्कृत होने के बाद भी

औषधि के रूप में आज भी प्रचलित भोजन के बाद है। दूसरी ओर उदर व्याधि की औषधि के रूप में प्रचलित ' अमृतधारा' में भी अजवाइन के अर्क का व्यवहार करना पड़ता है। जिन्हें बदहजमी होती है अथवा जिन्हें अम्लोद्गार होता है, खट्टी डकारें आती हैं, वे भोजन के बाद एक चम्मच अजवाइन के साथ एक चुटकी सैंधव लवण चबाकर खाएँ तो अच्छा फल प्राप्त कर सकते हैं। जो लोग पान खाते हैं वे यदि पान के साथ अजवाइन मिलाकर खाएँ तो सुफल प्राप्त करेंगे। बदहजमी की जिन्हें पुरानी बीमारी है, वे एक चम्मच अजवाइन के साथ गरी नारियल के कुछ टुकड़े अथवा हल्का सूखा नारियल (साधारण नारियल, गूदा सुखाया हुआ) मिलाकर खाएँ तो सुफल प्राप्त करेंगे। इस प्रकार अजवाइन में अनेक गुण हैं।

अजवाइन के पत्तों का गुण: कहा जाता है कि अजवाइन में जो गुण होते हैं, अजवाइन के पत्तों में उसके आधे

गुण होते हैं। यही बात सौंफ के पत्तों, मेथी के पत्तों, देशी इलायची के पत्तों के सम्बन्ध में भी कही जाती है। मूली में भी जो गुण होते हैं, पत्तों में उतने गुण न होने पर भी लगभग उसके आधे होते हैं।

(सुबह खाली पेट में मेथी भिगोया पानी या अंकुरित मेथी लेने से मधुमेह के रोगी सुफल प्राप्त करेंगे। यह जल अल्प परिमाण में मूत्र-कृच्छता में भी उपकारी है। मेथी-चूर्ण डायबिटीज रोग में उपयोगी है। मेथी साग का व्यञ्जन या मेथी साग का उपादेय ही नहीं; औषधि भी है।)

गेंदाल पत्ता : (Paederia foetida Linn) :

परिचय : गेंदाल पत्ता का संस्कृत नाम खरगंधा/खरगंधिका/ खरगंधनिया है। तीनों शब्दों का अर्थ गेंदा पत्ता है। खर का अर्थ है... दुर्गंध। जिस पत्ते में इस तरह की गंध हो, वह खरगंधा है। गेंदाल पत्ता का अन्य संस्कृत नाम-

कृष्णपल्लवि/कृष्णपल्लवी/कृष्णपल्लविनी है। (लौकिक संस्कृत में कहा जाता है गंधमादाली)। गेंदा एक लतरीला पौधा है।

उपयोग :

गेंदा में गेंदाल पत्ता पेट की बीमारी या डायरिया (Diarrhoea) की महौषध (चटनी के साथ या तरकारी के पतले झोल के साथ) है। गंध भले ही अच्छी न हो, गुण में अपरिसीम है। पेट के रोगी लोगों, भुक्तभोगी लोगों को पता है दुर्गंधयुक्त इस गेंदाल पत्ते की सौजन्यगत महिमा क्या है ?

कोषवृद्धि, श्लीपद रोग और वातरोग में गेंदाल:

गेंदाल के पत्ते को करछुल में सेंककर रोगग्रस्त स्थान पर मजबूती से बाँध रखने पर कोष्वद्धि (Hydrocele) और गोद रोग

(श्लीपद) उपशमित होते हैं। गेंदा पत्ता भूनकर खाने से वह वात रोग की औषधि के रूप में काम करता है।

कालमेघः *(Andrographis paniculata Nees) :*

कालमेघ एक प्रकार का गुल्मजातीय उद्भिद है। इससे पेट के रोगों और बहुमूत्र रोग की विभिन्न औषधियाँ बनती हैं। पेट और यकृत के रोगी कालमेघ की गोलियाँ बनाकर सुबह खाली पेट खाने पर अच्छा फल प्राप्त करेंगे। इससे पाचन की गड़बड़ी और यकृत रोग दूर होते हैं।

निसिन्दाः *(Vitex negunda Linn/vitex trifolia Linn):*

निसिन्दा एक औषधीय गुणयुक्त गाछ है। राढ़ी बंगला में इसे 'बोनाइ' कहा जाता है। इसमें प्रचुर मात्रा में औषधीय गुण हैं।

स्वाद में बहुत कडुआ होने के कारण गाय-बकरियाँ इसे नहीं खाती। पेट के लिए निसिन्दा बहुत ही उपकारी है। कडुआ स्वाद वाले निसिन्दा के पत्ते कीटनाशक होते हैं। रेशमी और ऊनी वस्त्रादि के बीच निसिन्दा के पत्ते रख देने पर उसमें आसानी से कीड़े नहीं लगते।

चूड़ा का क्वाथ और उदरामय : चूड़ा के क्वाथ का अर्थ है चूड़ा कोभिगोकर या सिझाकर उसे अच्छी तरह मसलकर पतले कपड़े से छानकर निकाला हुआ उसका रस। चूड़ा का क्वाथ उदरामय का खाद्य, पथ्य और औषधि तीनों है। यह गुण उषना चूड़ा की अपेक्षा अरवा चूड़ा (आतप चिपिटक या अरवा चावल का चूड़ा) में अधिक है।

पेठा: (चाल कोहड़ा : Benincasa Cerifera Savi) :

परिचय और प्रजाति: पेठा साधारणतः जमीन पर नहीं होता। घर के छप्पर पर या मचान पर इस लतरीले पौधे को चढ़ा देना पड़ता है। इस कारण पेठा को ग्रामीण बंगाल में अनेक लोग चाल-कोंहड़ा भी कहते हैं। इसकी भी तीन प्रजातियाँ हैं। बरसाती चाल कोंहड़े को अवश्य ही मचान पर या छप्पर पर चढ़ा देना पड़ता है। जाड़े की प्रजाति के चाल कोंहड़े को जमीन पर ही बढ़ने दिया जाता है। लेकिन कोई चाहे तो मचान पर भी चढ़ा दे सकता है। ग्रीष्मकालीन चाल कोहड़ा जमीन पर ही बढ़ता रहता है। (इसे भी) कोई चाहे तो मचान पर चढ़ा दे सकता है। लेकिन बरसाती चाल कोहड़े को मचान पर चढ़ाना ही पड़ेगा अन्यथा कीड़ों के आक्रमण से फल नष्ट हो जायेंगे... पौधा भी नष्ट होगा।

फल का आकार बढ़ने के साथ-साथ इसके बाहरी रंग के ऊपर एक सफेद आवरण पड़ता जाता है। इसलिए बंगाल में किसी-किसी जगह इसे चूना कोंहड़ा भी कहा जाता है। राँची

अंचल में कहा जाता है' राखास कोंहड़ा'। बिहार में कहीं-कहीं कहा जाता है 'भूआ', कहीं कहीं कहा जाता है 'भतुआ' अच्छी हिन्दुस्तानी में कहा जाता है 'पेठा'। पेठा भारत की एक पुरानी चीज है... बाहर से नहीं आया है। प्राचीन बंगाल में जो लोग शाक्त देवी-देवताओं की वैष्णवी रीति से अर्चना किया करते थे, वे लोग बलिदान के लिए पशु-पक्षियों के बदले ईख, केला, सुपारी, चाल कोहड़ा की बलि दिया करते थे। बलिदान का अधिकार केवल पुरुषों को था। इसलिए दीर्घकाल से ईख, केला, सुपारी, चाल कोंहड़ा महिलाएँ काटती नहीं थीं।

उदर रोग, अग्निमांद्य और स्नायु रोग में :

पका हुआ पेठा उदर रोगों के लिए अच्छा है। दीर्घकालीन उदररोग में पेठा अच्छा फल देता है। पेठे की सब्जी या नारियल-पेठा बंगालियों का एक प्रिय भोज्य पदार्थ है। स्नायुकोष और

स्नायुतन्तुओं के रोग में भी कच्चा या पका पेठा औषधि का काम करता है। पेठा में उदर और स्नायु रोगों के औषधीय गुण निहित होने के कारण मध्ययुग में बंगाली महिलाएँ अगहन महीने में नारियल कुरी से कुरई करके पिसी दाल के साथ बरियाँ तैयार किया करती थीं। पेठा अग्निमांद्य (Loss of appetite) की औषधि (रस निकालकर उस रस या तरकारी के साथ) है। पेठा जितनी कच्ची अवस्था में होगा उतना ही वह स्नायुकोष और स्नायुतन्तु के लिए अच्छा है और जितना अधिक पूर्णत्व की ओर बढ़ता जाता है उतना अधिक यकृत और पेट के रोग की अच्छी औषधि है। सूखी अवस्था में भी यह अग्न्याशय की औषधि है।

पेठा के बीजों का तेल और चर्मरोग:- आयुर्वेद में पेठा के बीजों के तेल का औषधीय व्यवहार है। पेठा के बीजों का तेल चर्मरोग की औषधि है।

पेठा का मुरब्बा :- उत्तर भारत के आगरा और पूर्वी भारत के सिउड़ी

(वीरभूम जिला) का पेठा या चाल कोंहड़े का मुरब्बा प्रसिद्ध है। कलकत्ता के आसपास के इलाकों में चाल कोंहड़े के मुरब्बा को कुछ लोग "कोंहड़े की मिठाई" कहते है।

कामरांगा : (Averrhoa Carambola Linn):

परिचय और प्रजाति : कामरांगा का आदि निवास है चीन और दक्षिण पूर्व एशिया। कामरांगा को ओलंदाज लोग इस देश में लाए थे। उन्होंने चूँचड़ा में अपनी कोठी में उस गाछ को लगाया था। वहाँ से कामरांगा फैल गया पूर्वी भारत में और दक्षिणी भारत में लम्बे समय तक भारत की आबोहवा में लालित पालित होने के कारण कामरांगा की एक प्रजाति को भारतीय भी कहा जा सकता है। पृथ्वी पर कामरांगा की कई प्रजातियाँ होते हुए भी मुख्य

प्रजातियाँ दो हैं। एक है मोटे तौर पर मीठी, और एक में थोड़ा खट्टापन रहता ही है। चीन और थाइलैण्ड में देखा है कि वहाँ के कामरांगा का आकार भारतीय कामरांगा की अपेक्षा दो गुणा से भी अधिक होता है।

नोड़ फल, जिसका आदिवास पूर्वी भारत में है, इसके साथ कामरांगा का कुछ मेल है। गुणगत विचार करने पर नोड़ और कामरांगा लगभग एक ही पर्यायभुक्त (समानार्थी) हैं।

पाचन में सहायक कामरांगा : कामरांगा मुँह में लार पैदा करता है और

पाचन में सहायता करता है; कामरांगा से अचार और चटनी दोनों ही बनते हैं। कामरांगा के दोष के सम्बन्ध में लोग कहते हैं,

कामरांगा बुखार को हड्डी में खींच लाता है। अर्थात् बुखार छूट जाने के बाद कम दिनों के भीतर कामरांगा खाने पर हो सकता है कि फिर बुखार हो। लेकिन यह बात सही नहीं भी हो सकती है।

मूली :

परिचय और प्रजातियाँ : तुम लोग मूलक शब्द से परिचित होगे। 'मूलक' का अर्थ है मूल ही जिसका सार - मूलक > मूलअ > मूलो > मूला है।

बौद्धयुग के आरम्भिक दिनों में बंगाल की भिक्षु/भिक्षुणियाँ जब समुद्र पथ से जापान गए थे, वे गए थे तत्कालीन बन्दरगाह ताम्रलिप्त (तमलुक) से। वे वहाँ से इस मूलक जैसी चीज को लाए थे। यह भारत की सब्जी नहीं; जापान की है। लेकिन भारत आए बहुत दिन हुए। जापान में रहते इसकी जितनी प्रजातियाँ थीं, भारत आकर प्रजातियाँ की संख्या बहुत अधिक हो गई। स्वाद भी

अलग-अलग है। प्राचीन संस्कृत में इसे 'मूलशाक' भी कहा जाता है। ग्रीष्मकालीन, वर्षाकालीन, शीतकालीन और बारहमसिया-ये चार प्रकार की मूलियाँ हैं। सफेद, लाल और घी के रंग के मूलक भारत में पाये जाते हैं। यूरोप में, जापान में चमकदार जो सफेद रंग के मूलक हैं वे भारत में खास नहीं पाये जाते। अंडाकार मूली जापान में जितनी अच्छी तरह उगती है, भारत में उतनी अच्छी नहीं उगती।

पाचन क्रिया में सहायक मूली: मूली में एक दोष है, और वह है कि वह दुष्पाच्य है अर्थात् वह देर से पचती है। लेकिन परिमित मात्रा में मूली खाने पर (कच्ची, चबाकर रस निगलकर चर्बित मूली को फेंककर अथवा पकायी गयी तरकारी के रूप में) वह लीवर और पाकस्थली (पेट के रोग) के लिए अच्छी ही है। मूली अन्य खाद्य को पचाती है, मुँह में लार पैदा करके भोजन में

रुचि बढ़ाती है। (Apetiser) पाचन में सहायता करती है। मूली अपने रस से स्वयं पचती है, लेकिन समय कुछ अधिक लेती है।

मूली साग: मूली अधिक खाने पर डकार आती है अर्थात् मूली बादी है-अन्ननली में असुविधा सी लगती है। (कच्ची) मूली खाने पर उसके साथ अन्य कोई वस्तु मिलाकर खानी चाहिए। जैसे- फरुही, चूड़ा, रोटी इत्यादि । लेकिन मूली का साग बादी नहीं है, परित्यज्य भी नहीं है, बल्कि वह वायु-पित्त-कफ में समता लाता है। इसलिए खाद्यमूल्य अधिक न होते हुए भी वह (मूली का साग) मनुष्य का बन्धु है। मूली साग सत्वगुणी, क्षुधावर्द्धक और पेट परिष्कारक है।

मूली का साग तृष्णानाशक है। मरु पथ पर चलने से पहले एक मूली खाकर निकलने से बहुत देर तक प्यास नहीं लगती।

(जॉण्डिस या पीलिया रोग में प्रतिदिन कुछ मात्रा में मूली का रस पीने से रोग भगाने में सहायक है।)

अन्य रोगों में मूली : मूली के बीज का तेल वात रोग की दवा है। भोजन पकाने के काम में भी मूलक तेल (edible oil) का व्यवहार किया जा सकता है।

पर्पटी या पापड़ : मूली के प्रसंग में पापड़ या पर्पटी की बात भी कुछ आ जाती है। पर्पटी या पापड़ का गुण है कि पहले जो भोज्य ग्रहण किया गया है, उन्हें पचाने में वह बेहद सहायता करता है। लेकिन स्वयं पचने में काफी समय लेता है। (पहले ही कहा गया है) मूली का स्वभाव भी बहुत कुछ वैसा ही है।

कच्चू :

प्राचीनकाल में गोल आलू का व्यवहार नहीं था, लोग उसके बदले अधिक-तर व्यवहार करते थे कच्चू, घुइँयाँ, मानककच्चू, कटहल के बीज। इनमें (लगभग) सभी में गोल आलू की अपेक्षा गुण अधिक है।

कच्चू का पुष्टिमूल्य आलू की अपेक्षा कुछ कम होते हुए भी वह लाला-निस्सारक है अर्थात् मुँह में लार पैदा करके परवर्ती भोज्य पदार्थों को पचा देता है। इसलिए बीच-बीच में शुरुआती कौरों में कच्चू खाना अच्छा फलदायी है।

शुक्त :

बंगालियों के घर में प्रथम कौर में अन्यतम व्यंजन के रूप में हम लोग जो शुक्त खाया करते है उसकी भी उद्भूति भिन्न मतानुसार 'शुक्त' या 'शुक्ता' शब्द से है। शुक्त शब्द का अर्थ है अच्छी बात जो कही गयी है। पहले कौर में तीता खाने पर (शुक्त में

तीता का रहना स्वाभाविक है।) मुँह से तीता नहीं निकलता, मीठी (बातें) निकलती है-यह धारणा प्राचीन काल से चली आ रही है। इसलिए लोग तीता देते (शुक्त) थे, उसके मुँह से मधुर वार्तालाप पाने की आशा से।

'शुक्त' शब्द 'शुष्क वस्तु' इत्यर्थे हो सकता है। ताजा पलता (पटल पौधे की लता), करेली न मिलने पर सूखी करेली या सूखी पलता से भी शुक्त पकाया जा सकता है। बंगाल के मत्स्यजीवी लोग दो-तीन महीनों के लिए बंगोपसागर में चले जाते हैं, वे लोग साथ में सूखी मछलियाँ ले जाते हैं। नौ जीवन में उनका प्रमुख खाद्य सूखी मछली और शुक्त है। वे साथ में ले जाते थे सूखी पलता, सूखी करेली जो कि लाला-श्रवण का उत्स है [करेली या पलता के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का शुक्त होता है तेलशुक्ता, इसे भी पहले कौर में खाया जाता है।]

शिव पार्वती से कह रहे हैं :

"शाक नाईं शुक्ता नाईं, व्यञ्जनों यदि नाई,
चाउलओ बाड़न्त, तबे फेन-भात चाई।"

शुक्त खाना स्वास्थ्य विधिसम्मत है। शुक्त खाने से खाद्य को पचाना सहज है। मुँह से पर्याप्त सैलाइवा या पाचक-लार निकलती है।

पुदीना :

पुदीना का अच्छा नाम रोचनी है। मक्षिकाडिम्ब गलित-विकृत होकर स्वाभाविक नियमानुसार इस पत्रशाक की सृष्टि होती है। जिस कारण अनेक लोग इससे विमुख रहते हैं। लेकिन यह साग

सात्विक है। मूल से जन्मता है, अधिक पानी नहीं चाहिए। लीवर के लिए अच्छा है और रुचिवर्धक है।

पुदीना एक औषधीय गुल्म है। पुदीना का रस (कुचलकर रस निकालकर एक चम्मच या आधा चम्मच खाली पेट में या कच्चे पत्ते पीसकर अल्प मात्रा में भात के साथ) पाचन के लिए बहुत ही उपकारी है। पेट के रोग और अन्त्र के रोग की विभिन्न प्रकार की औषधियाँ इससे बनती हैं।

काला जीरा:

काला जीरा का संस्कृत नाम कृष्णजीरकरम्, उत्तर भारत में मंगरैला है। इस रबी फसल की खेती में सबसे सुविधा की बात यह है कि धान के खेत में कबूतर फसल के रूप में इसे छींट दिया जाता है। इसका रंग काला होता है। इसलिए संस्कृत में इसका और एक

नाम है' कृष्णा'। चन्दनी की तरह काला जीरा भी आलू के खेत में सहायक फसल के रूप में उपजाया जाता है।

यह छोटी रबी फसल पाचन क्रिया में सहायक है, रसना को भी उद्दीप्त करता है। हुगली जिले के जानाई ग्राम के पतिराम मयरा ने जब ति-कोनी निमकी बनायी थी (उत्तर भारत में बंगला निमकी कहते हैं) तब वे स्वाद और पाचन पर ध्यान रखकर ही उसमें काला जीरा का व्यवहार किया करते थे। आज भी ति-कोनी निमकी में काला जीरा व्यवहार किया जाता है।

मीठा कोहड़ा; कद्दू :

मीठा कोहड़ा या लाल कोहड़ा बाहर से आया है (भारत की पुरानी चीज नहीं है।) इसलिए इसका पुराणोक्त या संस्कृत कोई नाम नहीं है। अनुमानतः 400 वर्ष पहले इस देश में आया है। इसका अंग्रेजी नाम 'पम्पकिन' है। भारत की, लाल कोंहड़े के लिए

राढ़ की मिट्टी अत्यन्त उपयोगी होने के कारण इसकी खेती बेतहाशा बढ़ती जा रही है। जिस यूरोप से एक दिन लाल कोंहड़ा आया था, उसी यूरोप के खेतिहर लोग अब सेवड़ा फूली की हाट से लाल कोहड़े का बीज खरीदते हैं। विदेश के जलयान पर अर्थात् डिंगी से आया था जिस के कारण राढ़ के किसी-किसी भाग में इसे डिंगी-लाउ या डिंगला या डिंगले कहते हैं। इस कदू (कोंहड़े) को कहीं-कहीं मीठा कोंहड़ा और कहीं सूर्य कोंहड़ा और मेमन सिंह अंचल में कहीं-कहीं विलायती कदू भी कहते हैं।

मीठा कोहड़ा का खाद्यगत मूल्य उतना न रहने पर भी खाद्य के पाचन में और क्षुधा के उद्रेक में सहायता करता हैं। लेकिन मीठे कोंहड़े के बीजों में खाद्यगत मूल्य बहुत अधिक है।

[अत्यधिक परिमाण में अथवा रोज मीठा कोंहड़ा खाने पर और साथ ही यदि पुष्टिकर खाद्य का अभाव हो, तो कुष्ठ रोग

होने की संभावना रहती है। अवश्य ही उसके लिए मीठा कोंहड़ा उत्तरदायी नहीं है उत्तदायी दारिद्रय है। लेकिन मीठा कोंहड़े में कच्ची अवस्था में हरी सब्जी के गुण विद्यमान हैं। मीठा कोंहड़ा के पत्तों का साग या इसकी कोमल लता (इंटी) की तरकारी एक अच्छा व्यंजन है।]

चालता : (Dillenia Indica Linn) :

परिचय और प्रजाति :- जो जीभ को संचालित करे, अधिक खाने की इच्छा जगाए और सामर्थ्य लावे उसी अर्थ में चल निच् + क्त टा चालिता शब्द आता है। चालिता देशज बंगला नहीं है-खाँटी तत्सम है; यही चालिता बोलचाल के रूप में चालते/चालता है।

किसी-किसी के मतानुसार चालता फल दक्षिण पूर्वी एशिया से आया है। किसी-किसी के मत से दक्षिण अमेरिका या

दक्षिण मायाद्वीप से आया है। लगता है अन्तिम वक्तव्य सही नहीं है। चालता के लिए वैदिक शब्द 'कदर' चलता है। इसका तात्पर्य है कि अति प्राचीनकाल से भारत के लोग इससे परिचित हैं। अर्थात् यह पठान युग के अंतिम दिनों भारत आया था-ऐसा जो मंतव्य दिया जाता है, वह सही नहीं है।

अग्निमांद्य और पाचन में चालता का अम्ल:

यह लिलियम इण्डिका वर्गीय फल गुण में रुचिवर्धक है। चालता के विशेष गुण के सम्बन्ध में कहा जाता है कि अतिशय अग्निमांद्य, अक्षुधा और भोजन में अरुचि रहने पर चालता का अम्ल खाने से रुचि लौट आती हैं। मुँह में लार पैदा करके पाचन में सहायता करता है। चालता के सम्बन्ध में लोकोक्ति है।

"राजार बाड़ी पाति हाँस,

खाय खोला फेले साँस ।"

चालता का आवरण अर्थात् छिलका ही खाद्य है, उसके भीतर का अंश परित्यज्य है। खाद्य-रसिक प्राचीन बंगाल में कहा करते थे-

"केठ बले सुख छाँची पाने जर्दा मसाले,

केउ बले सुख चिंगड़ी माछ आर चालतार अम्बले ।"

लीवर और किडनी के स्वास्थ्य लिए चालता :

थोड़ी मात्रा में व्यवहार से लीवर और किडनी के लिए अच्छा है। अधिक मात्रा में व्यवहार से पित्ताधिक्य दिखायी दे सकता है। मस्तिष्क विकृति रोग रहने पर चालता का व्यवहार न करना ही अच्छा है।

तरोई (Luffa acutangula Roxb):

परिचय और प्रजाति :- 'कुलक' शब्द को यदि तुम लोग क्लीव लिंग में व्यवहार करो तो उसका अर्थ बड़े आकार की तरोई होगा। जो तरोई एक साथ घौद के रूप में फलती है और आकार में थोड़ी छोटी होती है, उसका विशेष नाम 'सप्तपुत्र' या 'सप्तपुत्रिका' है। यह' सप्तपुत्रिका' संजात' सतपुतिया' शब्द छोटी तरोई (झींगी) के लिए उत्तर भारत में कहीं-कहीं प्रयोग किया जा होता है। उन जगहों पर बड़ी तरोई को झींगी कहा जाता है। राँची अंचल की तरोई आकार में बहुत बड़ी होती है.... स्वाद भी अच्छा है। तरोई के गाछ की कलियाँ शाम के समय सभी एक ही साथ पट्-पट् की आवाज के साथ खिल जाती हैं। इसलिए जिस व्यक्ति के गुण अचानक विकशित होते हैं उसकी सरल बंगला में झींगी के फूल से तुलना की जाती है।

पाचन और कर्मतत्परता वृद्धि में तरोई: तरोई मुँह में लार पैदा करती है। इसलिए भोजन और पाचन में (तरकारी के रूप में) कुछ सहायता करती है। लेकिन लगातार अति मात्रा में तरोई खाने पर आमाशय रोग होने की संभावना रहती हैं। तरोई शरीर को स्निग्ध रखती है। लेकिन रक्तसंचालन कुछ बढ़ा देती है। जिस कारण इससे व्यक्ति की कर्मतत्परता में वृद्धि होती है।

झींगी-पोस्त ग्रीष्म ऋतु में शरीर को शुष्कता तथा लू से बचाता है, जिस प्रकार उड़द की दाल बचाती है। जानकार लोगों का कहना है कि शायद पोस्त के साथ झींगी के गुण और मीठापन में वृद्धि होती है। इस कथन की सत्यता की पुष्टि के लिए उच्च क्षमताशील जाँच कमीशन का गठन किया जा सकता है। चैत-वैशाख-जेठ जैसे महीनों में कम परिमाण में झींगी-पोस्त स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। पिसा-अदरक डालकर झींगी का झोल (जो

कहीं-कहीं झींगी की कड़वी के नाम से परिचित है।) अरुचिनाशक, अग्नि उद्दीपक और रक्त गतिवर्द्धक के रूप में उपयोगी है।

नेनुआ :

तरोई के प्रसंग में नेनुआ (घियातरोई) की बात भी आ जाती है। नेनुआ का अच्छा नाम है 'जलतुम्बी' (water gourd) । नेनुआ में विशेष गुण नहीं है.... पानी से भरा होता है। (लेकिन कच्ची (कोमल) नेनुआ की जो प्रजाति है उसे बिहार और उत्तर भारत में सब्जी के रूप में खाया जाता है और पके नेनुआ को सुखाकर छिलका हटाकर 'गात्रमार्जनी' के रूप में बहुत लोग व्यवहार करते हैं।

पानीफल और डाब :

पानीफल काफी पुष्टिकर खाद्य है। पानीफल के चूर्ण में गुण गेहूँ के आटे से भी अधिक है। पानीफल के मैदे से उत्तम लपसी बनती है जो सभी उम्र के लोगों के लिए उपयुक्त है। लेकिन पानीफल थोड़ा पेट गरम करता है। इसलिए जिनमें उदरामय की प्रवणता अधिक होती है उनके लिए पानीफल नहीं खाना ही अच्छा है। पानीफल पानी के नीचे रहता है। पानी की कुछ गहराई में उतना नीचे रहने पर भी कुछ अधिक मात्रा में पानीफल खाने पर उससे पेट गरम होता है। तरबूज तरल पानीय है-शीतलता होती है जबकि मात्रा थोड़ी अधिक होने पर ही उससे पेट गरम हो जाता है। डाब रहता है बहुत ऊपर में... मानो सूर्य के थोड़ा नजदीक, लेकिन डाब (डाब का पानी) पेट को ठण्डा रखता है। अनेक खाद्य पदार्थों में जो नहीं है, वह पोटाशियम डाब में है। विधि की कैसी विचित्र लीला है लोग सुनते रहें, देखते रहें (प्रकृति को देखकर) सीखते रहें, दूसरों को सिखाएँ और तदनुसार काम करते जाएँ और काम करने के लिए उद्बुद्ध करें।

क्षुधा वर्द्धक रुचिवर्द्धक-आलस्य और विषाद निवारक

कमला नीबू, वाताबी नीबू, पाती नीबू, गँधराज की नीबू

कमला नीबू : पहाड़ पर कुछ ठण्डी आबोहवा रहने पर और साथ ही लाल मिट्टी के साथ कृष्ण कपास मिट्टी (Black Cotton Soil) का मिश्रण रहने पर और उसमें यदि कैलश्यिम का प्रयोजनानुसार मिश्रण हो तो उस मिट्टी पर उत्तम दर्जे का कमला नीबू हो सकता है या होता भी है। लेकिन इस प्रकार की मिट्टी में जो कमला नीबू होता है वह खट्टा तो नहीं होता लेकिन उसमें मीठेपन की अपेक्षा नीलापन अधिक होता है। (जल+सह जलसह > जलसा > जल्सा, पानी सहित पानी सहित > पानीसइ पानीसा > पान से (बंगला)। इस नीबू के छिलके और कोए के बीच में थोड़ी खाली जगह होती है। इसलिए छिलका छुड़ाना बहुत

आसान होता है। सिलेटी कमला नीबू के कोए के ऊपर उतना पीलापन नहीं होता।

नांरगी-संतरा: असम के कमला नीबू (नारंगी) में काफी मीठापन होता है, सिलेटी नारंगी की ही तरह, आकार में सिलेटी नारंगी की अपेक्षा कुछ बड़ी; लेकिन (छिलके में) तेल का परिमाण थोड़ा कम होता है। नागपुरी नारंगी आकार में बहुत ही छोटी होती है। पश्चिम भारत में इसे कहा जाता है- सन्तरा। इसका छिलका कोए के ऊपर लिपटा रहता है जिससे हटाने में थोड़ी असुविधा होने पर भी हटाया जा सकता है। स्वाद में मीठे इस सन्तरे को या नागपुरी कमला नीबू को कोई-कोई 'खोका कमला' (बंगला) भी कहा करते हैं। नाम अच्छा ही है।

अवश्य ही विश्व के बाजार में स्पेन देश (असली नाम एसपानो है) के वैलेन्सिया (Valencia) के सन्तरे की आज

विश्वव्यापी ख्याति है। .... बड़ा नाम है। पहाड़ी सन्तरा विदेश से नहीं आया है। पहाड़ी सन्तरा देखने में थोड़ा पोला जैसा होता है। कीटों द्वारा सहज ही आक्रान्त हो जाता है। बचपन में कलिम्पोंग आकर जो छोटे किस्म के सन्तरे देखा करता था, आज नजर नहीं आते। सुनते हैं किसी-किसी बागान में थोड़े मोड़े मिलते हैं। लेकिन वह भी सिलिगुड़ी के बाजार से फिसलकर कलकत्ते के बाजार में नहीं उतरते। उत्तर बंगाल की ग्रामीण हाटों में एक समय हाली के दर पर मिलते थे।

सन्तरा का पुराना संस्कृत नाम 'नागरंग' है 'नाग' शब्द का एक अर्थ झरना है; और एक अर्थ वृहदाकार सर्प है; और एक अर्थ जंगली हाथी है। जंगली हाथी कमला नीबू पकने पर उसके चमकीले लाल रंग को देखकर, पेड़ के काँटों की उपेक्षा करके नीबू का सान्निध्य लाभ करने के लिए दौड़ा आता है। इसलिए जो नीबू

जंगली हाथी के मन को रंग देता है वह 'नागरंग' है। इस 'नागरंग' शब्द से उर्दू में 'नारंगी' शब्द आया है।

ऑरेंज वर्ग और लेमन वर्ग के बीच पार्थक्य: नारंगी का छिलका यदि छुड़ाया न जाए तो उसे नारंगी या (Orange) नहीं कहा जाता, उसे (Sweet Lemon) या मौसम्बी शर्वती नीबू कहते हैं। वाताबी नीबू (संस्कृत महालंग या जम्बीर) का छिलका छुड़ाया नहीं जाता, पातीनीबू और कागजी नीबू का भी। इसलिए वे भी ऑरेंज वर्ग में नहीं आते, 'लेमन वर्ग' में आते हैं।

कागजी नीबू : कागजी नीबू हमारे देश का नीबू नहीं है। देशी नीबू होने पर तो पातीनीबू ही नाम होता। थोड़ा लम्बा, मोटे छिलके का सुगंधयुक्त अम्लरसात्मक यह जो नीबू है, यह हमारे देश में अंग्रेज शासनकाल के पहले नहीं था। बंगाल के-विशेषकर हुगली जिले के कुछ मुसलमान देशी पद्धति से कागज तैयार किया

करते थे। इसे लुगदा कागज कहा जाता था। ताड़पत्रों की पोथियों का युग समाप्त होने के बाद बंगला साहित्य की अधिकांश रचनाएँ लुगदा कागज के पन्नों पर ही कैद हैं। उसके बाद अंग्रेज शासनकाल में जब कागज के कारखाने खुले (जहाँ तक याद है यह कोलकाता के निकटस्थ बाली में खुला था), बादामी रंग का कागज तैयार हुआ-लोग कहते बाली का कागज। उसके बाद 24 परगणा जिले के टीटागढ़ में वर्द्धमान के रानीगंज में सफेद कागज आया।

हुगली जिले के जो मुसलमान देशी पद्धति से कागज तैयार किया करते थे उन्हें कागज मुसलमान या कागजी मुसलमान कहा जाता था। जैसे बाँकुड़ा जिले के जो मुसलमान खेती करते रेशम कीटों का पालन किया करते थे उन्हें, तूंती मुसलमान कहा जाता था। अंग्रेजों के द्वारा बाली में कागज का कारखाना खोले जाने के बाद कागजी मुसलमान लोग जीविका रहित हो गए। बंगाल के

सुप्रसिद्ध रेशम बाजार में मन्दी आ जाने के कारण विष्णुपुर में तसर की खेती में मंदी छा गयी। तब ये कागजी मुसलमान, तूंती मुसलमान सागर पार की ओर प्रस्थान करके दक्षिण अमेरिका में चले आए। उन दिनों वहाँ जीविका आसान थी, जीवन अकंटक था। बाद में वे ही मुसलमान लोग कभी कभार अपने पूर्वजों के घर आया करते थे। ये कागजी मुसलमान लोग दक्षिण अमेरिका से लम्बे-सुगंधी प्रजाति के नीबू ले आए जिसका स्थानीय नाम कागजी नीबू पड़ा। इस प्रकार समझ गए न कि जिस प्रकार देशी नीबू है, कागजी नीबू उस प्रकार देशी नीबू नहीं है- यह दक्षिण अमेरिका से आया था।

तुम लोग बहुत अच्छी तरह जानते हो कि 'लेबू' (बंगला) शब्द एक साधारण विभ्रान्ति है। संस्कृत 'निम्बूकम' शब्द से प्राकृत में 'निब्बू' प्राचीन बंगला में 'नेबू', वर्तमान बंगला में भी 'नेबू',

वर्तमान हिन्दी में भी 'नीबू' अंगिका में 'नेमू'। मूल शब्द यदि 'निम्बू' हो तो 'लेबू' शब्द कहाँ से आएगा।

वाताबी नीबू : हम लोग जिसे वाताबी नीबू कहते हैं उसका संस्कृत नाम महालंग है (बड़े आकार का) संस्कृत में अपर नाम है 'जम्बीर' (छोटे आकार का)। वाताबी नीबू Sweet Lemon के पर्यायभुक्त है। इसका अंग्रेजी नाम Pomelo है।

यवद्वीप का अन्यतम प्रसिद्ध शहर बताविया का संस्कृत नाम है बाताबीपुर। यह बताविया से आया था जिस कारण बंगला में इस फल का नाम बीतावी नीबू है। तुम लोगों में से जो लोग आज से 50/60 वर्ष पहले कोलकाता में रहे हो, उन्होंने अवश्य देखा होगा कि कोलकाता के बाजार में बताबिया की चीनी खूब चलती थी। हम लोग बाटा चीनी कहते थे। उन दिनों कोलकाता में यवद्वीप की बाटा चीनी, वताबी नीबू और बरिसाल का बालम

चावल मनपसन्द चीज थी। इन तीनों 'ब' को भूलाया नहीं जा सकता।

तुमने बताबी नीबू को पहचान लिया। (बताबी नीबू का रस लवण के साथ पीलिया या कामला रोग (जॉण्डिस) की दवा है।

पाती नीबू : हमलोग जिसे 'पाती नीबू' कहते हैं वह बंगाल का पारम्परिक नीबू है। लेकिन पाती नीबू शब्द कौर में खाने का नीबू है। इस अर्थ में यह नहीं आया है। पाती का अर्थ है देशी अर्थात् जो विदेश से आया नहीं है। पाती नीबू, पाती हंस प्राचीन बंगाल की चीजें हैं। पाती नीबू गोल आकार का नीबू है..... रस से लबालब, गुण में विश्वप्रसिद्ध पाचन में सहायक और पाती हंस राढ़-बंगाल तो क्या, पूरे बंगाल का एक सुपरिचित पक्षी है। राढ़ के हर गृहस्थ के घर में पाती हंस (बत्तख) के लिए एक छोटा कमरा होता है। पाती हंस बिल्कुल पाती है अर्थात् देशी है।

बड़े आकार के पाती नीबू का छिलका कुछ मोटा होता है। देखने में कागजी नीबू जैसा। लेकिन कागजी से अन्तर यह है कि कागजी की तुलना में इनमें रस कम होता है। (उपवास के दूसरे दिन सुबह उपवास तोड़ने के समय इस छोटे आकार के गोल पाती नीबू का रस प्रयोजनानुसार लवण के साथ दो-तीन गिलास पानी के साथ पीने पर सबसे अच्छा फल प्राप्त होता है।)

गंधराज नीबू : हम लोग जिसे गंधराज नीबू कहते हैं, वह यूरोप के भूमध्यसागरीय इलाके से आया था। यह नीबू राढ़ के रक्तमृत्तिका इलाके में खूब बड़ा और सुगंधयुक्त होता है। इसमें रस थोड़ा कम रहता है। पूर्वी बंगाल की नम जलवायु में भी यह नीबू अच्छा ही उगता है। लेकिन वहाँ इसका स्थायी नाम है कदमी नीबू । दक्षिण यूरोप से आया येरेका नीबू भी भारत में काफी प्रचलित हुआ है। लेकिन पेट के रोगी लोगों के मन को अभी भी वह जीत

नहीं सकता है। वे अभी भी गेंदा के पत्तों के झोल में पातीनीबू के साथ खाना पसन्द करते हैं।

मौसम्बी नीबू : लेमन वर्ग का नीबू यदि मीठा हो तो उसे Sweet Lemon कहेंगे। जैसे मौसम्बी या शरबती नीबू ('मौसम्बी' उर्दू नाम है, बंगला नाम है शरबती नीबू) प्राचीन बंगाल के लोग इसके रस से शरबत तैयार करते थे जिस कारण इसका नाम शरबती नीबू है। इसलिए बंगाल में कहीं-कहीं मौसम्बी का प्रतिशब्द शरबती नीबू है। प्राचीन भारत में जब बर्फ इतनी सहज लक्ष्य नहीं थी तब लोग बालू मिश्रित मिट्टी से तैयार घड़े या सुराही में धोए शीशम गाछ के पत्ते रख दिया करते थे। शरबत बनाते समय शीशम पत्ते डूबोये उसी जल में मिसरी और पाती नीबू के रस के साथ बनाया जाता था। शरबत की तरह ठंडा शाँखालू (बहुत ठंडी चीज है) को इसीलिए राढ़ के लोग शर्बती आलू करते हैं।

[इसके अलावा और एक प्रकार का नीबू है जम्मीरी नीबू (चकोतरा) वताबी नीबू नहीं, वताबी से छोटा-बहुत ही खट्टा। किन्तु इसमें भी गुण हैं। अजीर्ण रोग की दवा कथिकाभस्म बनाने के समय उसे जम्मीरी नीबू के रस के साथ बनाया जाता है।]

गुण तो पाती नीबू में ही सर्वाधिक हैं किन्तु हर तरह के नीबू कुछ न कुछ पेट के लिए अच्छे होते हैं। कमला नीबू और पाती नीबू में सबसे अधिक विटामिन सी रहता है। इसलिए अत्यधिक सर्दी में या आर्त्तव ज्वर (Seasonal fever) में रात को सोने के पहले हल्के गर्म पानी में संतरे का रस या पाती नीबू का रस मिलाकर पीने से आराम मिलता है। संतरा और पाती नीबू के अभाव में अन्य नीबू से भी काम चलेगा। सभी प्रकार के नीबू (Citrus) जाति के होने के कारण जब खाया जाए (पानी के साथ पीने पर भी), जरूर थोड़ा नमक मिलाकर खाना चाहिए। पाती नीबू का छिलका रस निचोड़ लेने के बाद उसे न फेंककर नमक

मिलाकर काँच के बोयाम में रखकर धूप लगानी चाहिए। कुछ दिन धूप लगने के बाद नमक से जारित होकर नीबू के छिलके नरम हो जायेंगे और एक अति सुन्दर नीबू के आचार में बदल जायेंगे। यह अचार हाजमा के लिए बहुत ही सहायक है। इस प्रकार का अचार अन्य नीबू के छिलके से नहीं बनेगा। संतरे के छिलके का अवश्य ही अन्य उपयोग है।

आमाहल्दी, बार्ली, साबू :

जो लोग बंगाल के वृष्टिबहुल इलाके में गए होंगे, उन्होंने अवश्य ही आमाहल्दी के पौधे देखे होंगे। आमाहल्दी वृष्टिबहुल इलाके में उगती है। मोटे तौर पर एक सौ इन्च या ततोधिक वृष्टिबहुल इलाके में आमाहल्दी प्राकृतिक रूप से अपने आप उगती है। उससे भी कम वर्षा में आमाहल्दी को यत्नपूर्वक खेती करके बचाना पड़ता है। पश्चिम बंगाल के जो इलाके बंगलादेश से सटे हुए हैं उन भागों में अपने आप ही आमाहल्दी उगती है, बाकी

भागों में कोई खास नहीं उगती। आमाहल्दी एक प्रकार का कन्द है। लेकिन आज भी लगभग जंगली अवस्था में ही पड़ी हुई है। एक समय खुलना, बाखरगंज जिलों के ग्रामीण अंचल के कुछ किसानों ने जंगली आमाहल्दी को लाकर घर के आसपास रोपकर उत्कर्षित करने की चेष्टा की थी इससे। आकार 'काफी बढ़ा था। लेनिक गुणगत तारतम्य खास नहीं आया। आमाहल्दी के पौधे देखने में हल्दी के पौधे जैसे होते हैं। इस पौधे के मूल को घिसने से उससे जो सफेद रंग की अर्धतरल वस्तु प्राप्त होती है, उसे जमाकर और विशुद्ध बनाकर तैयार होता है आमाहल्दी फुट (शटी फुड़-बंगाल)। पूर्वी बंगाल के गाँवो के लोगों के लिए आमाहल्दी की लपसी एक बहुत ही परिचित भोज्य है। शिशुओं (बेबीफूड) और वृद्धों के लिए आमाहल्दी की जनप्रियता का कारण है कि उसे पचाना बहुत ही सरल है। स्वाद तो इसमें नहीं है लेकिन एक सहजपाच्य स्टार्च के रूप में इसका व्यवहार है और रहेगा। वयस्क लोग जिस प्रकार पानीफल की लपसी खाते हैं, उसीप्रकार आमाहल्दी की लपसी भी खाया करते हैं। लेकिन पानीफल में एक पौष्टिता और स्वाद है

जो आमाहल्दी की लपसी में नहीं हैं। आमाहल्दी की लपसी में अधिक परिणाम में चीनी या खजूर गुड़ डालने पर ही वह सुस्वादु और मुखरोचक बनती है। आमाहल्दी रोगी का पथ्य भी है। (रोगी के लिए ऐसा ही पथ्य है बार्ली और साबू)। याद रहे कि पेट के रोग में (डायरिया इत्यादि) बार्ली और आमाशय रोग में साबू का व्यवहार करना होगा अन्यथा फल उल्टा होगा क्योंकि बार्ली पेट को बाँधती है (Suspension) और साबू वैसा नहीं करता; बल्कि मल के साथ आँव (mucous) को निकलने में सहायता करता है।

पुरवा भात और बार्ली:

पुरवा भात के साथ समपरिणाम जौ का चूर्ण (आजकल जिसे बार्ली कहते हैं) मिलाकर जो खाद्य तैयार किया जाता है वह उदर रोग के उत्कृष्ट पथ्य के रूप में जाना जाता है। पुरवा भात का साधारणतः तात्पर्य है मिट्टी की हाँड़ी में गोइँठे की आँच में यदि

तीन साल से अधिक पुराना चावल पकाया जाए, तब वही भात पुरवा भात के रूप में जाना जाता है। पुरवा भात में पौष्टिकता कुछ कम होते हुए भी रोगी के पथ्य के रूप में बहुत ही अच्छा है।

बेर (Zizyphud mauretiana or jujuba Lamk) :

परिचय और प्रजाति: बेर पृथ्वी पर प्रायः सर्वत्र उगता है। काफी गर्म जलवायु से शुरु करके बहुत ठंडे देशों में भी बेर को उगते देखा जाता है। खूब वृहत् आकार (टेनिस गेंद से भी बड़ा) से लेकर अति क्षुद्र (मटर के आकार) बेर भी हैं। फिर अत्यन्त मीठे, मध्यम मीठे और अत्यन्त खट्टे-सभी स्वाद के बेर होते हैं। हिमालय के तुषाराच्छन्न इलाके में भी बेर के गाछ उगते हैं और बर्फ के हटने के बाद फल देते हैं। लेकिन जहाँ की आबोहवा उष्ण, वर्षा कम और मिट्टी बालू मिश्रित हो, वहाँ बेर का आकार सब से बड़ा हुआ करता है। इसलिए भारत के गुजरात, राजस्थान और उत्तरप्रदेश के आगरा सन्निहित अंचलों में भी उत्तम दर्जे के

वृहदाकार बेर पाये जाते हैं। इलाहाबाद और काशी का बेर भी खराब नहीं है। बंगाल अत्यधिक वर्षा वाला इलाका है। इसलिए बंगाल में बेर अधिक होने पर भी बेर की गुणवत्ता उत्तम किस्म की नहीं होती।

मौटे तौर पर भारतीय (इण्डिका) प्रजाति के बेर चार प्रकार के हुआ करते हैं। (1) वृहत् लम्बे आकार का मीठा बेर, बंगाल में जिसे काशी का बेर या नारियल बेर कहा जाता है। (II) बड़े आकार के गोल-खट्टे बेर, बंगला में जिसे (खट्टा) 'टक' बेर कहा जाता है। (II) छोटे आकार के गोल और काफी खट्टे बेर, बंगला में जिसे देशी बेर कहा जाता है। (IV) जंगली आबोहवा में अपने आप नदी किनारे, जंगल-झाड़ में उगते हैं जिन्हें जंगली बेर या शिया फूल कहते हैं।

खाद्य के रूप में यद्यपि मीठे बेरों को ही लोग अधिक पसन्द करते हैं, लेकिन गुणगत विचार से मीठे बेर की अपेक्षा खट्टे बेरों में गुणवत्ता अधिक है और ताजे बेरों की अपेक्षा सूखे बेरों में गुण अधिक है। बेर के पकने का स्वाभाविक समय वसन्त ऋतु है। उस समय दक्षिण-पूर्व एशिया में अन्य कोई सहजलभ्य फल न रहने के कारण बेर की एक सामयिक उपयोगिता है।

बेर के गुणावगुण: हाजमा शक्ति का सहायक बेर: सूखे/गर्म देश में-डेक्कन

प्लेटो (दक्षिणात्य की मालभूमि), गोण्डवाना और पश्चिम राढ़ में बेर का अम्ल स्वास्थ्य-रक्षा में सहायक है। बेर पाचनशक्ति में सहायक है (ताजे बेर की अपेक्षा सूखे बेर में यह गुण अधिक है); बेर (विशेषकर बेर का आचार) लाला निःसारक है, इसलिए आहार में रुचिवर्द्धक है। अल्पमात्रा में बेर अग्न्याशय का बन्धु है।

अन्य रोगों में बेर: बेर की गुठली के भीतर का गूदा डायबिटिज रोग की दवा है (बेर के पत्तों से लिप्त चेचक रोग की एक प्रकार की दवा बनती है)।

कोषवृद्धि

"मंगलवार को छोटे (जिसमें अभी फल न आते हो) बेर गाछ की जड़ कमर में बाँधकर कोष तक झुलाए रखने पर कोषवृद्धि या हाइड्रोसिल रोग दूर होता है।"

पोस्ता:

परिचय: 'पॉपी' नामक एक प्रकार का छोटे फूलों का पौधा यूरोप से इस देश में आया था। यह शीतकालीन मौसमी फूल है। भारत में अब शौकिया फूल के रूप में बहुत लोग बगानों में

उपजाते हैं। फूलों के रंग विभिन्न प्रकार के होते हैं-लाल, सफेद, पीला, बैगनी। यह निर्दोष या निर्विष वर्गीय है। फूल झड़ जाने के बाद इसके गाछ पर जो ढेंढ़ियाँ आती हैं, वे छोटी और लम्बी होती हैं। उसके शरीर को चीर देने पर जो रस निकलता है वह दोषरहित होता है। बीजकोरक (टेंढी) में जो बीज होते हैं वे काले रंग के होते हैं। इस पॉपी की जो प्रजाति ओपियम पॉपी के नाम से परिचित है वह भारत में विदेश से नहीं आयी है। वह इसी देश का फूल है। साधारण पॉपी और ओपियम पॉपी में अन्तर यह है कि साधारण पॉपी की अपेक्षा इसके पत्ते बड़े होते हैं, मोटे होते हैं, पुष्ट और सतेज होते हैं और कुछ अधिक ही चमकीले हरे होते हैं। साधारणतः इसके फूल कुछ बड़े होते हैं। ब्रिटेन

में देखा है कोई-कोई खेतिहर शौकिया गेहूँ के खेत के भीतर कुछ साधारण पॉपी के बीज भी छींट देते हैं। फूल खिलने पर बहुत सुन्दर दीखता है। उसमें से कोई भी ओपियम पॉपी नहीं होता। भारत में भी बागानों में कोई ओपियम पॉपी नहीं लगाता। कानूनी

तौर पर लगाना निषिद्ध है, क्योंकि ओपियम पॉपी की खेती केन्द्रीय सरकार के आबकारी विभाग के द्वारा नियंत्रित हुआ करती है।

पोस्ता के गुण-अवगुण: पोस्ता सात्विक है? ओपियम पॉपी की ढेढ़ियाँ साधारण पॉपी से बड़ी और पुष्ट होती हैं। इसके आवरण को चीर देने पर इससे रस और गोंद निकलता है, वही है कच्ची अफीम। इस ओपियम पॉपी की ढेंढ़ी में जो बीज होते हैं उसका रंग फीका घी के रंग का होता है, उसे हमलोग पोस्ता कहा करते हैं। कितनी विचित्र बात है। पोस्ते की ढेंढ़ी का गोंद बड़े किस्म का नशा है और अधिक मात्रा में सेवन करने पर बड़े किस्म का जहर है, जबकि भीतर के बीज पोस्ता के दाने हैं जो एक सत्वगुणसम्पन्न वस्तु है, वह शरीर की स्निग्धता बनाये रखने में सहायक है।

तरल भेद-उलटी में और उदरामय की बढ़ती हुई अवस्था में गरम भात के साथ थोड़ी मात्रा में पिसा कच्चा थोड़े नमक के साथ खाने पर तेजी से रोग को हटाने में सहायता करता है। बंगाल के लोग (विशेषतः राढ़ के लोग) पोस्ते का बड़ा तो खाते ही हैं, आलू-पोस्ता, झींगी पोस्ता, बरी-पोस्ता, कुंदरी-पोस्ता, कच्चा पोस्ता पिसा-सभी कुछ आग्रहपूर्वक खाते हैं। कहावत है "अति सर्वत्र वर्जयेत्" । बहुत अधिक पोस्ता खाने पर अपच आमाशय हो सकता है। लेकिन मध्यम मात्रा में खाने पर स्वास्थ्य और सौन्दर्य दोनों की ही वृद्धि में सहायता करता है।

पोस्ता शरीर का पोषण करता है जिसके कारण संस्कृत में इसका एक नाम है पोषित (पोषित > पोषत > पोस्त'ष' मूर्ध्य वर्ण है उसके साथ दन्त्य वर्ण 'स' की संयुक्ति नहीं होती। इसलिए 'पोस्ता' के हिजो में 'ष' के स्थान पर 'स' का आगम हो रहा है।

पोस्ता और राढ़ के बिवासी:

अफीम के पौधे की ढेंढ़ी के दाने (पोस्ता) एक सात्विक खाद्य है। इसमें पौष्टिकता के गुण और उसके साथ ही औषधीय गुण भी हैं। बंगाल के, विशेषतः राढ़ के लोगों का अन्यतम प्रधान खाद्य है- यही पोस्ता ।राढ़ एक दरिद्रभूमि है-कम से कम वर्तमान समाज व्यवस्था में। राढ़ में अफीम की खेती करने नहीं दी जाती। इसलिए राढ़ के निवासी अपने प्रिय खाद्य को खरीदने के लिए लाखों लाख कौन कहे, यहाँ तक कि करोड़ो करोड़ रुपयों का भी व्यय करते हैं बाहर से पोस्ता खरीदने में। [विगत 1928 से 1939 साल की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी (economic depression) के समय में भी मानभूम जिले के चाण्डिल के ग्रामाञ्चल में देखा है कि गरीब मजदूर श्रेणी के लोग भी पाँच पैसे लेकर बनिये की दुकान (लटकने की दुकान) से खरीदा करते थे 1 पैसे का चावल, 1 पैसे का पोस्ता । आज एक पैसे में पोस्ता का एक दाना भी मिलेगा या नहीं सन्देह हैं। पोस्ता अर्थात् अफीम की खेती केन्द्रीय

आबकारी विभाग के नियन्त्रण में हुआ करती है। यह वाञ्छनीय भी है। लेकिन आबकारी विभाग के कड़े नियन्त्रण में रखकर राढ़ के प्रयोजन के अनुसार पोस्ता पाने के लिए जिस परिणाम में अफीम की खेती जरूरी है, उस परिणाम में अफीम उपजाने की अनुमति देना उचित है। अन्यथा पोस्ता खरीदने में गरीब राढ़ के अर्थ के वहिः स्रोत को बन्द नहीं किया जा सकता हाँ, एक बात स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूँ, गरीब राढ़वासी जिसमें अफीम के प्रति आसक्त न हों, इसके लिए इसकी खेती पर कड़ी नजर रखना जरूरी है।

गोलमिर्चः

गोलमिर्च को प्राचीनकाल की कथ्य संस्कृत में कहा जाता था "कटुबीजम्" । गोलमिर्च का आदि निवास दक्षिण पूर्व एशिया है। उष्ण और आर्द्र आबोहवा गोलमिर्च को अतिप्रिय है। हवा में, मिट्टी में, पानी में थोड़ा नमकीन भाव रहने पर तो सोने पे सुहागा।

मोटे तौर पर माना जा सकता है कि नारियल, पान, चई, गोलमिर्च को बहुत कुछ एक ही जैसी आबोहवा चाहिए। इसलिए हमलोग देखते हैं कि कई मामलों में लोग गोल मिर्च की लता को नारियल के पेड़ पर चढ़ा देते हैं। गोलमिर्च भारत तथा दक्षिण पूर्व एशिया की एक अन्यतम फसल है और यथेष्ट गुणयुक्त एक मसाला है। गोलमिर्च एक संरक्षणयोग्य बीज है (सुखाकर बहुत दिनों तक रखा जाता है)। दक्षिण बंगाल, पूर्वी बंगाल और उत्तर बंगाल की आबोहवा नारियल, चई और गोलमिर्च तीनों के लिए उपयोगी है। पूर्वी राढ़ में भी ये उग सकते हैं। लेकिन पश्चिम राढ़ की मीठी मिट्टी, मीठा जल और सूखी आबोहवा इनके लिए उपयोगी नहीं हैं।

भोजन पकाने में गोलमिर्च का व्यवहार भारत में प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है। देश में मिर्च के आने के बाद गोलमिर्च का व्यवहार कुछ कम होने पर भी बहुत अधिक कम नहीं हुआ है। उसका कारण है कि मिर्च का स्वाद और गोलमिर्च

का स्वाद पूर्णतः भिन्नधर्मी है। गुणागत विचार से मिर्च की अपेक्षा गोलमिर्च का महत्व बहुत अधिक है। भारत में साधारणतः काली अथवा कत्थई रंग की गोलमिर्च पायी जाती है। लेकिन दक्षिण पूर्व एशिया में थोड़ी मात्रा में सफेद गोलमिर्च भी उपलब्ध है।

गोलमिर्च पाचन में सहायक है, आलस्य और विषाद वायु रोग में उपकारी है: गोलमिर्च मुँह में लार पैदा करती है. क्षुधा का उद्रेक करती है, पचाने मे सहायता करती है। गोलमिर्च स्नायुतन्तु में सजीवता ले आती है। आलस्य (lethargic nature) और विषाद वायु रोग में (melamnhcholia) गोलमिर्च एक दवा है। [विभिन्न अनुपानों के साथ मिलाकर गोलमिर्च अनेक रोगों को दूर करने में सहायता करती है। जैसे वसन्त रोग में कंटकारी के मूल के साथ; वयोव्रण में दूध की मलाई के साथ; सिउलि रोग में ताड़ के ताजे रस के साथ।

बैगनः

अनेक लोग 'बेगुन' (बंगाल) शब्द का कष्टकल्पित अर्थ लगाते हैं-बेगुण अर्थात् जिसमें गुण न हो। यहाँ बता देना अच्छा है कि बेगुन (बैगन) का नाम गुणहीनता के कारण नहीं पड़ा या वह बिल्कुल ही 'डिसक्वालिफिकेशन' नहीं है। बेगुन एक संस्कृत जात तद्भव शब्द है। संस्कृत 'व्यञ्जन' शब्द से ही बंगला में बेगुन, बाईगन, बाईगुनः, हिन्दी में बैगन शब्द आए हैं। बैगन के पर्यायवाची अन्य संस्कृत शब्द हैं-वार्ताकु, वार्ताकी, इत्यादि बृहती, वृन्ताक प्रभृति पतले-लम्बे बैगन (कुली बैगन) को संस्कृत में वृहत् कहते हैं। बंगाल में प्रचलित 'मुक्तकेशी' बैगन का संस्कृत है 'वार्त्ताकू'। नाम पंजाबी में बैगन को 'वातायु' कहते हैं- आया है संस्कृत वार्ताकू से। सभी बैगन के लिए अच्छी अंग्रेजी है ब्रिजंल' (Brinjal)। सभी बैगन चीन से आए हैं।

बैगन की तरकारी में गुण है। बैगन जीभ में लार पहुँचाकर खाद्य में रुचि लाता है और खाद्य को पचाने में सहायता करता है। बैगन के साथ तिक्त वस्तु (नीम, करेली इत्यादि) मिलाकर एक साथ खाने पर तिक्त वस्तु का दोष नष्ट हो जाता है। बैगन में जो बहुत थोड़ा दोष है वह है कि बैगन 'वातर' (वात पैदा करने वाला) पर्यायभुक्त है और अत्यधिक परिमाण में बैगन खाने पर 'कण्डूयन' (खुजली) व्याधि की संभावना रहती है।

'वृन्ताक' का अर्थ है सफेद बैगन (अमेरिकन अंग्रेजी में 'एगफ्रूट') यह सफेद बैगन तामसिक खाद्य के रूप में विवेचित होता है-इसलिए अभक्ष्य है। कहा गया है-

"कुसुम्ञनालिका शाक-वृन्ताकं पोतकीस्तथा।
भक्षयन पतितऽस्तु स्यादपि वेदान्तयः द्विजः ॥"

अर्थात् चिचिंगा, टाँड़ कलमी, सफेद बैगन और लाल पोई खाने पर सर्वविद्या में पारदर्शी ब्राह्मण का भी पतन होता है। (लेकिन साग अर्थात् पाट साग अभक्ष्य नहीं है।)

नारियलः

नारियल पृथ्वी के विषुवतरेखीय, कर्कटक्रान्तीय और मकरक्रान्तीय इलाकों में उगते हैं। नारियल की प्रजातियाँ अनेक प्रकार की हैं। लेकिन उम्र-सीमा और ऊँचाई के विचार से भारतीय नारियल मुख्यतः दो शाखाओं में विभक्त हैं। कनिष्ठ प्रजाति का नारियल अनुमानतः 6 वर्ष में फल देता है, देता भी है मध्यम परिमाण में; जीता है लगभग 40 वर्ष। गरिष्ठ प्रजाति का नारियल फल देता है अनुमानतः 9 वर्ष की उम्र में जीता है लगभग 75 वर्ष, फल देता है पर्याप्त परिमाण में। आजकल का अधिक फलनशील नारियल तीन वर्ष की उम्र में फल देना शुरु करता है। नारियल के

उत्पादन में पृथ्वी के पाँच देश इण्डोनेशिया, फिलीपिन्स, मलेशिया, श्रीलंका और भारत हैं। भारत के नारियल के गाछ और फल के सभी भाग किसी न किसी काम आते हैं। इसीलिए संस्कृत भाषा में नारियल गाछ का अन्य एक नाम 'कल्पतरु' है। वैदिक भाषा में नारियल का कोई नाम नहीं है। जितने नाम हैं वे सभी लौकिक संस्कृत भाषा में हैं।

नारियल एक पुष्टिकर खाद्य है। नारियल के गूदे से तेल तो बनता ही है, उसके अलावा उसके दूध से गाय के दूध की तरह विभिन्न वस्तुएँ तैयार की जाती हैं। दूध निकाले गए नारियल के गूदे में भी पुष्टिमूल्य होता है और उससे रोटी, बिस्कुट इत्यादि चीजें बनायी जा सकती हैं। ताड़ के कंधे से जिस प्रकार रस प्राप्त होता है, नर और मादा नारियल के कंधे से भी ठीक उसी प्रकार रस प्राप्त होता है। उससे गुड़ भी बनता है। नारियल का भस्म औषधि के रूप में व्यवहृत होता है। सूखा नारियल (हिन्दी में 'गड़ी') अग्निमांद्य

रोग की दवा है। समाज में साधु स्वभाव के, साथ ही कठोर प्रकृति के व्यष्टि की संस्कृत साहित्य में नारियल के स्वभाव के साथ की जाती है। कहा जाता है:

"नारिकेरसमाकाराः दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः।

अन्ये बदरिकाकाराः वहिरेव मनोहराः ॥"

अर्थात् जो लोग वास्तव में खाँटी मनुष्य हैं, सच्चे लोग हैं, वे ठीक नारियल जैसे हैं। ऊपर में रहता है कठोर आवरण और नीरस रेशा किन्तु भीतर रहता है स्वादिष्ट जल और मधुर गूदा और इसके विपरीत स्वभाव के लोग बेर जैसे होते हैं। ऊपर रहता है नर्म छिलका और कोमल गूदा किन्तु भीतर काँटेदार गुठली रहती है।

अजीर्ण रोग और अम्ल रोग में कुच्छ विधिनिषेध और व्यवस्था:

अजीर्ण रोग के कारण अनेक प्राणघातक रोग पैदा हो सकते हैं। इसलिए आहार के विधि-निषेधों को कठोर रूप से मानकर चलना उचित है। पुराने चावल का भात (जैसे पुरवा भात) इस रोग का पथ्य है। घोल अजीर्ण रोग के लिए विशेष हितकारी है। नमक से जारित जमीरी नीबू अजीर्ण रोग में एक अच्छी व्यवस्था है। [शोभाञ्जन या सहजन पत्तों का झोल प्रतिदिन भात के साथ प्रथम ग्रास में खाने पर कुछ ही दिनों में अजीर्ण रोग में अच्छा फल प्राप्त होता है। बेलपत्ता, कालमेघ का पता, सोमराज का पत्ता, अदरक, अजवाईन एक साथ पीसकर उससे छोटी-छोटी गोलियाँ बनाकर उन्हें सुखाकर रख लेना होगा। प्रतिदिन दोपहर और रात के भोजन के बाद एक गोली खानी पड़ती है। अजीर्ण रोग में यह दवा भी काम आती है]।

सूचीपत्र

अम्लरोगी के भूख लगने पर खाद्य ग्रहण न करके पाचक पित्त को कभी भी संचित होने का सुयोग देना उचित नहीं है। क्योंकि वैसे में रक्त में अम्ल का भाग अत्यधिक बढ़कर वातरोग या अम्लशूल पैदा हो सकता है। प्रतिदिन आहार के बाद मुखशुद्धि के रूप में सौंफ के साथ नारियल का चूरा अथवा कोई एक ही औषधि दिन में तीन/चार बार खाने पर अम्लरोग में बहुत अच्छा फल प्राप्त होता है।

अध्याय-3

शिरोरोगाधिकार

सूचीपत्र

गुरुच-गुलञ्चः (Tirospora ordifolia Miers):

परिचयः जिस आयुर्वेदिक दवा का नाम गुरुच है वह भी मोथा या कन्द की सहायता से उपजाया जाता है। इसीलिए उसे गुलंचकन्द या गुरुचकंद या गुड़चिकन्द कहा जाता है। कथ्य बंगला में गुड़ाचिकन्द शुद्ध शब्द का व्यवहार कम है, गुलंच शब्द व्यवहार अधिक है। हिन्दी में गुडुचि या गुरुचि दोनों ही शब्द चलते हैं।

गुरुच-शर्करा बनाने की पद्धति: गुलंच की लता की गाँठों [डालों] को काट काटकर गर्म पानी में फुलाकर उसके दूसरे दिन उन गाँठों को उसी पानी में मसल लेने पर उस पानी का रंग सफेद होता है। तब उन गाँठों को फेंककर सफेद पानी को निथरने दिया जाता है। गाद का भाग जम जाने पर ऊपर के पानी को धीरे-

धीरे फेंक दिया जाता है। वह सफेद गाद जम जाने पर जो बनता है उसे गुरुच शर्करा (Sugar of guruci) कहा जाता है।

स्नायुतन्तु, स्नायुकोष और स्मरण शक्ति वृद्धि में गुरुच शर्करा का उपयोग होता है। यह गुरुच शर्करा आयुर्वेद की विभिन्न रोगों की औषधि है। स्नायुरोग की अच्छी औषधि इससे तैयार होती है। जिन छात्रों के स्नायुतन्तु और स्नायुकोष दुर्बल होते हैं, परीक्षा के समय माथा चकराता हो, रात जागकर पढ़ने पर बीमार पड़ जाते हैं अथवा जिनकी स्मरण शक्ति परीक्षा के समय अचानक कम हो जाती हो, यह गुरुचशर्करा विभिन्न अनुपानों के साथ उनके उपकार के काम आती है।

अन्य रोगों में गुरुचि: गुरुचि का क्वाथ पान करने के बाद वह क्वाथ पच जाने पर घी के साथ अन्न ग्रहण करने पर कुष्ठ रोग में सुफल प्राप्त होता है।

गुरुच का क्वाथ मधु के साथ पान करने पर सभी प्रकार के मेह रोग (प्रमेह या गनोरिया-जननयंत्र की व्याधि या यौनरोग) दूर हो जाते हैं।

घृतकुमारी (Aloe Vera Linn)

परिचयः घृतकुमारी (Aloe Vera Linn) को अंग्रेजी में कहते हैं Aloe, हिन्दी में 'घीकुआर, अरबी में मुसब्बर'। घृतकुमारी कैक्टस वर्गीय गाछ है। पत्तों की आकृति ठोस, अनारस के पत्तों की तरह, पत्तों के भीतर जो रस रहता है, विशेषकर वही औषधार्थ व्यवहार्य है।

स्नायुरोग और शिरोरोग में घृत कुमारीः घृतकुमारी स्नायुरोग और शिरोरोग की दवा है। मिसरी के साथ घृतकुमारी

(रस या गूदा) उन्माद की दवा के रूप में व्यवहार किया जाता है। घृतकुमारी का रस बकरी के चमड़े या ऊँट के चमड़े पर रखकर सुखाकर जो सूखा मुसब्बर तैयार होता है उसे हकीमी चिकित्सक लोग कई बीमारियों में व्यवहार किया करते हैं। घृतकुमारी के रस या मुसब्बर से एक प्रकार का रसांजन तैयार किया जाता था जो औषधार्थ- पित्तोन्माद रोग में और वायुरोग में (blood pressure) व्यवहार किया जाता था। इसके परिणामस्वरूप घृतकुमारी का एक नाम ही संस्कृत में रसांजन या कपोतक हो गया। [पचास वर्ष के बाद स्मृतिभ्रंश रोग से घृतकुमारी का गूदा चीनी के साथ सुबह खाली पेट सेव्य है।]

भूमि कुष्माण्ड (कोष्ट्री: Ipornoea Paniculata R.Br.)

परिचय और प्रजाति: तुमलोगों ने भूमि कुष्माण्ड देखा है? इस लतरीला प्रजाति का गाछ वृष्टिबहुल जगहों पर कुछ अधिक उगता है। यह अपने आप उगता है। यह देखने में ओल

जैसी एक वस्तु है। कभी-कभी वह ओल की अपेक्षा अधिक बड़े आकार का होता है। इस कन्द को संस्कृत में या अच्छी बंगला में भूमि कुष्माण्ड, कथ्य बंगला में 'भूई कुमड़ो" कहते हैं। भूमि कुष्माण्ड विभिन्न वर्णों के होते हैं। लेकिन सफेद और काली प्रजातियाँ ही अधिक पायी जाती हैं। आयुर्वेद में इस कन्द की कदर काफी है।

स्नायविक व्याधि और शुक्रगत व्याधि में भूमि

कुष्माण्डः यह वस्तु बहुत रुक्ष है। काटने के समय नाक मुँह में जलन होती है। इस भूमि कुष्माण्ड से स्नायुगत, शुक्रगत और स्नायुकोषगत अनेक व्याधियों की औषधि तैयार होती है।

भूमि कुष्माण्ड को टुकड़े-टुकड़े काटकर छाया में सूखने दो। दूसरे दिन पहले के टुकड़ों में और भूमिकुष्माण्ड का रस डालकर फिर सूखने दो। इसी प्रकार सात दिन सुखाकर बाद में

शुष्क भूमिकुष्माण्ड को इमामदस्ते में अच्छी तरह चूरकर उसे सुबह खाली पेट में खाने पर स्नायविक व्याधि में अच्छा फल देता है। यह स्नायुतंतु और स्नायुकोष उभय रोगों की दवा है।

भूमि कुष्माण्ड से स्मरण शक्ति का अभाव, तेजस्विता और पौरुष का अभाव, विभिन्न प्रकार की पुरुष व्याधियों की भी बहुत अच्छी दवा तैयार होती है।

"धातुदौर्बल्य, यौन अक्षमता और क्लीवता व्याधियों के लिए भी भूमिकुष्माण्ड- चूर्ण एक सुन्दर औषधि है। धातुदौर्बल्य, यौन अक्षमता और क्लीवता जैसी व्याधियों में वह चूर्ण चार आना (लगभग एक चाय चम्मच) मात्रा में लेकर उसके साथ एक तोला (लगभग 12 ग्राम) घी और आधा छटाँक (लगभग 28 ग्राम) दूध मिलाकर रोज सुबह पान करना होगा। साधारणतः 2/3 सप्ताह के अन्दर रोग अच्छा हो जाता है।"

सूचीपत्र

यह मनुष्य का खाद्य है लेकिन इससे विभिन्न प्रकार की औषधियाँ भी तैयार की जाती हैं। स्नायु दौर्बल्य, हाथ-पैर थर-थर काँपना, वार्धक्यजनित दुर्बलता, स्मृतिशक्ति ह्रास और शुक्रघटित व्याधि में भूमिकुष्माण्ड महौषध है [व्यवहार-विधि वही है]।

"रक्तचाप और हृदयरोग में भूमिकुष्माण्ड चूर्ण एक आना (चौथाई चम्मच) थोड़े मधु के साथ दोनों बेला सेव्य है।" (एक छटाँक का अर्थ है लगभग 55 ग्राम, एक चाय चमच का अर्थ लगभग पांच ग्राम, एक आना का अर्थ है 0.8 ग्राम।)

कुमुदः

परिचय और प्रजातियाँ: 'कुमुद' एक इण्डिका वर्गीय फूल है, अर्थात् भारत में ही इसका आदि वासस्थान है। भारत के

जितना ही पूरब की ओर जाया जाए कमल-कुमुद-कल्हार की संख्या उतनी बढ़ जाएगी। कुमुद का बंगला नाम सालुक है। बंगाल में कहीं-कहीं इसे सापला भी कहा जाता है। उत्तर भारत में 'कुमुदिनी' शब्द अधिक चलता है, यद्यपि व्याकरण नियम से 'कुमुद' के अर्थ में कुमुदिनी शब्द गलत है। संस्कृत में 'कुमुदिनी' का अर्थ है जहाँ अनेक 'कुमुद' खिले हुए हों अथवा जिस पुष्करिणी में अनेक 'कुमुद' खिले हुए हों।

'कुमुद' एक संकट वृक्ष का फूल है। मध्यम आकार और बड़े आकार-दो प्रकार के ही कुमुद भारत में पाये जाते हैं। दक्षिण पूर्व एशिया और उत्तर पूर्व एशिया में तुलनात्मक विचार से थोड़ी छोटी प्रजाति के कुमुद भी देखे जाते हैं। साधारणतः भारतीय प्रजाति के कुमुद लाल-सफेद गुलाबी और सफेद - गुलाबी मिले रंग के होते हैं। आजकल नीले रंग के कुमुद भी कुछ-कुछ देखे जाते हैं। वहिर्भारत के किसी - किसी भाग में पीले कुमुद पर्याप्त संख्या में

देखे जाते हैं। कुमुद को वर्षा पसंद है; लेकिन नमकीन जल नापसंद है।

स्नायुव्याधि और स्मरणशक्ति वृद्धि में कुमुद के केसर का उपयोगः कुमुद के केसर को 'कौमुद' कहा जाता है। कुमुद के केसर को मधु के साथ मिलाकर खाना स्नायुकोष और स्नायुतन्तु दोनों की ही महौषध है। जो बच्चे मन्दबुद्धि के (dull of intellect) अथवा जिनकी स्मरणशक्ति कमजोर होती है उनके लिए यह एक उत्तम दर्जे की औषधि है। सुबह खाली पेट में लेहन करके खाना पड़ता है। परीक्षा के समय अधिक पढ़ने-लिखने के फलस्वरूप छात्रों का यदि कभी माथा चकराए तो यह औषधि उत्तम फल देती है।

कुमुद और कल्हार के बीजों का व्यवहारः कुमुद के पुष्पबीज का बालू वाले भड़भँजे पर भूनकर लावा तैयार होता है।

उस लावा से लड्डू बनते हैं, देखने में बहुत कुछ रामदाना (एक प्रकार का खाद्य) के लावा जैसा होता है। [यह सहजपाच्य खाद्य है।] कुमुद या सालुक की जो थोड़ी विवर्तित छोटी प्रजाति है, नालों, बाँधों, दलदलों, यहाँ तक कि पश्चिम राढ़ में कहीं-कहीं कंदरों में भी ('कंदर' से आया है) उपलब्ध होते हैं। कल्हार के बीजों से जो लड्डू बनते हैं उन्हें भेंट या ढेंप भूनकर जो लावा तैयार होता है उस लावे में चीनी या गुड़ के रस की चासनी से ये लड्डू बनते हैं।

भेंट या ढेंप में पुष्टिमूल्य विशेष न होते हुए भी यह काफी सहज पाच्य है। इसलिए कल्हार का लड्डू प्राचीनकाल से रोगी के पथ्य के रूप में व्यवहृत होता आया है। पेट के रोगी शिशुओं के लिए भी यह एक उत्तम और मुखरोचक खाद्य है। इसमें पुष्टिमूल्य कम होने के कारण ही राढ़ में कहावत है-"सुखनो आदर ढेंपेर खई, एमना आदर कारे कइ।"

पक्षाघात रोग और खेसारी (त्रिपुटी):

पक्षाघात रोग: मनुष्य के सुषुम्ना आधार की दाहिनी ओर है दाहिना पैर, दाहिना हाथ, जिसकी सहायता से वह मिट्टी काटता है [जमीन पर पैर रखता है], हवा काटता है, जाल को भी काटता है [स्नायुतन्तु-जाल को काम में लाता है)। उसी प्रकार सुषुम्ना आधार की बार्थी ओर है बायाँ पैर, बायाँ हाथ। उसकी सहायता से वह मिट्टी काटता है, हवा काटता है, जाल को भी काटता है। इसीलिए मानवदेह की दाहिनी ओर तथा बार्थी ओर दोनों ओर को दाहिना पक्ष और बायाँ पक्ष कहते हैं।

मनुष्य के देहरूपी यंत्र का आपात् नियंता उसका मस्तिष्क है। दक्षिण मस्तिष्कस्थ स्नायुपुंज देह के वाम भाग या वाम पक्ष को नियंत्रित करता है और वाम मस्तिष्कस्थ स्नायुपुंज देह के दक्षिण

भाग या दक्षिण पक्ष को नियंत्रित करता है। किसी को यदि किसी कारण से (रक्त के चाप अथवा अन्य किसी कारण) स्नायुगत रोग हो और उसके फलस्वरूप वह दाहिना या बायाँ किसी एक पक्ष अथवा दोनों पक्षों को उचित ढंग से परिचालित करने में अक्षम हो, संस्कृत में उसे पक्षाघात या पक्षबद्ध व्याधि कहा जाता है। पक्षाघात को अंग्रेजी में Paralysis, उर्दू में 'लकवा' कहते हैं।

कारण: जानकार चिकित्सकों और वैद्यों का मत है कि अशोधित त्रिपुटी (खेसारी), सड़ा हुआ गोमांस या भैंस का मांस अथवा वृहदाकार पशु का मांस, आर्सेनिक स्पर्शयुक्त मदिरा (या जल), पोस्ता के साथ सड़ी हुई मछली और मधु के साथ मांस (विरुद्ध) भोजन कुछ दिन नियमित रूप से भक्षण करने पर अनिवार्य रूप से पक्षाघात रोग होता है। जो लोग अतिलोभी हैं या औदरिक है अथवा जो लोग अत्यधिक आमिषभक्त हैं असंयमी हैं अर्थात् काम-क्रोध रिपुओं की अति सेवा में (निमज्जित) हैं, उनका

रक्त अम्लविष से जर्जरित होकर स्नायुतन्तुओं के छिन्न-विच्छिन्न हो जाने से पक्षाघात रोग की सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त रक्त के चाप से अथवा किसी चोट से मस्तिष्क की संज्ञानाड़ी (afferent nerve efferent nerve) के त्रुटियुक्त हो जाने पर पक्षाघात रोग होता है। रक्तचाप से पक्षाघात का निकट सम्बन्ध है।

खेसारी को पक्षाघात दोषमुक्त करना: वर्तमान भारत में कृषि विभाग ने पक्षाघात दोषमुक्त त्रिपुटी का आविष्कार किया है। लेकिन वह जनप्रिय नहीं हुआ। याद रखना चाहिए कि पक्षाघात दोषयुक्त होते हुए भी त्रिपुटी अर्थात् खेसारी एक पुष्टिकारक दाल है। इसमें फूड वैल्यू या खाद्य गुण पर्याप्त है। (इसलिए) यदि कोई खेसारी खाना चाहे तो उचित है कि सुबह फुलायी दाल को अच्छी तरह मसलकर उस पानी को फेंक दे। उसके बाद खेसारी की दाल खाने पर पक्षाघात की संभावना कम हो जाती है। इस त्रिपुटी शब्द

से ही असम में, वर्द्धमान में और राढ़ की कई अन्य जगहों पर तेओड़ा कहा जाता है-त्रिपुटी > तिउड़ी > तिउड़ा > तेओड़ा।

पक्षाघात दूर करने की अन्य व्यवस्थाएँ: क्षार जातीय पदार्थों का ग्रहण और स-अम्बु उपवास करने के अतिरिक्त रोगी निर्दिष्ट समय पर आतप स्नान करेगा और पक्षबद्ध प्राणायाम का अभ्यास करेगा।

लौकी-अलाबू (Lagenarita Vulgaris Seringe):

परिचय और प्रजाति: अलाबू का अर्थ है लौकी (Bottle Gourd) बहुत लोग 'लाउ' (बंगला) में 'नाउ' उच्चारित करते है। जैसे गलत उच्चारण किया जाता है-नीबू को 'लेबू' (बंगला)] यह उच्चारण ठीक नहीं है क्योंकि अलाबू में तो 'न' नहीं है। 'कदू' शब्द आया है संस्कृत के कद्रु या कन्दुकी शब्द से (दोनों ही का अर्थ है जो गोलाकार गेंद जैसा हो)। इसलिए कदू का अर्थ

है गोल लौकी और लौकी का अर्थ है किसी भी प्रकार की लौकी। इस गोल लौकी को ही मैथिली में कहते हैं 'सजीमन'। लौकी को भोजपुरी और उत्तरप्रदेश के पूर्वांश में लौकी या लौका कहा जाता है। हिन्दी/उर्दू में कहा जाता है 'घिया' (संस्कृत 'घृताक' शब्द से उर्दू / हिन्दी में यह 'घिया' शब्द आया है) मराठी और गुजराती में कददू को कहा जाता है 'दूधी' (संस्कृत 'दुग्धिका' से आया है। लेकिन असल में दुग्धका का अर्थ है लौकी का पायस)।

लौकी साधारणतः तीन प्रजातियों में विभक्त है- (1) वैशाखी लौकी आकार में लम्बी और टाँड़ में होती है; (2) बरसाती लौकी जो मचान पर होती है; (3) माघी लौकी-जो जाड़े में टाँड़ में होती है। लौकी साधारणतः चार किस्म की होती है- लम्बी लौकी, लोटा लौकी (देखने में लोटे की तरह जिसके आवरण से कमण्डलु बनता है), गोल लौकी (जिसके आवरण से वाद्यतंत्र बनते हैं), गदा लौकी (जो देखने में गदा या मुद्गर जैसी

होती है)। गुणगत विचार से लोटा लौकी सर्वश्रेष्ठ है। लौकी की और एक प्रजाति है जो तीते स्वाद की होती है।

लौकी के औषधीय गुण: लौकी एक निर्दोष सब्जी है। स्नायुतन्तु (Nerve Fibres) स्नायु कोष (Nerve Cells), लिवर और किडनी के लिए यह शुभ फलदायक है। स्मृति शील वृद्धि में भी लौकी सहायता करती है। [अर्श, यौन अक्षमता और क्लीवता। सुत्पिस्खलन रोगों में लौकी की तरकारी पथ्य और औषधि है]। लौकी थोड़ी मात्रा में चर्मरोग का भी प्रतिरोध करती है।

लौकी की खोली (लौकी) का छिलका-कच्ची अवस्था में मुँह में लार पैदा करके पाचन में सहायता करती है। लौकी का छिलका यकृत के लिए बहुत ही अच्छा है। लौकी के बीज का तेल भी चर्मरोग की औषधि के रूप में व्यवहृत होता है।

तीता स्वादयुक्त लौकी खाद्य के रूप में व्यवहृत नहीं होती, औषधि के रूप में व्यवहृत होती हैं। इसके बीज का तेल माथे की खुश्की रोग की उत्तम दवा है। लौकी की खोली वाइस (vice) के रूप में एकतारा में व्यवहृत होती है। लौकी के पायस के अतिरिक्त दही के साथ लौकी का 'रायता' एक उत्तम भोज्य है।

कलम्बी (कलमी) Impoea reptans Linn) :

'क' का अर्थ जल। 'क' में अथवा जल में लम्बा होकर जो सोया रहता है वह है कलम्बी या कलमी। टाँड़ की कलमी मानसिक उन्नति के लिए क्षतिकारक है क्योंकि वह तामसिक है। जल की कलमी को कलाम्बी कहा जाएगा-टाँड की कलमी को नहीं कहा जाता है नालिता साग (नालिका साग नहीं; नालिता साग या नालते साग)। जल की कलमी सात्विक है। यह एक ही साथ पेट को ठंडा रखता है, स्नायु को स्वस्थ रखता है,

दुश्चिन्ताग्रस्त लोगों के मानसिक भारसाम्य की रक्षा में सहायता करता है।

[साधारणतः थोड़े तेल में पकाकर बीच-बीच में खाने पर अच्छा फल प्राप्त होता है]। लेकिन टाँड़ कलमी या नालिता साग सर्वथा परित्याज्य हैं।

"कुसुम्भनालिका शाक-वृन्ताक पोतकीस्तथा
भक्षयन् पतितोऽस्तु स्यादपि वेदान्तगः द्विजः ॥"

बरसात में लोग कलमी साग नहीं खाते। बरसात में कलमी साग के पत्तों में और डंठलों में एक प्रकार के कीट पैदा होते हैं। लोगों को युक्ति द्वारा समझाने पर भी कई बार लोग मानना-समझना नहीं चाहते। इसलिए डराने के लिए कहा जाता है कि

सीधा रथ के दिन से उल्टा रथ के दिन तक जगन्नाथ को बुखार रहता है। वे कलमी के पत्तों पर सोये रहते हैं। इसलिए उस समय कलमी साग नहीं खाना चाहिए- खाने से पाप होता है।

अन्यान्य रोगों में कलमी: कलमी साग, लौकी, चाल कोंहड़ा सुप्ति स्खलन और यौन अक्षमता तथा क्लीवता रोग में अत्यन्त सुपथ्य हैं। कलमी साग का अग्रभाग कुचलकर रोज सुबह एक छटाँक मात्रा में पान करने पर सिफिलिस या उपदंश रोग के बीज नष्ट होते हैं।

शुशुनी साग (Blepharis Edulis Pers):

शुशुनी या शिखि भी एक जलज साग है। पुष्करिणी की अगल-बगल में थोड़े पानी से उसकी खेती करनी चाहिए। प्राचीन बंगला में शुशुनी शब्द का अर्थ था जो सोया हुआ है। इस साग को खाने से अच्छी नींद आती है। जिस कारण इसे यह नाम दिया गया

था। बाँकुड़ा जिले के छातना थाने में शुशुनिया पहाड़ है। दूर से देखने पर लगता है मानो कुछ सोया हुआ है। शुशुनी साग में प्रचुर मात्रा में कैल्शियम रहता है, इसलिए खाने में मीठा-मीठा लगता है।

Insomnia या निन्द्राहीनता व्याधि में यह महौषध है। मिट्टी के पात्र में शुशुनी साग राँधने (पकाने) से उसका गुण और अधिक बढ़ जाता है।

घी में भुना शुशुनी साग पाकस्थली के क्षत और आन्त्रिक क्षत रोग में (ड्यूडेनल अल्सर और गैस्ट्रिक अल्सर) और चक्षु रोगों की उत्तम औषधि है। शुशुनी साग के पत्तों के रस से तैयार घी निद्राहीनता में अच्छा फल देता है।

ब्राहीः (Herpestis monniera/Bacopa monnieri Linn):

ब्राह्मी और उसी की प्रजाति विशेष थानकुनी और थुनकुड़ी (भोजपुरी में पाताल नीम) प्रभृति साग स्नायुरोग में पुष्टिदायक हैं, स्मरण शक्ति वर्द्धक हैं और शुक्ररोग की औषधियाँ हैं। ब्राह्मी और थानकुनी दोनों ही के पत्ते औषधि के रूप में व्यवहृत होते हैं। स्नायुदौर्बल्य रोग में भी यह उत्तम औषधि है। सभी प्रकार के मानसिक रोगों और मानसिक संतुलनहीनता रोग में इसका व्यवहार है। ब्राह्मीघृत (अथवा ब्राह्मी सिरप) परीक्षार्थियों का विशेष सहायक है। ब्राह्मी और थानकुनी दोनों ही लतरी के उद्भिद हैं।

पेट की अस्वस्थता में थानकुनी: थानकुनी के पत्तों का रस चीनी के साथ खाने पर पेट की गड़बड़ी में अच्छा फल प्राप्त होता है।

छात्र-छात्राओं की Repeatation स्मरण शक्ति बढ़ाने के उपाय: (1) शाँखालू का रस रोज पान करना, (2) स्मरण

पद्धति अर्थात् कंठस्थ किया हुआ विषय लिखना, दूसरे को सुनाना विषय वस्तु के मुख्य बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करना, (3) पाठ्य विशेष इस तरह पढ़ना जिससे कान भी सुन सकें, (4) अधीत (पाठ्य विषय जो याद किया गया हो) विषय के महत्वपूर्ण Catch-words को एक छन्द में सजाकर याद रखना, (5) सूर्योदय से पूर्व जब वाह्य परिवेश शान्त रहता हो, उस समय अवश्य ही पढ़ने-स्मरण करने का अभ्यास, (6) कुछ आसन बनाना, जैसे- मत्स्यमुद्रा, ज्ञानासन, शशांगासन का अभ्यास (आचार्य सिखायेंगे) करना, (7) बीच-बीच में ब्राह्मी साग, स्वल्प परिणाम में इमली खाना (8) गुरुध्यान।

गूमा साग (Mollugo oppositefolia Linn) :

गूमा साग लिवर की दवा है, रक्त परिष्कारक है, स्नायु और स्मरण शक्ति के लिए अच्छा है। यह साग पेट के रोग (उदरामय), यकृत्, और शोथ रोग के लिए भी उपकारी है। गूमा साग के फूल

भात के साथ प्रथम ग्रास में खाने पर मस्तिष्क के लिए बहुत ही उपकारी हैं। इससे चर्म की विवर्णता का दोष भी नष्ट होता है। (गूमा का साग पकी तरकारी के रूप मे खाने से अच्छा फल प्राप्त होता है। गूमा साग का व्यवहार कुष्ठ रोग में भी अच्छा फल देता है। श्वेत कुष्ठ या धवल रोगी के लिए गूमा ब्राह्मी प्रभूति सागों का व्यज्जन अत्यन्त हितकर हैं)

पुनर्नवा:(Boerhaavia diffusa Linn) और बेरी-बेरी रोग :

पुनर्नवा साग को गदर्भ साग भी कहा जाता है। यह साग गदर्भ को अत्यन्त प्रिय होने के कारण ऐसा नाम करण हुआ है। शीत काल में आलू के खेत में प्रायः अपने आप उगा करता है।

पुनर्नवा साग बेरी-बेरी और शोथ रोगों की उत्तम दवा है [बेरी-बेरी स्नायुघटित रोग है]। इसका तरल सार (सालसा) और औषधि जाड़े के दिनों में उत्तम पेय है। यक्ष्मा रोग की प्रथमावस्था

में विटामिन से भरपूर यह साग [या इसका सालसा] खाने पर सुफल प्राप्त होता है।

श्वास रोग में पुनर्नवा एक तोला श्वेत पुनर्नवा की शाखा की जड़ ढाई गोलमिर्च के साथ नदी के जल के साथ पीसकर सोमवार को अभुक्त अवस्था में स्नानान्त में उत्तर मुँह बैठकर खाने पर श्वासरोग में (अर्थात् हँफनी रोग में) चमत्कारिक फल प्राप्त होता है।

जूही : शिरोरोगनाशक : सुगन्ध चिकित्सा

जूही फूल का रंग कुछ घी के रंग का या क्रीम के रंग का होता है। इसमें भी एक पाँति, दो पाँति है। इसकी गंध बेला फूल की अपेक्षा हल्की, बेला फूल की अपेक्षा मधुर, लेकिन उग्रता या रुक्षता बेला फूल की अपेक्षा कम होती है। बेला फूल की अपेक्षा जूही फूल की गंध हवा में अधिक अच्छी तरह तैर सकती है। इसलिए गंध बहुत अधिक दूर तक जाती है।

जूही फूल मनुष्यों के मनोमस्तिष्क को ठंडा रखता है। प्राचीनकाल में लोगों की धारणा थी कि जूही फूल मनुष्य के मन को सूक्ष्म भावना की ओर ले जाने में सहायता करता है। चाँदनी रात में जूही फूल की सुरभि मनुष्य को शायद कविता रचना के लिए उद्बुद्ध करती है। आयुर्वेदाचार्यों के मत से जूही फूल की गंध शिरोरोगनाशक हैं। जूही फूल का तेल और इत्र मस्तिष्क के बन्धु हैं। जूही के फूल वर्षा और शरद् ऋतु में खिलते हैं। बरसात की गीली हवा जूही की गंध को दूर से दूरान्तर तक बहाकर ले जाती है।

शिलाजतु-शिलाजीत:

पहाड़ का कलेवर फटने से निकली विभिन्न प्रकार की आकरिक धातुओं से समृद्ध यह वस्तु औषधार्थ व्यवहत होती है।

रक्तक्षय और मस्तिष्क के क्षयजनित रोगों में इस शिलाजतु या शिलाजीत का प्रयोग होता है।

लज्जावती (Mimosa Peudica) और स्नायुरोगः

अत्यधिक संवेदनशील जो गुल्म भारत तथा दक्षिण पूर्व एशिया की सभी वृष्टिबहुल जगहों पर उगता है, उस अयत्वर्धित लज्जावती को 'गाण्डकारी' कहा जाता है। उत्तर भारत के लोग इसे लज्जावती कहा करते हैं। लज्जावती के फूल एकाधिक रंग के होते हैं लेकिन फीका लाल या गुलाबी और पीले रंग के फूल ही अधिक देखे जाते हैं। मैंने प्रशान्त महासागर के तीर पर जिस प्रजाति की लज्जावती देखी है उसके पत्ते लज्जावती से (जड़) स्नायुरोग की और बहुमूत्र रोग की औषधि तैयार होती है। [इसके सम्बन्ध में गवेषणा होनी उचित है।]

घी करेली - स्मृति वर्द्धक:

1. जो शिशु जड़बुद्धि के होते हैं, सिझाई हुई घी करेली नियमित रूप से खाने पर उनकी बुद्धि कुछ खुलती है। 2. 15 से 19 वर्ष के बालक-बालिकाएँ जिनका परीक्षा के समय अत्यधिक पढ़ाई-लिखाई करने पर कई बार माथा चकराता है, घी करेली उनके लिए खाद्य और औषधि दोनों ही है। पक्वावस्था में व्यवहार करना उचित होगा।

अधकपारी निवारक सुपारी:

जो सुपारियाँ गोलाकार नहीं होतीं। बगल में दूसरी सुपारी सटी रहने जैसा उसका आकार कुछ अर्धवृत्ताकार हो, उस सुपारी को पत्थर पर घिसकर प्राप्त लेई को कपाल पर जिस ओर अधकपारी हुई हो, वहाँ लगाकर, एक गिलास पानी पीकर जिधर दर्द हो उस करवट सोये रहने पर अधकपारी व्याधि उपशमित होती है।

रोगी को नियमित रूप से नासापान करना होगा। इसके अलावा इस प्रकार के सिर दर्द में या माइग्रेन जैसे सिर दर्द में एक दवा बहुत ही मुफीद है:-बड़ के पत्ते को ठोंगे की तरह बनाकर उसमें विशुद्ध सरसों का तेल और थोड़े उड़द रखने चाहिए। उस ठोंगे को प्रदीप की शिखा के ऊपर इस प्रकार रखना होगा कि पत्ता जले नहीं। कुछ देर बाद पत्ते के नीचे से तेल टप टप गिरेगा। उस तेल को हथेली पर लेकर कनिष्ठांगुलि के द्वारा दोनों नाकों से खींचना होगा। इससे नाक में सर्दी जमी होने के कारण, (साइनस) से अधकपारी का दर्द होने पर सर्दी निकलकर रोगी अवश्य ही लाभ पाएगा।

खसखस (Andropogon Squarrosus) और स्नायुतन्तु के शक्तिवर्द्धक:

खसखस की गंध कुछ रोगों को अप्रिय लगने पर भी अधिकतर लोग पसन्द करते हैं। इसका गंधसार प्राचीनकाल से ही भारत में व्यवहृत होता आ रहा है। वर्तमान में इसकी सुगंध की सहायता से साबुन, शैम्पू, केश तेल इत्यादि बन रहे हैं। खसखस की गंध स्नायु के लिए अच्छी होती है। स्नायुरोग विशेषकर जिसकी स्नायुतंतुएँ थोड़े में ही चंचल हो उठती हैं, उसके लिए खसखस की गंध प्रायः औषधि का काम करती है।

सुगन्ध चिकित्सा

केतकी (Pandanus Fascicularis Lam):

परिचय और प्रजातियाँ: केत+कन- केतक [केतक केअअ केआ> केया (बंगला)]। केतकी फूल के पौधे ग्रीष्मप्रधान देश में जंगल-झाड़ों, नदी के किनारे स्वाभाविक रूप से उगा करते हैं। यहाँ तक कि राजस्थान की मरुभूमि में भी मैंने केतकी के पौधों को उगते देखा है। हिमालय के कुछ ऊपरी भाग में भी देखा है तथा है

तामिलनाडु की तरंगायित रक्त मृत्तिका में, कण उपकूल के समुद्र विधौत नमकीन इलाके में, दक्षिण सुन्दरवन के घाड़ियाल शासित खाड़ी इलाके में देखा गया है। अति वृहत् अर्थात् 30-35 फीट से 6-7 इञ्च तक अजम्न प्रकार की केतकी की प्रजातियाँ हैं।

केतकी के औषधीय गुण: केतकी फूल की गंध केवल तृप्तिदायक ही नहीं है, रुचिकारक तथा पाचन शक्तिवर्धक है। (मन और स्नायु के लिए स्निग्धकारक है।) केतकी से विभिन्न प्रसाधन सामग्रियाँ तैयार की जाती हैं। केतकी से केतकी-सुवासित खादिर या केतकी कत्था तैयार होता है केतकी का फूल हरिण का प्रिय खाद्य है। वृहदाकार फल जिस गाछ पर होता है। उसे दक्षिण बंगाल के लोग अम्ल पकाकर खाते हैं। केतकी के पत्तों के रेशों से एक समय वस्त्र तैयार किए जाते थे। [ये वस्त्र अभी भी तैयार हो सकते हैं।]

वन-रोपण में केतकी (केवड़ा) : देश में जंगल-झाड़ों के समाप्त होने के साथ ही केतकी का भी सफाया हो चला है जबकि नदियों के किनारे केतकी का रहना जरूरी है। उससे भूमि के अवक्षय (Soil erosion) का रोध होता है। पश्चिम राढ़ में सिंचाई-नालों के आसपास केतकी के गाछ, लगाने की जरूरत है। किसी भी जंगल में कुछ परिमाण में केतकी के गाछों का रहना बहुत जरूरी है क्योंकि जंगल के सभी तृणभोजी जीव केतकी फल के बीज खाना पसन्द करते हैं।

केवड़ा-जल या केवड़ा- अर्क तैयार करने की प्रणाली: केतकरक के अअरअ> केआरअ>केयारा > केओड़ा (बंगला)। केतकी के ही प्रकार भेद को (Processed) केवड़ा कहा जाता है। केतकी द्वारा सुवासित जल को हमलोग साधारणतः केतकी-जल न कहकर केवड़ा-जल कहा करते. हैं।

एक शीशे के बर्तन (Jar) में एक खिले हुए केवड़ा फूल की पंखुडियों को फैलाकर (तोड़कर नहीं) फूल को लिटा दो। अब एक महीन वस्त्र खण्ड को पानी से गीला करके भिगोकर उस फूल के ऊपर फैला दो। फिर वस्त्र खण्ड के ऊपर एक केवड़ा फूल की पंखुड़ियों को फैलाकर उस फूल को लिटा दो। उसके बाद और एक महीन वस्त्र खण्ड पानी में गीला भिंगाकर रख दो। इस प्रकार कई स्तर बना सकते हो। इसके बाद वर्तन (बर्तन) का मुँह बंद कर दो। उस वर्तन (बर्तन) को किसी सूखी और धूप रहित जगह पर रख दो। तीसरे दिन उस वर्तन से केवड़ा के फूलों और कपड़ों को निकाल लो। इसबार देखोगे कि केवड़े की गंध कपड़ों में महमह कर रही है। अब उन कपड़ों को निचोड़कर निकाले जल को सावधानी से किसी पात्र में ढाल दो। देखोगे कि उस जल में केवड़ा फूल की गंध भरी हुई है। यही है केवड़ा फूल का घना अर्क। एक बोतल साधारण परिश्रुत जल में घने अर्क को कुछ मात्रा में डाल देने पर बोतल का पूरा जल केवड़ा फूल की गंध से भरपूर हो जाएगा। बोतल के उस जल को केवड़ा जल कहेंगे।

सूचीपत्र

जिस प्रकार केवड़ा जल तैयार होता है उसी प्रकार केवड़े का इत्र भी तैयार कर सकते हो। अन्तर केवल यही है इसे तैयार करने के लिए वस्त्र खण्डों को जल से न भिगोकर चन्दन के तेल से भिगोना होगा।

गुलाब:

परिचय और प्रजातियाँ: गुलाब शब्द आया है फारसी 'गुल' और 'आब' (जल) से। इसलिए फारसी भाषा में गुलाब जल है गुलाब। उर्दू-हिन्दोस्तानी में फूल को ही गुलाब कहते हैं (इस शब्द में द्वित्व दोष है)। बंगला और असमिया में इस फूल को 'गोलाप' कहा जाता है जो आया है गुलाब से।

गुलाब शीतप्रधान जलवायु और ग्रीष्मकालीन जलवायु भेद से मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं। भारत में गुलाब आया था ईरान से। भारत के हिमालय अंचल में प्राचीनकाल से जो गुलाब था उसका आकार मोटे तौर पर बड़ा होने पर भी गंध कोई खास नहीं थी और रंग भी साधारणतः सफेद था। इसलिए सफेद गुलाब का संस्कृत नाम 'सविन्ती' है। वर्तमान विश्व में गुलाब की प्रजातियाँ कितनी हैं यह कहना मुश्किल है क्योंकि पुष्पतत्त्वविद्गण रोज दो-चार नयी प्रजातियों का उद्भावन करते जा रहे हैं। गुलाब की प्रजातियाँ तेजी से बढ़ती जा रही हैं और इसमें वैचित्र्य भी है-सफेद गुलाबी - पीले घी के रंग के, लाल, नीले, हरे, काले, चाकलेटी इत्यादि।

गुलाब के औषधीय गुणः

गुलाब का अर्क स्निग्धकारक के रूप में (मन और स्नायु के लिए), रोग में और पीने के पानी में व्यवहृत होता है। गुलाब की

पंखुड़ियाँ दानेदार चीनी के साथ अच्छी तरह पीसकर एक समय वर्द्धमान में और तारकेश्वर में 'ओले' तैयार किए जाते थे। इस 'ओले' का शर्बत स्निग्धकारक, वायुरोग (रक्तचाप) विदूरक और माथे में चक्कर की औषधि है। गुलाब का इत्र एक प्रसिद्ध सुगंधी है। [गुलाब का जल और गुलाब का इत्र तैयार करने की पद्धति केवड़ा की ही तरह है]

इमली (Tamirindus indicus Linn)

परिचय और प्रजातियाँ: इमली करीब-करीब सभी ग्रीष्मप्रधान देशों में उगा करती है। प्रजातियाँ भी अनेक हैं- अतिवृहत् से लेकर अतिक्षुद्र विभिन्न प्रकार की लाल-फीकी, पीली बैगनी इत्यादि विभिन्न रंगों की हैं। कोई इमली तो बहुत खट्टी और कोई इमली मधु से भी मीठी। यह मधु- इमली * दक्षिणी पूर्व एशिया के कई द्वीपों में उगा करती है।

संस्कृत शब्द 'आम्लिक' जिसका अर्थ है अम्ल रसयुक्त वस्तु इससे प्राकृत में आया है आम्लिअ, उससे आमली। मध्यप्रदेश में, राजस्थान में मारवाड़ी भाषा में इमली को 'अमली' कहा जाता है। यही आमली विकृत होकर हिन्दोस्तानी में 'इमली' बन गयी है। इमली का अंग्रेजी शब्द Tamarind है, आया है फारसी, तामर-हिन्द से। पारस्य देश में आम नहीं उगता। लेकिन वहाँ के लोगों ने प्राचीनकाल से आम की प्रशंसा सुनी थी। भारत से एक व्यापारी इमली लेकर पारस (आधुनिक ईरान) देश में गया था। पारस के लोगों ने सोचा शायद यही - आम है। उन्होंने उसका नाम रखा तामर-इ-हिन्द अर्थात् भारत का आम। यह तामर -इ-हिन्द जब पारस से यूरोप पहुँचा, उसका अंग्रेजी नाम टेमेरिण्ड पड़ा।

स्निग्धता लाने और बुद्धिवृत्ति में सहायक इमली: नई इमली की अपेक्षा पुरानी इमली में गुण बहुत अधिक होते हैं। जिन ग्रीष्मप्रधान देशों में ग्रीष्मकाल में शरीर सूख जाता है उन देशों में

इमली का व्यवहार विशेष मूल्यवान है। सूखे इलाकों में या धूप के समय इमली न खाने पर शरीर दुर्बल हो सकता है। पोस्ता, उड़द की दाल और इमली विशुष्कता रोग की प्रतिषेधक हैं। अत्यधिक गर्मी में नाक से खून गिरने पर ये ही खाद्य रोग को दूर भगाया करते हैं।

इमली एक सात्विक फल है। मस्तिष्क-रचना में इसकी पर्याप्त भूमिका है। इमली मनुष्य की बुद्धिवृत्ति में सहायक है। [पुरानी इमली की चटनी पके केले के साथ अल्प परिमाण में बीच में खाने से इस मामले में अच्छा फल मिलता है। यह औषधि आमाशय रोग में भी फल देती है। **स्मरणशक्ति बढ़ाने** में भी पुरानी इमली का व्यवहार सहायता करता है। यह सुप्तिस्खलन रोग में भी सुपथ्य है]। इमली बीज का गूदा और घर की पुरानी इमली औषधि तैयार करने में व्यवहृत होती है। इमली की सहायता से अचार, चटनी इत्यादि तैयार किए जाते हैं।

अम्ल रोग में इमली की छाल "इमली की छाल को जलाने पर जो राख या सफेद भाग प्राप्त होता है उसका एक आना परिमाण लेकर शीतल जल के साथ पान करने पर अम्लरोग में अच्छा फल प्राप्त होता है।

नीति के अनुसार इमली अधिक खाना अच्छा नहीं है। ज्यादा इमली खाने से रक्तदुष्टि हो सकती है। अति मात्रा में जो इमली खाना चाहते हैं वे गठियावात (वात) के प्रतिषेधक के रूप में हरी मिर्च मोटे तौर पर खा सकते हैं।

इमली की हवा स्वाथ्यप्रद नहीं है: शास्त्र में कहा गया है कि इमली का मूल से पत्ता तक, फल से गुठली तक सभी मनुष्य का कुछ बन्धु है; केवल इमली की हवा बन्धु नहीं है। इमली की हवा स्वास्थ्यकर नहीं है। उससे चर्मरोग हो सकता है। घर के आँगन

में या घर की खिड़कियों के पास इमली का पेड़ नहीं रखना चाहिए। निश्चय ही पोखर की मेड़ पर इमली का पेड़ रोपने पर उस पोखर का पानी विशुद्ध रहता है।

अन्यान्य रोगों में इमली: हँफनी रोग में पुरानी इमली औषधि का काम करती है। [पुरानी इमली पानी कम से कम अल्प मात्रा में भी जानकार व्यष्टि के परामर्शानुसार पीना चाहिए]।

अरवी; खामालू:

परिचय : तुमलोग एक सुखाया कन्द के रूप में निश्चय ही कभी-कभी अरवी खाया करते होगे। अरवी का पौधा लतरीला होता है, पत्ते पान की तरह किन्तु छोटे होते हैं। इसकी लता किसी बड़े गाछ का आश्रय लेती है। लोग इसे बाँध की झाड़ी में भी सटा देते हैं। खना के वचन में है:

"बाँस बनेर धारे लागाले खामालू

आलू हय गाछ - बेड़ालू।"

जमीन के नीचे का कन्द ही अरवी है। अरवी तैयार होने में तीन साल का समय लेता है। लाभ कम होने के कारण चासा लोग व्यापक तौर पर इसका चास नहीं करते। इसके द्रुत फलनशील किस्म का उन्नयन करना उचित है। बंगाल में कहीं-कहीं इस अरवी को मोटे आलू भी कहा जाता हैं। अंग देश में कहीं-कहीं खामारु कहते हैं। बंगाल में सर्वत्र ही अरबी थोड़ी बहुत उगती है। वर्तमान बंगाल में मृत्तिकागत विचार से नदिया की मिट्टी अरवी के लिए सबसे उपयुक्त है।

अनिद्रा रोग, रोग प्रतिषेधक और अल्सर रोग में: अरवी में पुष्टिगत मूल्य पर्याप्त है और सुस्वादु है। दोपहर में (पकी तरकारी के रूप में) खाने पर अनिद्रा रोग की औषधि है। रोग भोगान्त में दुर्बल रोगी को रोज थोड़ी मात्रा में अरबी खिलाने पर शक्ति जल्द वापस आती है। पोई पत्तों के साथ मिलाकर अरवी सिझाकर खाने से वह रोग प्रतिषेधक का काम करती है। लेकिन जिन्हें अम्लशूल है उनके लिए पोई के पत्ते न खाना ही अच्छा है। पाकस्थली के क्षत में और विभिन्न प्रकार के अल्सर रोगों में मानकच्चू और अरवी दोनों उपकारी होते हुए भी (इस मामले में) अरवी के गुण कुछ और अधिक है।

स्नायुरोग में कतिपय व्यवस्थाएँ:

नागदोना एक छोटा पौधा है। इससे सिरदर्द की दवा तैयार होती है। [नागदोना के कोमल पत्तों और डण्ठल निष्काषित रस मधु के साथ खाना चाहिए।]

चन्दन तुलसी का रस स्नायुरोग में औषधि का काम करता है।

रात को थोड़ी मात्रा मे अर्जुनछाल का सेवन अल्पबुद्धि या उपस्थित बुद्धि (प्रत्युत्पन्नमतित्व) के अभाव को दूर करता है।

लीची - फूल का मधु अग्निमांद्य की औषधि है। लीची फल का छिलका फटने से निकली रस का मधु स्नायविक विकार की दवा है।

लौकी स्नायुरोग की औषधि है, स्मृतिशक्ति की दवा है।

शाँखालू (उत्तर भारतीय भाषा में मिश्रीकन्द) शरीर को (माथे को भी) ठंडा रखता है। राढ़ के लोग शाँखालू को शर्वती आलू कहा करते हैं। [स्मरणशक्ति बढ़ाने में भी सहायता करता है।] स्नायुकोष और स्नायुतन्तु के रोग में भी कच्चा या पका छाँची हड़ा को (रस, रतकारी, बड़ी इत्यादि के व्यवहार के माध्यम से) औषधि का काम करता है।

बालों के रोग

केराराज (Eclipla prostrate Linn):

भृंगराज (Wedelial Calendilacea lers):

भृंगराजवर्गीय बालों का औषधीय गाछ है। यह केशरंजन या केशराज। बंगाल के शहरों-ग्रामों में बरसात का जल पाकर प्रचुर परिमाण में केशरंजन गाछ उगते हैं। वर्द्धमान की ग्रामीण भाषा

में भृंगराज को' भीमराज' और 'केशरंजन' को 'केशराज' कहते हैं। चौबीस परगने के ग्रामांचल में मैंने केशरंजन को 'केशुत' कहते सुना है। भृंगराज तेल बालों की जड़ और मस्तिष्क की औषधि है। यह तेल बहुत ही ठंडा है। इसलिए माथा गरम और वायु विकार की औषधि के रूप में इसका व्यवहार होता है। उन्माद रोग में भी भृंगराज वायु विकार की औषधि के रूप में इसका व्यवहार है। ठंडे माथे का स्वस्थ व्यक्ति भृंगराज का अधिक व्यवहार करे तो कई बार सर्दी से आक्रान्त हो जाता है। भृंगराज-जात- तेल को संक्षेप में कोई-कोई 'भृगर' कहा करते हैं।

केशराज/केशरंजन/केशुत बालों की जड़ की औषधि है, बालों को चमकदार बनाए रखने की दवा है। थोड़ी शीतल आबोहवा में केशराज या केशुत तेल तैयार करने का काम किया जाता है। भृंगराज की तरह केशराज भी इन्द्रपतन की (केशटनरोग या गंजरोग - baldness) प्राथमिक स्तर की दवा है। [बालों का

झड़ना बन्द करने में वज्रासन और उत्कट वज्रासन प्रभावकर हैं जो आचार्य सिखायेंगे]

तिल तैल:

प्राचीन आर्य लोग तैल बीजों में सर्वप्रथम तिल के सम्पर्क में आए थे। तैल शब्द भी तिल से ही आया है। तैल शब्द का व्युप्तत्तिगत अर्थ ही है जो तिल संजात है। भारतीय तिल साधारणतः तीन प्रकार के हुआ करते हैं-सफेद तिल, लाल तिल और कृष्ण तिल। खाद्य के रूप में सबसे अच्छा है श्वेततिल (तिलकुट, तिलुआ, तिलखाजा, रेवड़ी)। रंधन तेल के रूप में लाल तिल ही सबसे अच्छा है। लेकिन सभी प्रकार के तिल सभी काम में लाए जा सकते हैं।

माथे के लिए सबसे अच्छा है कृष्णतिल (Black Sesame Sesaman indicum Dc) । कृष्णतिल का तेल बालों

की जड़ों को मजबूत रखता है। तिल तैल की एक विशेषता यह है कि तिल का तेल किसी गंधयुक्त वस्तु के सम्पर्क में आते ही उस गंध को खींच ले सकता है और दीर्घकाल तक उस गंध को अपने में रोके रख सकता है। भारतीय पद्धति से, विशेषकर आयुर्वेद में जो केश तैल तैयार किए जाते है उनमें से अधिकतर तिल के तेल से तैयार किए जाते हैं।

बालों की देखभाल:

बाल चमड़े के नीचे से ठेलकर उगते हैं और उसी रूप में बढ़ते हैं। बालों को का छोर नहीं बढ़ता। पिसी हुई कच्ची हल्दी माथे पर लगाकर स्नान कर माथे पोंछकर, उसके बाद सूखा कपड़ा 15/20 मिनट माथे पर दबाकर बाँध रखने से बाल मजबूत होते हैं, बालों का गिरना रुकता है, बाल कुछ घुँघराले या कुंचित होते हैं।

जूँओं का उपद्रव : बड़ी जूँ को ढील कहते हैं, जूँ के अंडों को लीख कहते हैं। ढीलें बालों के भीतर चलती-फिरती रहती हैं। बालों की जड़ों की स्नेहजातीय वस्तु (बालों की जड़ों की चर्बी) इनका खाद्य है। ये जब बालों की जड़ की स्नेहजातीय वस्तु को खाती हैं तब व्यक्ति माथे पर खुजली का अनुभव करता है। ढीलों का उत्पात अधिक होने पर माथे पर घाव भी हो जाते हैं। बालों के बीच जो चलता फिरता है (केशेषु अटति) इत्यर्थे केशट।

जुएँ होना बेहद छूत की बीमारी है। माथे पर जूँ होने पर महीन दाँतों वाली कंघी का व्यवहार करोगे और जितना संभव हो दिन को नहीं सोओगे। जो बालों की देखभाल नहीं करते वे गंदे लोग प्रागैतिहासिक युग से जूँओं के आक्रमण का शिकार होते आए हैं।

इसके लिए तीन चौथाई भाग केरोसिन तेल और एक चौथाई भाग खाँटी नारियल तेल मिलाकर रगड़-रगड़ कर (माथे के बालों में) लगाने पर, उसके बाद पन्द्रह मिनट धूप की ओर पीठ करके बैठे रहने, तब स्नान करने-लगातार कई दिनों तक इसी प्रकार लगाने पर ढीलें सवंश नष्ट हो जाएँगी और माथे के चमड़े की रौनक वापस आ जाएगी।

बीच-बीच में अथवा महीने में एक बार माथे पर साबुन लगाने या बालों में शैम्पू कर लेने से जूँओं का उपद्रव विशेष नहीं होगा।

(बाजार में प्रचलित असंख्य प्रकार के शैम्पू हो सकता है माथे की सफाई करें किन्तु साथ ही सिर के बालों को भी चौपट किया करते हैं। इसलिए विज्ञानसम्मत तरीके से या आयुर्वेदानुसार तैयार शैम्पू खोजकर ही व्यवहार करना उचित है।)

खुरकी :

माथे पर यदि जूँएँ न हों तो अच्छी तरह मलाई मैदा (दूध की मलाई) समपरिमाण में अंगुल से फेंटकर-झाग पैदाकर माथे पर लगाने से माथे की खुश्की और रूसी दूर होती है। तीता स्वादयुक्त एक प्रकार की लौकी होती है जो खाद्य के रूप में व्यवहृत नहीं होती, औषधि के रूप में व्यवहृत होती है। इसके बीजों का तेल माथे की खुश्की रोग की उत्तम दवा है।

चक्षुरोग

पद्म और पद्ममधु:

परिचय और प्रजातियाँ: पद्मफूल को कमल कहा जाता है क्योंकि पद्मफूल की शोभा और सौन्दर्य बहुत ही आकर्षक होता

है। हमारी अति परिचित पद्मफूल की कुछ प्रजातियों का आदिवास भारत तथा बंगाल है। श्वेत कमल का आदिवास इस बंगाल में ही है और बहुत संभव है समतट बंगाल या व्याघ्रतटी; व्याघ्रतटी वाघ्घ्रटडी> बाघड़ी> बागड़ी का तात्पर्य है जिस भूमि की पश्चिम सीमा पर भागीरथी है, उत्तरी सीमा पर पद्मा है, पूर्वी सीमा पर मधुमति है। तुमलोग इस अंचल के जलाशयों में या झीलों में काफी श्वेतकमल पाओगे, कुमुद भी पाओगे)। ये सभी (श्वेतकमल) बेंजालाइटिस वर्गीय पुष्प हैं। रक्तकमल का जन्म भागीरथी के पश्चिमी तीर पर गढ़भूमि में है। बंगाल में सामान्यतः सफेद और लाल दोनों कमल पाये जाते हैं।

इण्डिका वर्गीय राजकमल पश्चिम भारत में बड़ी-बड़ी झीलों में पाये जाते हैं। इनकी पंखुड़ियों का रंग गुलाबी होता है। लेकिन सम्पूर्ण गुलाबी नहीं..... श्वेत मिश्रित गुलाबी। ये बंगाल के श्वेतकमल से कुछ बड़े भी होते हैं, रक्तकमल की अपेक्षा कुछ

छोटे। महिशूर राज्य में जो कर्णाट कमल उगता है, वे आकार में बंगाल के श्वेतकमल की अपेक्षा कुछ छोटे हुए भी बहुत अधिक दलयुक्त होते हैं। ये देखने में काफी सुन्दर होते हैं। लेकिन उसकी गंध और मधु बंगाल के श्वेत कमल की अपेक्षा कम होती हैं। मानस सरोवर में ग्रीष्मकाल में जो कमल उगते हैं उसकी वर्णाद्यता की तुलना में गंध और मधु अधिक होता है।

कमल बहुत गहरे पानी में नहीं उगता..... कम गहराई में उगता है। मेक्सिको देश पीतकमल या पीले कमल का आदिवास है। भारत में उस कमल का कन्द या बीज व्यवहार करने पर पौधे उगते जरूर हैं किन्तु फूल कम होते हैं। वृद्धि भी कम होती है। (अमेजन नदी की अववाहिका में जिसका वासस्थान है वह 'विक्टोरिया रिजिया अमाजनिका' या महापद्म बंगाल की आबोहवा के मोटे तौर पर अनुकूल है। लेकिन वृद्धि खास नहीं देखी जाती। नीलकमल की बातें तुमने पुराणों में पढ़ी होगी।

वास्तव में कमल नीले रंग का होता नहीं है। लेकिन वर्तमान में उिद्भद विज्ञान के अनुशीलन के फलस्वरूप नीलाभ रंग का कमल भी उद्भावित हुआ है। देखने में कुछ सुन्दर होता है, आकार में छोटा, नीले रंग के कुमुद की तरह।

पद्ममधु और चक्षुरोग : कमल फूल की शोभा और सौन्दर्य से तथा इसकी गंध से मधुमक्खियाँ, भौरें, कीटपतंग आकृष्ट होते हैं। अन्य कमल की तुलना में श्वेतकमल में गंध अधिक होती है। पद्म का मधु (विशेषकर श्वेतपद्म का मधु) सर्वविध चक्षुरोगों की दवा है। (विशेषकर आँख की पुतली सम्बन्धी रोगों में) बंगाल में इस पुष्पमधु के सम्बन्ध में उत्कर्षण हो तो अच्छा है [चक्षुरोग में गुलाब जल का व्यवहार हितकर है। इसके अलावा फूल गोभी और गाजर चक्षुरोग में प्रतिषेधक के रूप में काम करते हैं।]

पद्म का पराग सर्पविष का प्रतिषेधक है: कमल का पराग, विशेषकर श्वेत कमल का पराग सर्पविष का प्रतिषेधक है। इसके सम्बन्ध में भी चिकित्सा वैज्ञानिकों को गवेषणा करना उचित है। कमल के पराग से अन्य औषधियाँ भी बनती है। (कमल के खिलने के समय पद्म केशर का संग्रह करके अच्छी तरह रख लेना चाहिए क्योंकि प्रयोजन के समय प्रस्फुटित श्वेत कमल नहीं भी मिल सकता है। इस केशर को पीसकर रोगी को खिला देना चाहिये)

कमलगट्टा: (पद्मबीज) कमल गट्टा मनुष्य का एक सुस्वादु और पुष्टिकर खाद्य है। (कश्मीर में देखा है इस कमल गट्टे से स्वादिष्ट शोरबा और कालिया तैयार होता है (कश्मीर में कमल को पम्पोष कहते हैं। पम्पोष पद्मपुष्प से आया है। कश्मीर में कमल की डंठल से भी तरकारी बनती है।) बंगाल के शिशु साग्रह कमल

गट्टा खाते हैं। लेकिन कमलगट्टे का व्यवहार बंगाल के रसोईघर में बहुत कम होता है।

(आँखों की समस्या में अंधापन की संभावना होने पर निम्नोक्त औषधि काम आएगी: गोल हर्रे का चूर्ण, कालमेघ (पत्तों का रस), नीम फूल या पद्मफूल का विशुद्ध मधु-तीनों को आधा चम्मच लेकर जो दिन में दो बार सेवनीय है। दिन में कई बार मुँह में पानी लेकर, पानी बिना कुल्ला किए आँखों में कम से कम 12 बार पानी के छींटे लगाने पर सर्वविध चक्षुरोगों में अच्छा फल प्राप्त होता है।)

चुकन्दर (Heliotropium indicum Linn), हाथीशुर ग्रामीण बंगाल में बरसात के समय चुकन्दर जहाँ-तहाँ प्रचुर मात्रा में उगता है। चुकन्दर के पत्तों का रस (वाह्य प्रयोग) चक्षु रोग की दवा है। फल लगने के पहले चुकन्दर के पत्तों का अन्य रोगों में भी

व्यवहार है। फल लगने के पहले चुकन्दर के पत्तों को पानी के साथ पीसकर प्रलेप लगाने से अथवा इसकी जड़ की छाल पीसकर प्रलेप लगाने से उपदंश की बाघी (Soft chancre) को चिकित्सा में सुफल प्राप्त होता है।

चक्षुप्रदाह या Conjunctivitis:

Conjunctivitis व्याधि निगेटिव माइक्रोवाइटम संजात है। इस प्रकार के निगेटिव माइक्रोवाइटम मुख्यतः रूप तन्मात्र के द्वारा वाहित होते हैं। जिसको यह रोग हुआ हो उसकी आँखों की ओर देखने के बाद आँखों में करकराहट पैदा होने के पहले ही गिनकर कम से कम पचीस बार आँखों में पानी के छींटे लगाने पर ही उस रोग का प्रतिरोध किया जा सकता है।

मोतियाबिन्द :

अधिक परिमाण में स्नेहजातीय पदार्थ या शर्करा जातीय वस्तुएँ खाने पर अधिक उम्र में, 39 वर्ष के बाद मनुष्य के रक्त में शर्करा का भाग बढ़ जाता है। रक्त में शर्करा का भाग बढ़ जाने से आँख में जाला पड़ जाता है। शर्कराधिक्य की ही एक विवर्त्तित गाद से यह जाला आता है। 39 वर्ष की उम्र के बाद आँख में जाला पड़े या न पड़े, रक्त में शर्करा का अधिक हो या न हो, रक्त के कुछ दुर्बल हो जाने से दृष्टिशक्ति में हेरफेर होगा ही-किसी में कम, किसी में अधिक इसलिए अनेक लोगों को ही इस उम्र में धनात्मक शक्ति (+) का चश्मा लेना पड़ता है। यह जो आँख की सामान्य त्रुटि साधारणतः 39 वर्ष की उम्र में आया करती है, कथ्य बंगला में उसे कहा करते हैं 'चाल से' (चालीसियो)। (कोमल तेलकूचे के पत्तों का रस आँख में जाला पड़ने की शुरुआत में दिन में दो-तीन बार लगाने से लाभ होगा।)

मानसिक रोग :

मन के रोग के फलस्वरूप जिन शारीरिक व्याधियों की सृष्टि होती है, विशेषकर कुछ खास प्रकार के रोग, वे हैं कर्कट रोग (Cancer), अजीर्ण, गठिया वात। मन के रोग के फलस्वरूप उत्पन्न रोगों की संख्या बहुत अधिक न होने पर भी बहुत कम भी नहीं है। हम लोग कई बार देखा करते हैं कि चिड़चिड़े मिजाज के लोग अधिकांश क्षेत्र में बदहजमी से ग्रस्त रहा करते हैं। [आजकल अवश्य ही मन के रोग तथा उद्वेग, दुश्चिन्ता, दुर्भावना का शिकर होकर बहुत से लोग हृदयरोग, रक्तचाप रोग, डायबिटीज इत्यादि रोगों के कवाल में पड़ रहे हैं। यही है आज की सभ्यता की अन्धकारमय दिशा।]

हिस्टीरिया और मिर्गीरोग :

जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटती हैं-कभी-कभी दिन में कई बार हुआ करता है-जब कोई शारीरिक कष्ट नहीं फिर भी मन को चोट पहुँची, मन में शान्ति नहीं रहती। ऐसा तिरस्कार-भर्त्सना

से तो होता ही है, प्रियजनों की अवहेलना से भी हुआ करता है। इस प्रकार की अवहेलना की सुदूरप्रसारी परिणति है हिस्टीरिया व्याधि। इस प्रकार के मानसिक क्लेश को 'खेद' कहा जाता है। चूँकि मानसिक क्लेश से हिस्टीरिया का उद्भव होता है इसलिए थोड़ा आदर-दुलार या सहानुभूति मिलते ही हिस्टीरिया रोग अच्छा हो जाता है। कुमारी कन्या वयस्का हो जाने पर और माता-पिता के द्वारा किसी कारण उन्हें पाव्रस्थ न कर सकने पर लड़कियों को यह हिस्टीरिया हो सकती है। विवाह के बाद ससुराल में अच्छा व्यवहार मिलने पर उसकी हिस्टीरिया व्याधि दूर हो सकती है।

जिस वर्णहिन्दू परिवारों में विधवा का विवाह नहीं होता उन विधवाओं को यदि ससुराल में ससुर-देवर-देवरानी के ताने सुनने पड़ें या नैहर में भौजाई की गालियाँ सुननी पड़े, तो उसे भी हिस्टीरिया होता है। उस पर ध्यान देने या सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार

करने, पुनर्विवाह कर देने पर उसका रोग अवश्य ही अच्छा हो जाएगा।

जिन बालकों को विद्वेष सहन करना पड़ता है, वे विशेषकर उस प्रकार के लड़के यदि परीक्षा में असफल होते हैं, तो वे मानसिक क्लेश या खेद सहन न कर पाने के कारण आत्महत्या करते हैं। घर के लोग यदि उसे उस समय पास बुलाकर कहते- 'परिश्रम तुमने किया था, हममें से भी तो बहुत लोगों ने कई बार फेल किया है। इस बार और अधिक मेहनत करो, तुम्हारी सार्थकता इसी में है। आगामी वर्ष फस्ट डिविजन से पास करोगे, सोचो तो कितनी खुशी की बात होगी। ऐसी स्थिति में लड़का, 99 प्रतिशत निश्चित है कि आत्महत्या नहीं करेगा।

चित् + ल्युट् करके चेतन। नजार्थक 'अ' के संयोग से 'अचेतन'। चित् धातु का अर्थ है प्रत्यक्षण करना, विचार-विवेचना

करना, भावना ग्रहण करना, सोचना। इस 'चित्' धातु के उत्तर करण में 'क्त' प्रत्यय करके हमलोग 'चित्त' शब्द को भी पाते हैं। 'चेतन' शब्द विभिन्न अर्थों में व्यवहृत हुआ करता है। चेतना का अर्थ जो जगा हुआ है, उसमें प्राण है, जिसकी मनीषा का विकाश हुआ है, जिसका आत्मिक उद्बोधन हुआ है, जो व्यक्ति विचारशील है, जिसमें उन्नत विवेचना-शक्ति है इत्यादि। इस प्रकार के अनेक अर्थ होते हुए भी व्यावहारिक क्षेत्र में हम लोग साधारणतः 'चेतन' शब्द का अर्थ तीन रूपों में पाते हैं।

कहना न होगा कि 'अचेतन' शब्द को भी हमलोग तीन रूपों में व्यवहृत होते देखते हैं। स्थूल जागतिक अर्थ में किसी कारण से स्नायुतन्तु के आहत होने पर, (उसके प्रभाव से स्नायुकोष की स्वाभिविकी कर्मशक्ति बाधा प्राप्त होने से जो सामयिक कर्मनिवृत्ति देखी जाती है, कथ्य बंगला में जिसे हमलोग कहते हैं 'अज्ञान हये जावा' (बेहोश होना) या ज्ञान खोना, उसके

लिए 'अचेतन' शब्द का व्यवहार किया जाता है। और कई मामलों में आघात स्नायुतन्तु में नहीं लगा है, लगा है स्नायुकोष में। अति सुखात्मक या अति दुखात्मक कोई घटना स्नायुकोष को आलोड़ित करके मानसिक स्तब्धता ले आने पर उसके प्रभाव से स्नायुतन्तु भी स्वाभाविक रूप से काम करना बन्द कर देते हैं। इसके परिणामस्वरूप भी लोग लौकिक अर्थ में बेहोश हो जाते हैं। इसी कारण कोई सुखद समाचार या दुःखद समाचार अचानक किसी के समक्ष उपस्थापित नहीं करना चाहिए। धीरे-धीरे क्रमिक रूप से उसे व्यक्ति के मन में पहुँचाना चाहिए। स्नायुतन्तु में भी अचानक जोरदार आघात पड़ने नहीं देना चाहिए। इन सभी विषयों पर समाजगत रूप से एक विवचेना (समझ) का रहना जरूरी है।

याद रहे कि भूत लगना और 'फिट आना' एक चीज नहीं है। भूत लगने से व्यक्ति बड़बड़ाया करता है। उस मामले में वह अपने विचारगत आवेगों को नियंत्रित न करके या कर न सकने के

कारण स्थान-काल-पात्र भूलकर मन के ही विचार को अभिव्यक्त करता है। यह हिस्टीरिया लेकिन वह नहीं है। चाहे जो भी हो, हिस्टीरिया भी एक प्रकार की अचेतनता है। एपिलेप्सी या मिर्गी रोग भी मानसिक स्तर से अर्थात् स्नायुकोष से स्नायुतन्तु में संक्रमित होता है। लेकिन यह व्याधि पहले आती है स्नायुतन्तु में- उसके बाद वह स्नायुकोष को आलोड़ित करती है। बाद में वह व्याधि के रूप में स्नायुकोष में अधिष्ठित रहती है और विशेष स्थान - काल में व्यक्त होती है। यही है विभिन्न प्रकार की अचेतनता जो जड़ जगत में हमलोग देखा करते हैं या पाया करते हैं। जिस चीज को जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में कम अभिज्ञता रहने के कारण कभी सोचा नहीं उसी चीज या घटना के सम्पर्क में अचानक आ जाने पर इस मिर्गीरोग का उद्भव होता है। उपयुक्त प्रपाठ (मनस्तात्विक उद्बोधन) के द्वारा इस रोग के आक्रमण को प्रतिहत किया जा सकता है। रोगी की भी मानसिक चिकित्सा और उसके साथ ही कतिपय स्थूल औषधि के प्रयोग द्वारा इस व्याधि की चिकित्सा करनी चाहिए।

सूचीपत्र

विषाद वायुः

क्लान्त मनः। क्लान्त मनस् शब्द का भावारुढ़ार्थ है अवसन्न (उत्साहहीन होकर पड़े रहना), योगारूढ़ार्थ में विषादवायु या Melancholia नामक मानसिक व्याधि। यह विषादवायु या Melancholia है एक प्रकार का वातोन्माद रोग। इसमें रोगी हमेशा अपने को असहाय.....अकेला अनुभव करता है, किसी काम में उत्साह नहीं मिलता। जो काम अवश्यकरणीय या अवश्य पालनीय हैं उन्हें भी करने के लिए वह आगे नहीं आना चाहता। अधिकांश समय उदास बैठा रहता है। जिस वायुरोग में व्यक्ति इस तरह उदास होकर बैठा रहता है, उसी का नाम विषादवायु है।

लेकिन सभी लोग समान रूप से क्लान्त मनः नहीं होते। (और कोई घटना रहती है) जो घटना व्यक्ति विशेष के मन से हताशारूपी विषादवायु को हटा देती है, टूट चुकी अवस्था से मन

को उठाकर उत्साह में पुनः प्रतिष्ठित करती है, वह है क्लान्तिच्छिद् या क्लान्तिच्छेद। उस मामले में सही रूप से मनस्तात्त्विक पद्धति ग्रहण न करने पर अर्थात् उल्टा करने से मनोबल के टूट जाने से व्यक्ति विषाद वायु से आक्रान्त हो जाता है। इसलिए व्यक्ति से बातें करने के समय-विशेषकर जो व्यक्ति घटना के विवर्तन से थोड़ी अस्वाभाविक अवस्था में पड़ गया हो उसके साथ बातें करते समय सतर्क होकर बातें करना उचित है।

उपर्युक्त मानसिक चिकित्सा से यह साध्य है। इस प्रकार के रोग से आक्रान्त व्यक्ति को यदि किसी ऊँचे आदर्श की प्राप्ति हो, मनोसंयोग का अभ्यास या अन्तर्मुखी ईश्वरोपासना का उचित निर्देशन मिले, तो उससे जीवन की धारा सम्पूर्णतः परिवर्त्तित हो सकती है। स्वस्थ, सफल, स्वाभाविक मनुष्य के रूप में वह समाज में सिर उठाकर चल सकता है।

विषादवायुग्रस्त व्यक्ति में आत्महत्या की प्रवणता पायी जाने पर सफेद बेड़ेला की जड़ कानी अंगुली के तीन अंगुली परिमाण में हाथ में बाँध रखने पर लाभ होगा।

कोपवेग (क्रोध)

'कोपवेग' शब्द का अर्थ है कोप का वेग..... कोप का धारा प्रवाह कोप के अति प्रभाव से जब उग्र मात्रा में मनश्चांचल्य दिखाई देता है तब उस स्नायुकोष - का प्रभाव (nerve cell) का प्रभाव बहुत तेजी से स्नायुतन्तु में (nerve-fibre में) प्रसारित और विस्तारित हो जाता है। स्नायुपुञ्ज तेजी से स्पन्दित होने लगते हैं जिसके फलस्वरूप पूरा शरीर थरथर कांपने लगता है। मस्तिष्क पर अत्यधिक दबाव पड़ता है। कोण गत कारण से स्नायुकोष के लगभग सम्पूर्ण रूप से व्यस्त रहने के कारण स्नायुकोष को अन्य कामों को करने का समय वैसा नहीं मिलता। इसी कारण

अत्यधिक क्रुद्धावस्था में भावग्रहण क्षमता जाती रहती है। कोपवेग से वशीभूत होने के फलस्वरूप व्यक्ति की सोचने की सामर्थ्य जाती रहती है। फलस्वरूप स्थितधी होना संभव नहीं होता। कोपवेग-जनित अतिकम्पन के कारण स्नायुकोष अपनी बौद्धिक सामर्थ्य खो देते हैं। बौद्धिक सामर्थ्य खो देने से स्नायुतंतुओं को नियंत्रित करने की सामर्थ्य कम हो जाती है या अंततोगत्वा वे कर नहीं पातीं। कई बार अनेक चालाक लोग शत्रु को कोपवेग में डालकर साधारण तौर पर उसकी बुद्धि को नष्ट करके अपना काम सिद्ध कर लेते हैं..... अपना मतलब हासिल कर लेते हैं।

समाज शासन के लिए प्रयोजनानुसार क्रोध दिखाना या कोपवत् होना चल सकता है। किन्तु भीतरी मन से क्रोध न करना ही उचित है। (क्रोध आने पर उसकी विपरीत भावना लेनी चाहिए।)

अध्याय-4

यकृत रोगाधिकार

अर्श/कोष्ठकाठिन्य, आमाशय रोगाधिकार, पीलिया या कामला रोग

(Jaundice)

सूचीपत्र

ओल (Amorphophallus Campanulatus Roxb) बुनिया साग (Portulaca oleracca), सौंदाल (Cassia fistula linn.)

अर्श (Piles) / कोष्ठबद्धता (Constipation) :

रोग के कारण और लक्षण: तुम लोग जानते होगे कि अर्श रोग मुख्यतः लीवर की त्रुटि से हुआ करता है। असल में यह कोई उदर-व्याधि या मल-नाड़ी की व्याधि नहीं है। रोग का लक्षण पहले कोष्ठबद्धता (अंग्रेजी में Constipation, फारसी में कब्जीयत) के रूप में सामने आता है। उस अवस्था में अत्यधिक कूँथ देने के कारण मलद्वार के बाहर या भीतर कुछ फूल जाता है। यह फूला हुआ भाग जब आकार में और कुछ बड़ा हो जाता है तो उसे 'बलि' कहा जाता है। जो लोग अत्यधिक मांस या तामसिक खाद्य ग्रहण करते हैं उनका मल 'नेड्य' (न+ईड्य) के नाम से जाना जाता है। इस 'नेड्य' से बंगला में 'न्याड़' शब्द आया है। जिनका

मल साधारणतः नेड्य पर्याय में आता है उनके कभी अत्यधिक गुरुपाक भोजन ग्रहण करने से सहज ही कोष्ठबद्धता रोग से आक्रान्त होते हैं। अन्य लोगों की तुलना में उनमें अर्श, भगन्दर रोगों का प्रकोप अधिक होता है।

जिन रोगों में अचानक बुखार बढ़ जाता है, उन रोगों में बुखार के अचानक बन्द हो जाने से या औषधि की सहायता से (बुखार कम करने के लिए) दबाव डालने पर कोष्ठबद्धता तो दिखाई पड़ती ही है, परिणामस्वरूप अर्श रोग भी दिखाई दे सकता है, यदि रोगी की उम्र चौबीस से अधिक हो। यह बात रोगिनियों पर भी लागू होती है। विशेषकर वह रोगिनी यदि बन्ध्या नारी हो।

दो प्रकार के अर्श:

अर्श के मुख्यतः दो प्रकार हैं- मलद्वार के बाहर के अर्श को वहिर्बलि और भीतर की बलि को अन्तर्बलि कहा जाता है।

कहना न होगा कि मलत्याग के समय उस बलि से रक्तपात होता है। वहिर्बलि की अपेक्षा अन्तर्बलि अधिकतर यंत्रणादायी होती है। यकृत की त्रुटि से (Lever) यदि कोष्ठबद्धता बढ़ जाए तो कभी कभी यकृत या लिवर से कूँथ के दबाव से अन्तर्बलि या वहिर्बलि के फटने से जो रक्त निकलता वह रक्तार्श है।

इसलिए रक्तगत विचार से अर्श दो तरह के हैं- रक्तार्श और शुष्कार्श। रक्तार्श होने पर रक्तपात बहुत होता है। (Bleeding or haemorrhage) शुष्कार्श में रक्तपात नहीं होता। लेकिन कहा जाता है अत्यधिक यंत्रणा होती है। व्यक्ति को सोये-बैठे किसी भी अवस्था में आराम नहीं मिलता। अर्श का अंग्रेजी नाम है Piles। आँव या Mucous के साथ अर्श का दूर का सम्बन्ध रहने पर भी निकट सम्बन्ध नहीं है। आमाशय मुख्यतः यकृत का रोग है। अर्श गौणतः अन्तर्बलि या वहिर्बलि का रोग है जो मलबद्धता के कारण या दीर्घकालीन ज्वर भोग के बाद सृष्ट होता है।

सूचीपत्र

औषधि और पथ्य-ओल और लोनी साग अर्श के सम्बन्ध में मौलिक ज्ञान रहने से ही समझ सकते हो कि कोठा साफ रहे वैसा ही खाद्य अर्श के लिए अच्छा है। मलबद्धता जिससे न हो वैसा खाद्य ग्रहण करना अर्श के लिए अच्छा है। मलबद्धता जिससे न हो वैसा खाद्य ग्रहण करने पर लिवर का काम कुछ सहज और सुगम होता है। कोठा साफ रहता है। इसलिए अर्श की अच्छी दवा है ओल। इससे कोठा साफ होता है। अतः रक्तक्षरण और खुजलाहट की संभावना कम हो जाती है। कोष्ठ परिष्कार होता है जिससे आँव बनने की प्रवणता नहीं रहती। इसलिए आमाशय और अर्श दोनों ही के लिए ओल अच्छा है। झोल पेट को ठंडा रखता है और मलबद्धता आने नहीं देता। इसलिए साधारण झोल या जिसे झाल का (कडुवा) झोल कहते हैं, अर्श और आमाशय दोनों के लिए अच्छा है। लेकिन उसमें कच्चे केले का व्यवहार मत करना। कचकेला मलबद्धता लाता है। इसलिए वह उदरामय या अर्श की

दवा नहीं है। पटल का झोल इस मामले में सबसे अच्छा है और निर्दोष खाद्य है। हाँ, ओल से अर्श दूर होता है जिस कारण संस्कृत में ओल का एक नाम अर्शघ्नी है।

भादो के महीने में सूर्यास्त के बाद ओल नहीं खाना ही अच्छा है। औषधीय गुण लाल ओल में अधिक होता है। मुखरोचक सफेद ओल अधिक होता है।

लोनिया साग या नमकीन साग को संस्कृत में कहते हैं 'लोनी'। लोनी की शाखाएँ दो हैं-बड़ी और छोटी- वृहत् लोनी (वृहल्लोनी) और क्षुद्रलोनी। दोनों के गुण प्रायः एक ही हैं। अत्यन्तवर्धित लोनी साग की बड़ी प्रजाति को बृहल्लोनी और छोटी प्रजाति को क्षुद्रलोनी कहते हैं। बिहार में नोनिया या कीन साग कहते हैं। बिहार की महिलाएँ अपने जीतिया पर्व में (जिताष्टमी), छठव्रत में उपवास किया करती हैं। उपवास के बाद

उन्हें मलबद्धता होती है या उदारमय होता है। अधिक दिनों तक वह व्याधि जिसमें न हो इसलिए वे उपवास के पहले और बाद में लोनी साग के बड़े विशेष रूप से खाया करती हैं।

दोनों ही प्रकार की लोनी अर्श की अच्छी औषधियाँ हैं। लोनी साग का झोल भी अच्छा है। लोनी साग नाड़ी को साफ करता है, आँव को उसके आशय से हटा देता है, यकृत के क्रियाकलापों को स्वाभाविक करने में सहायता करता है। अर्श और आमाशय दोनों के लिए मुफीद एक बात याद रखो - "ओल-घोल-झोल।" दूध बहुत लोगों को सहन नहीं होता। पेट में वायु पैदा होती है। लेकिन झोल में वह दोष नहीं है। झोल में दूध का स्वाद जरूर नहीं मिलता है लेकिन झोल में दूध के गुण मिलते हैं।

अर्श और भगन्दर: भगन्दर का अंग्रेजी नाम है Fistula भगन्दर व्याधि के कारण अनेक होते हुए भी मुख्य

कारण है अर्श की पुरानी अवस्था। पुराना अर्श ही भगन्दर का रूप लेता है और मलनाड़ी के भीतर भयंकर यंत्रणादायक प्रदाह की सृष्टि करता है।

अर्श और वायुरोग : (Arterial Hypertension)

वायुरोग में अर्थात् जो लोग रक्तचाप वृद्धि से ग्रस्त रहते हैं उनके लिए रक्तार्श एक ओर कुछ लाभदायक हैं, क्योंकि रक्त के शरीर के निम्नांश से वहिर्गत हो जाने से रक्तचाप प्रशमित होता है।

विधिनिषेध : मलबद्धता में विरेचक (जुलाब) का व्यवहार करना तभी उचित है जब वह असहनीय अवस्था में पहुँच जाता है। अन्यथा नियमित रूप से विरेचक का व्यवहार करने पर शरीर का स्वाभाविक मल निस्सरण क्षतिग्रस्त होता है। अन्त में ऐसी स्थिति आती है जब विरेचक का व्यवहार किए बिना मलत्याग ही नहीं होता। इसलिए परिस्थिति के दबाब में विरेचक

का व्यवहार करने पर भी मृदु विरेचक का ही व्यवहार करना उचित है। मृदु विरेचक के रूप में हर्रे सिझाया पानी, त्रिफला का पानी और सम परिमाण में पुराना गुड़ (ईख का) तथा सोंदाल फल की 'काई' का व्यवहार किया जा सकता है।

तुमने सोंदाल का गाछ जरूर देखा होगा, वसन्त ऋतु में सुनहरे फूलों से पेड़ लदा रहता है। इसलिए संस्कृत में इसका नाम 'स्वर्णाल' है। जापानी चेरी फूल के साथ इसका कुछ मेल है। इसलिए कोई-कोई इसे Indian cherry कहा करते हैं। उर्दू में कहा जाता है अमलतास। कथ्य बंगला में कोई-कोई इसे बन्दर लाठी भी कहा करते हैं। फूलों के झड़ जाने के बाद पेड़ पर लम्बी-लम्बी फलियाँ झूलती रहती हैं। फलियों के बीच एक बीज से दूसरे बीज के मध्यवर्ती स्थान में गूदा होता है।

विरेचक के रूप में अमलतास के कोमल 10/12 पत्तों को घी में भूनकर अथवा विछुटी के 10/12 कोमल पत्तों को घी में भूनकर भात के साथ खाने पर प्रथम अवस्था में सुन्दर फल मिलता है। [अर्श में रक्तसरण होने पर जानुशिरासन लाभप्रद है।]

दही और घोलपानः जो जीवाणु (बैक्टीरिया) दूध को दही में रूपान्तरित करते हैं, दध्यम्ल (दम्बल या जोड़न) की सहायता से वे जीवाणु स्वाभाविक अवस्था में मनुष्य के शत्रु नहीं हैं। लेकिन (दही) में उन कृमियों या जीवाणुओं के मृतदेहों का प्राचुर्य रहने पर वे मनुष्य के लिए शत्रु हो भी सकते हैं। सड़े हुए दही में साधारणतः ऐसा हुआ करता है। इसलिए दही में दुर्गन्ध आ जाने पर उसे कभी भी खाना नहीं चाहिए। दही ताजा अवस्था में रहने पर ऐसे जीवाणुओं के मृतदेह कम - रहते हैं। दही में (चाहे वह मीठा हो या खट्टा) नमक मिलाने से मरे हुए जीवाणुओं के विरुद्धाचरण को कुछ रोका जा सकता है। इसीलिए "दधि लवणेन सह भक्षयेत्।"

हम लोग देखते हैं कि भादों महीने के प्रथमांश और मध्यमांश में पूरी बरसात रहती है। अंतिम भाग में शरत (शरद) की हवा चलती है। अभी-अभी वर्षा समाप्त होने के कारण चारों ओर पानी रहता है, उसके बाद कड़ी धूप पड़ने से जो भाप उड़ती है वह शरीर को भारी और ज्वराक्रान्त कर देती है। इसीलिए भादों के महीने में ज्वर, सर्दी खाँसी, आँख आना, कान पकना अधिक होता है। वात न होने पर भी गले में खुसखुसी इसी समय बहुत लोगों के हुआ करते हैं। शरीर के भारसाम्य की रक्षा के लिए इस समय दोपहर को घोल का सेवन स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। सूर्यास्त के बाद घोल का सेवन स्वास्थ्य के लिए क्षतिकर है। उससे विभिन्न प्रकार की उदर व्याधियाँ हो सकती हैं। स्वास्थ्यरक्षा के प्रयोजन से और संभव होने पर व्यक्ति हर रोज भोजन तालिका में घी को शामिल कर सकता है। इसीलिए कहा गया है-

" दिनान्ते च पिवेत् दुग्धं निशान्ते च पिवेत् पयः

भोजनान्ते पिवेत तक्रं किं वैद्यस्य प्रयोजनम्।"

[तक्र का अर्थ है घोल]

निर्दिष्ट कतिपय रोगों में दधि घोल आवश्यक पथ्य है:

अजीर्ण रोग में तरलभेद से दही और मलबद्धता में चीनी के साथ भैंस के दूध का घोल। स्मरण रहे कि घोल ऐसी चीज है जो डिस्पेप्सिया (अजीर्ण) के रोगी के लिए विशेष हितकारी है।

अम्लरोगी के लिए घोल विशेष उपकारी है, दही विशेष हितकारी नहीं है।

अर्श का रोगी दोनों बेला एक गिलास करके घोल पिएगा।

कर्कट रोग में यकृत की अवस्था समझकर यथेष्ट परिमाण में दूध भी रोगी को ग्रहण करना होगा। यकृत जिनका खराब है वे गौदुग्ध के बदले नारियल या बादाम का दूध अथवा घोल व्यवहार करेंगे।

निम्नचाप के रोगियों के लिए उपवास के दिन दूध, फल का रस प्रभृति व्यवहार करना उचित है। जिन लोगों का रक्तचाप बढ़ा हुआ है उनके लिए दूध के बदले घोल अथवा अल्प परिमाण में नारियल का दूध व्यवहार करना वांछनीय है।

श्वेतप्रदर रोग (स्त्रीरोग) का मूलकारण रक्ताल्पता है। रोगिनी को यदि दूध सहन न हो तब घोल या नारियल का दूध पान करना विधेय है।

दूध और फल हृदय रोग का एकमात्र खाद्य और पेय है। दूध जिन्हें सहन नहीं होता वे दूध के बदले घोल का व्यवहार कर सकते हैं।

पालक साग (Spinach spinacia oleracea linn) का विष्टंभकः साग या पत्रसागों में पालकी एक उत्तम दर्जे का साग है। अधिक मात्रा में खाने से श्लेष्मावृद्धि होती है। अन्यथा यह साग गुणों की खान है। यह साग खाने में मीठा-मीठा, सुस्वादु, शरीर के लिए हितकर प्रभाव सम्पन्न है, कब्जियत दूर करता हैं, हृदयरोग की दवा है (पालकी साग का क्वाथ) श्वास रोग की औषधि है (पालकी साग का रस) लिवर के क्षत की दवा है और विषक्रिया नाशक है। विटामिन से परिपूर्ण यह साग गुण की तुलना में बहुत सस्ता है। भुजिया न बनाकर तरकारी या कीमा में व्यवहार करना अधिक अच्छा है। भुजिया खाना हो तो कम तेल में भूनना चाहिए।

दिन के समय कुछ अधिक मात्रा में पालक का साग खाने से वह मृदु विरेचक का काम करता है। क्योंकि पालक के साग के अनेक गुणों में से एक गुण है कि वह कड़े मल को तोड़ देता है और मल निःसरण में सहायता करता है। संस्कृत में वैसे गुणयुक्त वस्तु को 'विष्टम्भिनी' कहा जाता है।

" पालंक्या मधुरा स्वादु श्लेष्मला हितकारिणी,
विष्टम्भिनी मदश्वास पित्तरक्त विषापहा ॥"

यह गुण थोड़ी मात्रा में मटर साग (कलाय पत्रम्) में भी है [अन्य सागों में भी थोड़े वैसे ही गुण हैं] नीबू का रस (सबसे अच्छा है पाती नीबू पानी का रस) मलबद्धता की अति उत्तम दवा है सुबह खाली पेट में 1/2 नीबू का रस गिलास पानी और लवण के साथ पीने पर बहुत अच्छा फल देता है। इसके अलावा बेल, त्रिफला का पानी भी मलबद्धता दूर करता है।

बेल, बिल्व (wood apple; Aegle marmelos corr.):

संस्कृत शब्द 'बिल्व' से बंगला में 'बेल' शब्द आया है। बिल शब्द का अर्थ है छिद्र, 'बिल्व' अर्थात् जिस वस्तु में छिद्र है अथवा जो वस्तु छिद्र बनाती है। बेल का पर्यायवाची शब्द श्रीफल है पश्चिम विहार में और उत्तर भारत में किसी-किसी जगह प्रचलित है। भारत और बहिर्भारत में नाना प्रकार के श्रेणीविभाग में पाये जाते हैं। पतला खोल, कम बीज, कम गोंद। स्वाद और गंध के विचार से रंगपुरी बेल ही सर्वश्रेष्ठ है।

बेल एक सात्विक फल है वह निकलने का पथ खोजता है, साधारणतः मल के माध्यम से। इसलिए बेल खाने से जल्दी पेट साफ होता है।

पका बेल पुष्टिकर खाद्य है। पके बेल में जो गुण होते हैं, कच्चे वेल या झुलसे बेल में वे गुण तो हैं ही बल्कि बहुत सारे अतिरिक्त गुण भी होते हैं। इसलिए मौका मिलते ही बेल पकाकर शरबत बनाकर पीयोगे। झुलसे बेल में अनेक गुण हैं। पेट को ठंडा रखता है, स्नायुतन्तुओं को ठंडा रखता है। मेधा में भी उत्कर्ष लाता है। (ईख के गुड़ के साथ झुलसा बेल आमाशय/अर्शरोग में उत्तम नाश्ता और औषधि है। शिव ठाकुर शायद बेल बहुत पसन्द करते थे। सुनते हैं श्री अर्थात् पार्वती शिव के लिए बेल संग्रह करना एक पवित्र काम समझती थीं। पार्वती को इस प्रकार कष्ट करके बेल का संग्रह करते देख शिव ने बेल का नाम रखा था 'श्रीफल'।)

बेल का शरबत स्निग्धकारक है और ग्रीष्मकाल में शरीर को सुसन्तुलित रखता है। पकाया बेल या पकाये बेल के शरबत में जो गुण है, बेल के मुरब्बे में उतने गुण न होने पर भी लगभग उतना है। लेकिन बेल तो बारहों महीने मिलते नहीं, जबकि मुरब्बे को

बारहों महीने रख सकते हो। बेल का मुरब्बा यदि चीनी से तैयार न करके ईख के गुड़ से तैयार करो तो उसके गुण और बढ़ जाते हैं।

पके बेल का शरबत न बनाकर यदि पके बेल का पना (पतला शरबत) बना लिया जाए तो उसका गुण पके बेल की अपेक्षा थोड़ा अधिक होता है। बेल का पानी भी ईख गुड़ से तैयार करने पर उसका गुण बढ़ जाता है। स्वाद भी मुझे लगता है कम नहीं होता।

[बेलपत्ता और पपीता का पत्ता एक साथ पीसकर लगाने से पारा या उपदंश (syphilis) के क्षतस्थान का दाग दूर हो जाता है।]

त्रिफला भी विष्टाम्भिनी है:

हरें, आँवला और बहेड़ा (Terminalia belerica roxb) - इन तीनों से त्रिफला बनती है। त्रिफला फुलाया पानी त्रिदोष नाशक के रूप में जाना जाता है। यह जल वायु पित्त कफ इन तीनों की समता बनाए रखता है। यह जल कोष्ठपरिष्कारक भी है।

श्लीपद या फाइलेरिया सम्बन्धी वात ज्वर में दो तोला त्रिफला (तीनों सम परिमाण में) को आधा सेर पानी में सिझाकर आधा पाव रहते उतार कर गरम रहते उसमें दो तोला आदा का रस मिलाकर तीन दिन पान करने से वात ज्वर अवश्य ही अच्छा हो जाता है।

मानकच्चू (Alocasia Indica Schott)

पृथ्वी पर ऐसे अनेक जंगली उद्भिद हैं जिनका मूल लोग प्राचीन काल से व्यवहार करते आ रहे हैं उन मूलों में से जो विशेष स्वादिष्ट और पुष्टिकर हैं, लोगों ने उनका संवर्धन या कल्चर करके

उनका उत्कर्ष किया है। जैसे जंगली कच्चू का लोगों ने दीर्घकालीन संवर्धन के फलस्वरूप सुखाद्य सुभोज्य कालीकच्चू, मुखीकच्चू कमलयोग कच्चू में रूपान्तरित किया है। पानी के कच्चू में कन्द कोई खास नहीं होता। उसका डंठल ही मनुष्य का खाद्य है। इसलिए पानी के कच्चू को पंक में लगाकर लोगों ने उसके डंठल के स्वाद को बढ़ाया है; जंगली मानकच्चू से कृष्ण मानकच्चू, श्वेत मानकच्चू, पद्म मानकच्चू तैयार कर लिया है। जंगली मिटिया आलू से लोगों ने बना लिया है खामालू। जंगली ओल से आज कोचविहार के बड़े ओल, साँतारागाछी और गेंयोखाली के प्रसिद्ध ओल तैयार कर लिया गया है।

हम लोगों के प्रसिद्ध कंदों में से आलू तीन महीने में तैयार हो जाता है। (साधारण) कच्चू और थोड़ा अधिक समय लेता है। ओल एक साल समय लेता है। किसी-किसी प्रजाति का ओल दो साल का भी समय लेता है। मानकच्चू और खमालू तीन साल समय लेते हैं।

कृषि वैज्ञानिकों के लिए उचित होगा कि गवेषणा करके इसकी पूर्णताप्राप्ति के समय को तीन साल से कम कर देना।

पुष्टिकारक, विरेचक, भंगदर की औषधि के रूप में मानकच्चू:

मानकच्चू पुष्टिकारक है, विरेचक है (कोष्ठ परिष्कारक है) प्रथम ग्रास में खाने पर कुछ क्षुधावर्धक है, भगंदर व्याधि की औषधि है। मधुमेह (रोग) रहने पर यथेष्ट परिमाण में मानकच्चू खाने से भी कोई क्षति नहीं पहुँचती। मानकच्चू शरीर को शक्ति प्रदान करता है। पाकस्थली के क्षत में और अल्सर रोग में मानकच्चू (कुछ) उपकारी है।

अर्शरोग में रक्तक्षरण निवारण में दुर्वा (cynodondactylon Linn) कुकसीमा (Blumla lacera D.C.), कैलेण्डुला :

मनुष्य के जो मुख्य खाद्य हैं, वे सब के सब न सही अधिकांश ही घास या तृण वर्गीय हैं। तृण वर्ग की सबसे वृहत् प्रजाति है बाँस और सबसे क्षुद्र प्रजाति है दुर्वा घास (दुर्ध्वा > दुव्वा > दूब)। सबसे छोटी हुई तो क्या हुआ। इसके अन्दर अनेक औषधीय गुण हैं। एक तो खाद्य प्राण से भरपूर हैं, इसके अलावा रक्तक्षय के निवारण में इसके गुण की बातें अनेक लोगों को मालूम है। अन्य कोई उपाय न रहने पर थोड़ी दूब घास दाँत से चबाकर क्षत के स्थान पर लगा देने से रक्तपात बन्द हो जाता हैं। यही गुण कैलेण्डुला वर्गीय फूल के पौधों में भी है जिस कारण कैलेण्डुला एक स्वीकृत होमियोपैथिक दवा है। कुकसीमा या कुकरोंधा के पत्ते भी रक्तपात बन्द करने में विशेष उपयोगी हैं। इस गाछ को देखते ही कुत्ता इसमें मूत्रत्याग करता है। इसलिए बिहार में इसका नाम कुकुरमुत्ता है [विशल्यकरणी के पत्तों के रस में भी बाह्य क्षत के मामले में रक्तपात को रोकने की क्षमता है।]

अर्श रोग में अधिक रक्त गिरते रहने से दिन में दो बार 2/9 तोला परिमाण कुकसीमा, अभाव में दुर्वा का रस पान करने से अच्छा फल प्राप्त होता है।

सेमल रूई कुकसीमा के रस में भिगोकर (अर्श की) बलियों के ऊपर पट्टी की तरह लगाए रखकर कुछ दिन धूप लगाने पर बालियाँ धीरे-धीरे गिर जाती हैं।

[इसके अलावा आमाशय रोग में और नारी के मृतवत्सा रोग में कुकसीमा या दुर्वा का व्यवहार होता है]।

नटे (गंधारी) साग (Amaranthus tristislinn):

नटे या तण्डुलेरक (बिहार में इस साग को 'गेन्हारी' कहते हैं) रुचिवर्द्धक और मलवृद्धिकारक है। इस साग में लोहा काफी है। नटे की विभिन्न प्रजातियाँ हैं। जिस नटे में लोहे का प्रतिशत अधिक होता है, वह कुछ मीठे स्वाद का होता है। चावल धोये पानी के सड़ने से उस जगह नटे साग अपने आप उगता है। नटे साग विष्टम्भिनी है। अर्थात् मलबद्धता दूर करता है। जिनका पेट साफ नहीं होता, वे नियमित न सही, बीच-बीच में नटे साग खाने पर पेट साफ होगा ही। पेट साफ रहना सुस्वास्थ्य का लक्षण है। पेट साफ रहने पर चर्मरोग नहीं होता। साग को काटकर धोना उचित नहीं है। अच्छी तरह धोकर काटना चाहिए क्योंकि काटकर धोने से पानी के साथ साग का मूल्यवान रस निकल जाएगा। काँटा नटे के काँटे [एक अन्य प्रजाति Amaranthus Spinosus Linnऔर मूल विभिन्न प्रकार की औषधियों के काम में प्राचीनकाल से व्यवहृत होते आए हैं।

वकफूल मौलसिरी (Linderria pyscidaria all) :

परिचय और प्रजातियाँ : वकफूल (पेड़ की) अनेक प्रजातियाँ हैं। लेकिन मुख्यतः दो प्रजातियाँ देखने को मिलती है। एक को कह सकते हैं कुछ हस्व, दूसरी है दीर्घ। छोटी प्रजाति का वकफूल (गाछ) मोटे तौर पर ऊँचा होता है और दीर्घ प्रजाति का गाछ बढ़ते बहुत द्रुत गति से हैं। फूल के आकार और आकृति के विचार से वकफूल सफेद, गुलाबी लाल और पंचमुखी जातियों के हुआ करते हैं।

लिवर, किडनी, अग्न्याशय के रोगों में: वकफूल सहजपाच्य है। लिवर,अग्न्याशय और किडनी के लिए बहुत अच्छा है। दाल का बेसन, थोड़ा पिसा चना, पिसी मूंगदाल के साथ वक फूल के बड़े मुखरोचक और शक्तिवर्धक होते हैं। इसके फूल की पंखुड़ियाँ झोल-झाल-कीमा में डाली जाती हैं। फलस्वरूप वह आसानी से शरीर में अंगीभूत हो जाता है।

सूचीपत्र

अन्यान्य व्यवहार: फूलों के झड़ जाने के बाद पेड़ पर लम्बी-लम्बी फलियाँ

आती हैं। दूर से देखने में ये सहिजन की फलियाँ जैसी लगती हैं। वक फूल की फलियाँ लोग नहीं खाते हैं लेकिन फली के बीजों से तेल तैयार होता है। अच्छी तरह परिशोधित करने पर वह तेल भोज्य तेल के रूप में व्यवहार किया जा सकता है। वकफूल की डालियों के कोमल अग्रभाग, पत्ते और फलियाँ खाने से गाय का दूध बढ़ता है। गाय को मृतवत्सा रोग होने पर वक फूल की पंखुड़ियाँ और वकफूल की फलियाँ अच्छी औषधि का काम करती है। गाभिन गाय को भी वक फूल की फलियाँ खिलाने पर सुप्रसव होता है, बाछुर ताकतवर होता है और बछिया बड़ी होकर अधिक दूध देती है।

डूमर (Ficus glomerata Roxb/Ficus hispiata/Racemesa Linn); या गूलर

डूमर एक पुष्पशाक है। अन्य फूल बाहर की ओर प्रस्फुटित होते हैं। ये (डूमर के फूल) अन्तर्मुखी रहते हैं। लिवर के लिए अग्न्याशय के लिए बहुत अच्छे होते हैं। जो दीर्घकाल से उदरामय से ग्रस्त हो या उदरामय की प्रवणता हो, उसके लिए डूमर का हल्दी झोल विशेष कल्याणकारी है। कचकेला की तरह डूमर में लोहा का भाग अधिक होता है इसीलिए कसैलापन अधिक होता है। कचकेला या डूमर का कसैलापन अग्न्याशय के लिए बिलकुल क्षतिकर नहीं है। डूमर (तरकारी) अर्श और बहुमूत्र रोग में विशेष उपकारी है। [डूमर की छोटी प्रजाति ही साधारणतः तरकारी में व्यवहृत हुआ करती है। बड़ा डूमर पकने पर वह फल के रूप में लिवर के लिए अच्छा है। बड़ा पका डूमर सुखाकर मेवे के रूप में भी व्यवहार किया जाता है। उसका गुण भी एक जैसा ही होता है।]

घी करेली (M. dioica Roxb) :

परिचय और प्रजातियाँ: हमारी परिचित साग सब्जियों में से घी करेली अन्यतम है। निर्दोष सब्जी का तात्पर्य जिस प्रकार बहुत लोग पटल से लेते हैं और वह बात जिस प्रकार सही है, ठीक उसी प्रकार और एक निर्दोष सब्जी घी करेली है। घी करेली का खाद्य मूल्य पटल की अपेक्षा थोड़ा सा अधिक है। स्वाद भी थोड़ा सा अधिक है। घी करेली की दो प्रजातियाँ हैं वृहत् और क्षुद्र। घी करेली की लता लम्बी होती है। घी करेली राढ़ में मुख्यतः घी करेली के नाम से परिचित है। वागड़ी (समतट) में काकरोल कहा जाता है। कोलकाता के बाजार में घी करेली और काकरोल दोनों ही नाम प्रचलित हैं।

लिवर, अर्श, मलबद्धता, किडनी के रोग में: लिवर की अस्वस्थता में, किडनी की बीमारी में और कब्जियत में घी करेली (सब्जी के रूप में खाने से) अच्छा काम करती है।

मधुमेह रोग में: घी करेली सब्जी का रस (कच्चा) मधुमेह रोग में उपकारी है।

अन्य व्यवहार: ईश के मूल की तरह (ईश्वरी मूल) घी करेली की लता की गंध साँप को नापसन्द है। इसलिए साँप इसके आसपास भी नहीं फटकता [पहले ही कहा गया है कि उबली हुई घी करेली बुद्धिवृद्धि के लिए सहायक है।]

परवल (Trichosanthas dioica Roxb) :

परिचय और प्रजातियाँ: परवल उत्तर पूर्व भारत की एक मुख्य सब्जी है। क्योंकि इसका आदिवास पूर्व भारत विशेषकर गंगा अववाहिका के साहेबगंज, मालदा, नदिया, और राजमहल इलाके में है।

इसके अलावा परवल राढ़, समतट, मिथिला (बिहार) और उत्कल (उड़ीसा) में अधिक पाया जाता है।

परवल एक इण्डिका वर्गीय पौधा है। बंगला में इसे 'पटोल' तथा संस्कृत में भी 'पटोल' कहते हैं। मगही में सफेद रंग के परवल को कहा जाता है पटल किन्तु हरे रंग के परवल को कहा जाता है 'परवल'। भोजपुरी में कहा जाता है परूआ या परोरा। मैथिली में परोर हिन्दी में भी परवल और अंग्रेजी में कहा जाता है wax gourd या squat gourd। मोटे तौर पर परवल की चार प्रजातियाँ हैं। आज तीन प्रजातियाँ बंगाल की ही हैं। मात्र एक प्रजाति बिहार की है। बंगाल की (काफी लम्बा, लेकिन थोड़ी सफेदी लिए, गाछ में हरे रंग की धारियाँ) ढोलक पटोल (आकार बहुत बड़ा, इस परवल का दोरमा बनता है।)। बिहार के परवल को पश्चिम परवल कहते हैं (आकार छोटा, रंग सफेद स्वाद उतना मीठा नहीं।)

आज से लगभग चार हजार वर्ष पहले तेलाकूचा के साथ कुंदरी का मिलन घटित कराकर परवल का जन्म हुआ है। परवल के साथ लौकी का मिलन घटित कराकर अथवा कुंदरू और तेलाकूचा के साथ (तेलाकूचा डायविटिज रोग की और कुंदरू पाचन तथा अन्य रोगों की औषधि है) परवल के मिलन के फलस्वरूप अच्छे किस्म का परवल तैयार हो सकता है।

परवल और परवल-लता के गुण-अवगुण :

(1) परवल एक सुस्वादु निर्दोष सब्जी है और रोगों में समान रूप से पथ्य है विशेषकर अर्श, आमाशय बहुमूत्र और अम्लरोग में। रोज भोजन तालिका में परवल की तरकारी सुपथ्य है।

(2)परवल की लता के अग्रभाग को पलता कहते हैं। पलता एक तीता भोज्य है और औषधीय गुण से परिपूर्ण है। पलता लिवर तथा यकृत के लिए उपकारी है, यह - रक्त परिष्कारक है, रक्त वर्द्धक है, क्षुधा वर्द्धक है और निद्राहीनता की औषधि है। प्रमेह (गनोरिया), उपदंश (सिफिलिस) चर्मरोग, कुष्ठ और बहुमूत्र रोगों में पलता की तरकारी आवश्यक भोजन है।

[ग्रंथिवात अर्थात् अर्थराइटिस रोग में मुख्यतः पलता और अन्य सामग्रियों की सहायता से एक अच्छी औषधि तैयार होती है-एक मुट्ठी अरहर दाल 1/2 दिन तक पानी में भिगोए रखकर उसके बाद पत्थर पर पीस लें। पलता के पत्ते (मान लो 100 पत्ते) और उसके आधे कालमेघ के पत्ते एक साथ पीसना पड़ता है। उसके बाद दोनों तरह की पिसी वस्तुओं को एकसाथ मिलाकर कड़ापन रहते छोटी-छोटी दवा की गोलियों की तरह बनाकर सुखा

लेना पड़ता है। उसके बाद हर रोज सुबह खाली पेट में 2 गोलियाँ 1/2 बूँद मधु के साथ सेवन करें। अरहर दाल छोड़कर भी कालमेघ के पत्ते और पलता के पत्तों से भी एक ही प्रक्रिया द्वारा वटिका तैयार करके व्यवहार करने पर भी फल प्राप्त होता है।]

(3) जिस परवल का भीतरी भाग अधिक ठोस होता है, उसकी भुजिया अच्छी बनती है। जिस परवल का भीतरी भाग अधिक खोखला होता है उसका दोरमा अच्छा बनता है। बंगाल के लोग छोले की पिसी दाल, मटर की पिसी दाल अथवा छेना भरकर परवल का दोरमा बनाते हैं। भीतर में खोआ खीर भरकर घी में छानकर रस में डाली हुई जो परवल की मिठाई बनती है, उसका मूल जन्मस्थान लखनऊ है।

मूत्रस्तम्भ :

कारण: मूत्र की गति के रुद्ध हो जाने के कारण मूत्रस्तम्भ व्याधि को कवन्ध भी कहा जाता है।

औषधियाँ:-

(1) फुलाई हुई मेथी का पानी (सुबह शाम)।

(2) खजूर का ताजा रस अथवा ताड़ के पेड़ का रस

(3) अर्जुन छाल का क्वाथ मूत्रस्तम्भ की दवा है।

(4) रोज सुबह परिमित मात्रा में खीरा खाने पर मूत्ररोग और मूत्रस्तंभव्याधि में अच्छा फल मिलता है।

बाँस (Bambusa bambos Druco):

परिचय और प्रजातियाँ : तृणवर्ग की सबसे वृहत् प्रजाति बाँस है। जाओल बाँस, मूठी बाँस, मूली बाँस, तलता

बाँस, पलका बाँस- ये सभी अति दीर्घकाय घास छोड़कर और कुछ भी नहीं है। उन्हीं वृहत् तृणों को बाँस कहते हैं जिनमें फूल बीज हों अथवा न हों, बगल से अंकुर निकलता हो, टोकरियाँ तैयार होती हैं और अधिकतर भीतरी भाग पोला रहता है। साधारणतः जो बाँस अधिक दीर्घकाय होते हैं वे अधिक पोले होते हैं। जो बाँस छोटे होते हैं (ऐसे ही बाँस से लाठी बनती है।) वे आकार में अति वृहत् नहीं बल्कि वजन में भारी होते हैं। गाछ भी लोहे की तरह मजबूत होते हैं।

मूत्रस्तम्भ और मधुमेह रोग में : बाँस के पत्ते (दो ढाई छटाँक) एक बाल्टी

पानी में भिगोये रखकर दूसरे दिन सुबह (खाली पेट में) उस पानी को छानकर पीने से (एक कप से एक गिलास रोग की परिस्थिति के अनुसार) मूत्रस्तम्भ और मधुमेह रोग की अच्छी दवा है।

पीलिया या कामला रोग में: कुछ मात्रा में बाँस के पत्ते (एक छटाँक) यदि चार गुना वजन के पानी में उबाले जायँ और बाँस के पत्ते जितने वजन के थे उतना वजन रहने पर उतार कर पानी को छानकर उसके सम परिमाण में खजूर का ताजा रस अथवा आधी मात्रा में ईख का ताजा रस मिलाकर सुबह खाली पेट में पान किया जाए तो वह यकृत रोग में और मूत्र रोग में औषधि का काम करता है।

बाँस पत्तों की तरह शीशम के पत्ते भी मूत्रस्तम्भ, मूत्रश्मरी और मधुमेह रोगों की दवा है (व्यवहार विधि मूत्रस्तम्भ और मधुमेह रोग की तरह।)

दमा के रोग में : दमे की प्रथम अवस्था मे वह पानी व्यवहार करने पर दमा ठीक हो जाता है। बढ़ी हुई अवस्था में

व्यवहार करने पर रोग प्रशमित होता है। और पूरी एक शीत ऋतु के अन्त में सम्पूर्णतः ठीक हो जाता है।

अन्य व्यवहार: गाय के मृतवत्सा रोग में बाँस के पत्ते उबालकर नियमित रूप से खिलाने पर भी गायों का वह रोग दूर होता है। मनुष्य के लिए भी यह उस रोग की दवा है।

बाँस का अँखुआ: केलागाछ की बगल से जिस प्रकार अंकुर निकलता है, बाँस गाछ की बगल से भी उसी प्रकार अँखुआ निकलता है। प्राचीन बंगाल के लोग कई बार अँखुए के माथे पर हाँड़ी से ढँककर छोड़ देते थे। कोमल अँखुआ हाँड़ी के भीतर चक्कर खाता हुआ बढ़ता रहता था। हाँड़ी जब अँखुए से भर जाती तब अँखुए को काटकर अँखुए से भरी हाँड़ी को ले आया जाता था। उस हाँड़ी को तोड़कर उसके भीतर गेंडुली मारे अँखुए

को बंदगोभी की तरह कुचलकर तरकारी पकायी जाती। यह खाने में एक स्वादिष्ट खाद्य हुआ करता था।

केले का मोच : (फूल)

परिचय और प्रजातियाँ: प्राचीन बंगला में मोचा शब्द का अर्थ था बड़े आकार का फूल और मूचि का अर्थ था छोटे आकार का फूल। केले के फूल को मोचा (मोच हिन्दी) और कटहल या नारियल के फूल को मोचि कहा जाता है।

लिवर (यकृत) और प्लीहा रोग में: प्राचीन बंगाल में मोच को एक सुखभोग्य खाद्य माना जाता था। हल्का क्षारयुक्त होने के कारण मोच लिवर और प्लीहा इन दोनों के लिए अच्छा है (तरकारी के रूप में)।

मधुमेह, बहुमूत्र, किडनी, मूत्राशय के रोग में: मधुमेह, बहुमूत्र, किडनी और मूत्राशय की त्रुटि में मोच (इसकी तरकारी) अधिक अच्छा है। कचकेला के मोच में अधिक क्षार रहने के कारण स्वाद थोड़ा कसैला होता है, लेकिन इससे बचने का उपाय भी है। पहले दिन रात को कचकेले के मोच को कुचलकर यदि इमली रसयुक्त हल्के गर्म पानी में भिगोकर रखा जाए और सुबह के समय यदि उस मोच को मसलकर पहले का वह पानी फेंक दिया जाए और फिर एक बार ताजे पानी से धोकर फेंक देने पर कचकेले के मोच में कसैले रस की अधिकता नहीं रहती।

बीजू केले के मोच का स्वाद भी अनुपम होता है और उसमें यदि वह गर्ममोच हो, तब तो फिर कोई बात ही नहीं। ऐसे मामले में लोग पोलाव कालिया छोड़कर मोच की सब्जी खाने के लिए दौड़े आएँगे। अनेक लोग मोच की यह सब्जी खाने के लिए पोखर की मेड़ पर बीजू केले का गाछ लगाया करते हैं।

श्रीमन्महाप्रभु (श्री चैतन्यदेव) इस मोच की सब्जी खाना पसन्द करते थे। कभी कभार जब शान्तिपुर आते थे तब शचीदेवी नवद्वीप से नाव से जाकर वहाँ उपस्थित हुआ करती थीं और महाप्रभु को बेथो साग की भुजिया, पाट साग की चच्चड़ी और मोच की सब्जी खिलाया करती थीं।

बुद्धिजीवियों के लिए: मोच (मोचा) मस्तिष्क को स्वाभाविक रखने के काम में सहायता करता है। इसलिए बुद्धिजीवियों के लिए मोच एक उत्तम खाद्य है (यदि कब्जियत न रहे)।

मोच अर्श की औषधि न होने पर भी प्रतिषेधक हैं अर्थात् कब्जियत की बढ़ी हुई अवस्था न रहने पर लिवर को स्वस्थ रखने के लिए बीच-बीच में खाया जा सकता है।

आमाशय (Dysentery):

लक्षण और कारण : पाचक रस की त्रुटि के कारण मलबद्धता प्राप्त होने पर वह यथाविहित रूप से निःसरित होना नहीं चाहता, मल की उस बद्धता को मलबद्धता कहा जाता है। मलबद्धता को दूर करके कोष्ठ को परिष्कर करने के लिए प्राकृतिक नियम से उदर में एक प्रकार का चिपचिपा पदार्थ तैयार हो जाता है। इस चिपचिपे पदार्थ को संस्कृत और बंगला में 'आम' कहा जाता है। हिन्दी में 'आँव' कहते हैं। यह आम एक तत्सम शब्द है जिसका भावारूढ़ार्थ है कच्ची चीज। जैसे आम-मांस अर्थात् कच्चा मांस।

कच्चा फल अधिक खाने से (कच्चा का अर्थ है बिना पकाये), अत्यधिक मलबद्धता आ सकती है ऐसी चीज खाने से

(जैसे चूड़ा, जौ की लप्सी, कम घी डाला हुआ अरवा चावल, अधिक मात्रा में पोई साग) उन्हें आँतों से निकालने के लिए प्राकृतिक नियमानुसार mucous या आँव बनता है। हमलोग इस अवस्था को आमाशय कहते हैं। जो रोग इस आम (आँव) का आश्रय या आशय है उसे संस्कृत में कहते हैं आमाशय। यही आँव जनित आमाशय है।

यदि मल बद्धावस्था में आँत में रुका रहे, स्वाभाविक अवस्था में आँव या mucous जब उसको ठेलकर बाहर निकालने में अक्षम होता है; तब उसे जोर लगाकर ठेलने से आँत की दीवारों पर चिपका मल हट जाता है किन्तु आँत की दीवारों पर क्षत छोड़ जाता है उस क्षत से जब रक्त निकलता है तब उसे रक्त आमाशय कहते हैं।

खाद्य या पथ्य : (अर्रा के अनुरूप)

सूचीपत्र

औषधि:

(1) आमड़ा (Spondias pinnata kurz): आमड़ा गाछ की डाली को काटने पर छिलके को छुड़ाने पर झरझराकर रस निकलने लगता है। वह रस दुरारोग्य पुरानी आमाशय व्याधि की उत्तम औषधि है। [व्यवहार विधि है] एक उफान के बकरी के दूध के साथ 1/4 मात्रा में आमड़ा का रस मिलाकर लगातार तीन दिनों तक सुबह खाली पेट में खाने से वह मंत्रवत् काम करता है।

अन्य रोगों में आमड़ा की छाल: एक तोला देशी आमड़ा की छाल का रस चीनी के साथ पान करने पर पेशाब का कष्ट दूर होता है।

सूचीपत्र

बकरी के दूध के साथ आमड़ा छाल का रस मिलाकर रोज सुबह पान करने से श्वेतकुष्ठ या धवल रोग में सुन्दर फल प्राप्त होता है।

(2) दुग्धखीरा (दुग्धिका; Euphorbia hirta linn): एक प्रकार की भूमिशायी लता जातीय गुल्म है- पत्ते लम्बाई लिए हुए, वह मीठा भी नहीं, तीता भी नहीं स्वाद में कुछ कसैला होता है, इसकी पत्ती या डाल को तोड़ने पर सफेद दूध जैसा रस निकलता है। वह रस आमाशय और रक्त आमाशय दोनों की दवा है। पका केला (अधिक पका हुआ-वर्धमान अंचल में जिसे मजा केला कहते हैं) छिलका छुड़ाकर घी में भूनकर खाने से वह आमाशय रोग की दवा है। घी में भूने इस गर्म केले में दुग्धखीरा का रस सान लेने पर तो सोने पे सुहागा। आमाशय की यह एक अच्छी औषधि है।

अर्शरोग में दुग्धखीरा: सुबह खाली पेट में दो तोला परिमाण दुग्धखीरा का रस पान करने से अर्श रोग में अच्छा फल मिलता है।

(3) आमाशय में थानकुनी या थुनकुड़ी पत्ता (रस) सबसे अच्छी दवा है [एक या दो चम्मच सुबह खाली पेट में]।

(4) आमाशय रोग की बढ़ी हुई अवस्था में अत्यधिक रक्तक्षरण होते रहने पर सुबह और शाम दोनों बेला रोगी को थोड़ी मात्रा में दुर्वा का रस या कुकसीमा पत्ते का रस खिलाने पर काफी सुफल प्राप्त होता है।

(5) बड़ की बरोह से आमाशय की उत्तम औषधि तैयार होती है। आधा तोला बड़ की बरोह (कच्चा भाग) चावल धोये

पानी के साथ पीसकर खाने से अति अल्प समय में ही अच्छा फल प्राप्त होता है।

जॉण्डिस या पीलिया

(1) जॉण्डिस या पीलिया रोग में कुंदरू और अमरूद के पत्तों को पानी में अच्छी तरह उबालकर वह पानी चाय की तरह करके एक कप दिन में 3/4 बार पीना चाहिए।

(2) यदि जॉण्डिस के कारण यकृत में क्षत पैदा हों तो कच्चे आम के छिलके पानी में उबालकर उसे सिल लोढ़े से पीसकर उसी पानी में मिलाकर दिन में 3/4 बार सेवनीय है।

(3) अकवन के एक मुलायम पत्ते पर ईख का थोड़ा गुड़ मोड़कर चबाकर खा लेने पर जॉण्डिस रोग में अच्छा फल प्राप्त होता है (खाली पेट में नहीं)।

(4) कालमेघ के पत्तों का रस आधा कप परिमाण 15 दिन पीने से भी इस रोग में सुफल प्राप्त होता है।

(5) जॉण्डिस में मूली का रस, ईख का रस सुपथ्य है।

रोग की बढ़ी हुई अवस्था में रोगी को बिछावन पर ही सोये रहना चाहिए। यहाँ तक कि पाखाना पेशाब भी बिछावन पर ही निबटाना चाहिए।

अध्याय-5

प्लीहा रोगाधिकार

प्लीहा, वातरोग/चर्म रोग और रक्तदोष / सम्बन्धी रोग/अस्थिरोग

सप्तपर्णी या लाजवंती (Alostonia Scholarir)

रोग के लक्षण : दीर्घकालीन ज्वररोग के कारण, अत्यधिक नशा के कारण शरीर के लिम्फ या शुक्र की कमी होने के कारण; अथवा अत्यधिक तली भुनी चीजें खाने किन्तु पानी कम पीने से प्लीहा का आकार बढ़ सकता है, प्लीहा रोगग्रस्त हो सकता है इसीलिए प्लीहा के आकार को नियंत्रण में रखना पड़ता है। जिन्होंने दीर्घकाल तक मलेरिया का भोग किया है, प्लीहा वृद्धि

के कारण उनका पेट फूल जाता है। प्लीहा का अपर नाम गुल्म (तिल्ली) है। किसी भी कारण से हो, प्लीहा की रोगवृद्धि होने पर और उस कारण पेट में दूषित वायु का गमनागमन शुरु होने पर उस रोग को गुल्मरोग कहते हैं। वर्धमान के ग्रामीण लोग इसे गुड़मों रोग भी कहा करते हैं।

औषधिः प्लीहा रोगियों के लिए लाजवन्ती की छाल महौषध है। [10/15 ग्राम लाजवन्ती की छाल 3/4 कप पानी में उबालकर 5/6 ग्राम रहते उतार लेना होगा। उसके बाद छानकर दोनों बेला पीना चाहिए।] लाजवन्ती से ज्वर का प्रतिषेधक तैयार किया जा सकता है। लाजवन्ती पर अच्छी तरह गवेषणा होनी चाहिए।

कच्चा आम सुखाकर तैयार किया हुआ अमचूर या आम्रपेशी यकृत और प्लीहा दोनों के लिए अच्छी है। [शेफाली के

पत्तों का आधा कप मात्रा रस में समभाग गाय का कच्चा दूध मिलाकर सुबह खाली पेट में पान करने से प्लीहा रोग में अच्छा फल प्राप्त होता है।]

विधि - निषेध - गुल्म रोगियों के लिए सभी प्रकार का पोई साग खाना पूर्णतः निषिद्ध है।

मलेरिया -

संस्कृत या आयुर्वेद में मलेरिया का कोई नाम नहीं है। एक समय पृथ्वी के विभिन्न भागों में मलेरिया बुखार प्रबल प्रताप से राज करता था। लोगों ने गहराई से पता लगाया कि जहाँ साधारणतः बद्ध जलाशय हैं अर्थात् जहाँ गढ्ढे, नाले, दलदल हैं, वहीं इसका प्रादुर्भाव है। भारत में यह रोग व्यापक तौर पर कुछ पार्वत्य इलाकों में, तराई अंचलों में और पूर्वी भारत में देखा गया

था। यह रोग व्यापक रूप में असम में, बंगाल के मेंमनसिंह जिले में, राजशाही, जशोर, नदीया और वर्द्धमान में पाया जाता था। दलदल का इलाका बंगाल में मच्छर हमेशा से ही थे। लेकिन एनोफिलिस जातीय मच्छर बहुत कम थे। क्यूलेक्स मच्छर की भी वासभूमि डाका (ढाका) जिले के शीतललक्षा से पद्मा के मध्यवर्ती अंचल में सीमाबद्ध थी। इसलिए कभी 'गोद' रोग (अंग्रेजी Elephantitis, संस्कृत में श्लीपद, उर्दू में फीलपाँव) का कुछ प्रादुर्भाव होते हुए भी मलेरिया बिलकुल नहीं था। ब्रिटिश युग की परिगणना से पता चलता है कि ब्रिटिश युग के आरम्भ से बीच के समय तक मलेरिया प्रसिद्ध हुआ था बंगाल के मुख्यतः चार जिलों में। दामोदर में बाँध बनने के फलस्वरूप शाखा नदियाँ बन्द हो जाने से वे मच्छरों के प्रजनन पीठ में परिणत हो गयी थीं। उसी कारण बर्द्धमान मलेरिया का डिपो बन गया था। खड़ी नदी, बाँका नदी, गांगुड़ नदी, बेहुला, काना नदी, काना दामोदर सभी बन्द हो गयी थीं। ठीक उसी प्रकार पद्मा की पूर्वाभिमुखी गति के कारण भागीरथी, जलंगी, खड़े भैरव, नवगंगा, कुमार, चित्र, प्रभृति बन्द

हो गयी थीं। गड़ाई, मधुमती, अड़ियल खाँ, पुराना ब्राह्मपुत्र, फुलेश्वरी, आत्रई, बड़ल, और हूड़ासमुद्र बन्द हो गयी थीं। ये ही बन गए मच्छरों के प्रजनन गृह। दुःख का विषय यह है कि मच्छरों में एनोफिलिस मशकी (मादा एनोफिलिस) मलेरिया की यमदूत थी। मलेरिया की महामारी के फलस्वरूप बरबाद हो गया नदिया, जशोर, फरीदपुर, बर्द्धमान और राजशाही। जो नदिया कभी साहसिकता में और शारीरिक सौन्दर्य में प्रसिद्ध था, वह अंधकार की अतल गहराई में डूब गया था। मलेरिया के प्रकोप से (पुराना) नदीया जिले का मेहरपूर और गांगनी उजाड़ हो चला था। सुनते हैं मेहरपुर थाने में कहीं-कहीं मलेरिया के डर से महिलाएँ मलाई *चण्डी का व्रत (जैसे हैजा या कॉलरा के डर से ओलायचण्डी का व्रत) किया करती थीं। उस व्रत में शायद छातिम पत्तों में मोड़कर कुनैन एक लोटे की मात्रा में एक उफान के गाय के दूध के साथ खाना पड़ता था। कृष्णनगर म्युनिसिपैलिटी को कई बार इलाके में कर कम करना पड़ा था। क्योंकि शहर के किसी-किसी इलाके में करदाता लोग निर्वंश हो गए थे।

सूचीपत्र

मलेरिया की महामारी से वर्द्धमान के अनेक गाँव समाप्त हो गए। जिले की जनसंख्या प्रायः आधी हो गयी। लोग पहले से इस रोग से परिचित नहीं थे। इसलिए इस रोग का कोई बँधा बँधाया नाम शुरु में नहीं था। साहब लोग सोचते थे कि खराब, दलदली इलाके में यह रोग होता है। इसलिए अंग्रेजी में इसे नाम दिया गया Mal-areal- fever अर्थात् खराब अंचल का बुखार। बाद में हिज्जे बदलने से हो गया Malaria (मलेरिया)। बंगला में भी इस रोग का नाम नहीं था। लोगों ने इसे नाम दिया वर्द्धमान ज्वर। इस रोग के लक्षण हैं, हूँ हूँ, कुई कुई, करके काँपना। उसके बाद पसीने देकर बुखार छूट जाता। (प्लीहा बढ़ने के अलावा) मलेरिया बुखार के बाद दो लक्षण रोगी के शरीर में अवश्य ही दिखायी देते। एक लक्षण था होंठ में दाने अर्थात् होंठ पर बड़े-बड़े फोड़े उठते थे, और सिर के बाल झड़ जाते थे, (महिलाओं के बाल) बन जाते थे गिलहरी की पूँछ अर्थात् गिलहरी की पूँछ की तरह। वेणीशोभा या

चोटी में शोभा नहीं रहती। [प्लीहा वृद्धि प्रायः अनिवार्य परिणाम होता था]

सिन्कोना एक मूल्यवान औषधीय गाछ है। इस गाछ के रस से मलेरिया बुखार की प्रसिद्ध कुनैन दवा बनती है। मलेरिया रोग से छुटकारा के लिए कभी-कभी अतिमात्रा में कुनैन का सेवन करना पड़ता है। उससे हो सकता है रोग को रोक दिया गया, लेकिन सिर चकराने का रोग उपस्थित हो गया। मिजाज चिड़चिड़ा हो गया। ये सभी औषधि की प्रतिक्रियाएँ हैं।

मलेरिया से छुटकारा पाने का सबसे बड़ा उपाय है एनोफिलिस मशकी के डंक से बचने की व्यवस्था करना और एनोफिलिस मशकी की वंश वृद्धि को रोकना है।

धस्तुर - धुस्तर - धुतुरा/धतूरा :

परिचय और प्रजातियाँ: धस्तुर का अर्थ है धतुरा/धुतरो (बंगला)।

धतूरा फल और फूल साधारणतः सफेद रंग के होते हैं। काले रंग का धतूरा (फूल और फल) दुर्लभ होते हुए भी अलभ्य नहीं है। इस काले धतूरे में औषधीय गुण पर्याप्त मात्रा में है। कृष्ण धस्तुर का तात्पर्य इस काले धतूरे से ही लियाजाता है।

धतूरे के फूल से विभिन्न प्रकार की औषधियाँ तैयार की जाती हैं। (1) काले धतूरे के फल से पाराथायराइड ग्लैण्ड़ (वृहस्पति ग्रंथि) की भी दवा तैयार की जाती है। (2) यही गुण सप्तपर्णी 'लाजवन्ती' में भी है। (3) औषधीय उद्भिद के रूप में सफेद इन्द्रायण के गुण काले धतूरा से कुछ मिलते हैं। (4) कंटकयुक्त धतूरा फल से जो मलहम तैयार होता है उससे शरीर में कान्ति या काञ्चन प्रभा बढ़ती है जिस कारण धतूरा फूल का एक

नाम काञ्चन है। [धतूरा एक विष है। अतः जानकार व्यक्ति द्वारा औषधि निर्माण किया जाना उचित है।]

वातरोग (Gout)

रोग के लक्षणः रक्त में अम्लदोष बढ़ जाने पर वात रोग की सृष्टि होती है। यहाँ वातरोग का तात्पर्य विशेषकर ग्रंथिवात (गठिया वात) से है।

औषधिः यह वातरोग किसी औषधि के वहिः प्रयोग से बहुत अच्छी तरह दूर नहीं होता। लेकिन सामयिक तौर पर उपशमन होता है। वातरोग में मालिश जातीय वस्तुओं में से जो उत्तम दर्जे की हैं उनमें से कई का उपादान है धतूरा का फल। (1) कंटकयुक्त धतूरा फल खाद्य के रूप में विषाक्त होते हुए भी कभी कभार ब्राह्य प्रयोग के लिए अच्छा काम आता है। लेकिन

कृष्णधतूरे के फल में यह गुण कुछ अधिक है। [इसके द्वारा सिद्धतेल विशेषतः उपयोगी है]

(2) गेंदाल के पत्ते (10/12) करछी पर सेंककर रोगग्रस्त स्थान पर

मजबूती से बाँध रखने पर अथवा कदम के ताजे पत्तों को थोड़ा सेंककर फ्लानेल या अन्य किसी ऊनी कपड़े से बाँध रखने पर भी उपकार होता है।

"एक शिरा आर गोद वात
साख बाँधो कदम पात
बाँधते पारो गाँदाल पात ॥

(3) इसके अतिरिक्त गुलंच का क्वाथ ठंडा करके रोज सुबह पाँच तोला मात्रा में खाने पर वातरोग में थोड़े ही दिनों में अच्छा फल मिलता है। रोगी के कोष्ठ परिष्कार की ओर खास नजर रखनी चाहिए।

खाद्य और पथ्यः उत्तम कोटि के प्रलेप के व्यवहार के साथ ही खाद्य के रूप में क्षार जातीय वस्तुओं का व्यवहार बढ़ा देने पर वातरोग का स्थायी उपशमन हो सकता है। (साधारणः कषाय स्वाद युक्त भोज्य वस्तुओं में क्षार का आधिक्य होता है।)

[रोगी स्नानविधि मानकर चलेगा और आतप स्नान करेगा।]

कटिवात : Lumbago

रोग के लक्षण और कारण : मेरुदण्ड की संयोजक अस्थियों में चूर्ण (चूना) जम जाने से वह कड़ा हो जाता है। शिशु के मेरुदण्ड में जो नमनीयता रहती है, वयस्क में वह नहीं रहती। दीर्घकाल तक अधिक झुककर काम करते-करते कटि की अस्थि अपने उध्वांश से निम्नांश में कुछ अलग हो जाती है। इससे कटि में कड़ापन बढ़ जाता है। तब फिर वह सीधा होकर रह नहीं सकता। वक्र या कुबड़ा हो जाता है। कटि का कड़ा भाग तब उसके लिए भार लगने लगता है।

बुद्धिजीवी लोग प्रायः एक ही जगह कुर्सी पर, एक ही आसन पर लम्बे समय तक बैठे रहने के कारण उनकी कमर की ओर रक्त संचालन क्रिया व्याहत होती है। वह व्यक्ति यदि अधिक आमिषभोजी हो तो रक्त में अम्लभाग की वृद्धि के कारण उनके कटिप्रदेश में जो वात होता है, वही है कटिवात। यह रोग प्राणघातक न होते हुए भी कष्टदायक है। [यह वात] किसी भी

व्यक्ति के कटिप्रदेश के जोड़ को आहत करता है और अन्ततः चरम विपर्यय ले आ सकता है। उस व्याधि को अर्थात् कटिवात (lumlogo) को संस्कृत में इसीलिए 'ग्रीधसी' या 'गीध्रसी' कहा जाता है।

औषधि और चिकित्सा: जिन्हें कमर झुकाकर अधिक देर तक काम करना पड़ता है, वे यदि रोज नियमित रूप से नौकासन, पश्चिमोत्तासन और शलभासन का अभ्यास करें तो यह व्याधि होने की संभावना नहीं रहती।

विशुद्ध सरसों तेल में (पीली सरसों) काले धतूरे का फल छोटा-छोटा काट कर अच्छीतरह भूनकर एक आना परिमाण अफीम मिलाकर, थोड़ी देर आँच पर रखकर उतार लें, फिर उसे महीन कपड़े से छान लेने पर जो तेल प्राप्त होता है, वह कटिवात की औषधि है।

खाद्य और पथ्य : रोगी को क्षार जातीय तरकारी और क्षार जातीय फल अधिक परिमाण में खाने का परामर्श देना उचित है जैसे- मोचा, थोड़, कचकेला, काला जामुन, कटिवात रोगी के खाद्य, पथ्य और औषधि तीनों है। (किन्तु मलबद्धता रहने पर मोचा - थोड़ - कचकेला न खाना ही अच्छा है।)

विधिनिषेध : लोमरिपु का आधार कटिदेश है। जो औदरिक (पेटू) हैं, वे पचास पार करने के पहले ही कटि देश सम्बन्धी विभिन्न व्याधियों से ग्रस्त होते हैं। साधारणतः अधिकांश लोगों को पचास में पहुँचते ही कुछ कटिवात होता है वयोवृद्धि के कारण चूर्ण धातु के जमने के फलस्वरूप। साठ के बाद तो प्रायः सबको ही होता है।

मलहम: औषधार्थ रोग के प्रशमन के लिए शरीर में जो लेपन किया जाता है उसको अनुलेपनी नहीं कहा जाता: कहा जाता है प्रलेप (प्रः-लिप्+ घञ् अर्थात् प्रकृष्ट रूप से लेपन करना); फार्सी में मलहम, बंगला में मलम, अंग्रेजी में ointment व्यथा प्रशमन के लिए अथवा शरीर की जकड़ दूर रखने के लिए यदि कोई मलहम व्यवहार किया जाता है, अंग्रेजी में Ointment न कहकर कहा जाता है balm उ या प्रलेप। इसलिए मलहम को अनुलेपनी नहीं कहेंगे। केवल शरीर में जो लेपन किया जाता है, प्रकृष्ट रूप से नहीं ऊपर ऊपर, वह है लिप्+घञ् = लेप या अनुलेपनी ।

फूलगोभी - बन्दगोभी - लेटिस :

परिचय और प्रजातियाँ: तुमलोग जानते होगे कि फूलगोभी बन्दगोभी

लेटिस, ब्रोकोलि ये सभी शुरु में एक ही प्रजाति के थे। उन्हीं के कुछ दूर के गोतिया थे कुकसीमा, कैलेण्डुला और पोपी के पूर्वजगण। कुकसीमा, कैलेण्डुला और गेंदा वर्गीय गाछों में रक्तक्षरण निवारण की क्षमता है। इसीलिए उनसे इस प्रकार की औषधियाँ भी तैयार होती हैं। गोभी में भी इस प्रकार के गुण अल्प मात्रा में हैं। प्राचीनकाल में एक रहते-रहते बाद में लेटिस प्रशाखा और फूलगोभी प्रशाखा अलग हुई। फूलगोभी प्रशाखा में आ गए एक साथ अनगिनत सफेद और पीले रंग के फूल। हम लोग सोचते हैं कि फूलगोभी शायद एक फूल है। नहीं, नहीं, वैसा नहीं है, एक फूलगोभी अनगिनत फूलों का समाहार है। लेटिस और बंदगोभी भी बहुत कुछ एक है। लेकिन लेटिस बँधती नहीं, बंदगोभी बंधती है; इतना ही अन्तर है। ब्रोकोलि फूलगोभी जातीय भी होती है और बंदगोभी भी जातीय होती है। एक फूलगोभी के गाछ में एकाधिक फूलगोभी होने पर या एक बंदगोभी गाछ में एकाधिक बंदगोभी होने पर उसे कहते हैं ब्रोकाली। फूलगोभी पुष्पसाग के अंतर्गत है।

बंदगोभी का शोरबा अस्थिरोग (हड्डी के रोग) की दवा है। उबाली हुई फूलगोभी नमक और थोड़े मसाले के साथ खाने से वह अस्थि और चक्षुरोग की दवा है। फूलगोभी का फूल थोड़ा गुरुपाक है।

गुण में लेटिस और बंदगोभी दोनों ही पत्रशाक वर्गीय होते हुए भी लेटिस जल्दी हजम होती है। इसीलिए उससे सलाद बनाकर कच्चा खाया जाता है। बंदगोभी उतनी जल्दी हजम नहीं होती। इसलिए उससे सलाद बनाकर खाया नहीं जाता। पत्रशाक के रूप में बंदगोभी और लेटिस में जो गुण है वे अधिक कड़वा नमक तेल से पकाने पर नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उन्हें नाममात्र तेल देकर भाप से सिझाकर झोल राँधकर खाना ही अच्छा है। झोल और कोफ्ते में जितना तेल डालोगे, उतना स्वाद बढ़ेगा। झोल में

नाममात्र तेल छींट देना पड़ता है। झोल में शुरु में थोड़ी मात्रा में गोटा सरसों मामूली गरम करके डाल देने पर स्वाद थोड़ा बढ़ता है।

दण्डशाक:

दण्ड शब्द का अर्थ है डंठल या डाठ जैसे, मीठा डाठ या मीठा गंधारी, कटुआ का डाठ, रामपुरहाट का डाठ इत्यादि। यह दण्डशाक दाँत और दाँत की कलई की औषधि है। कैल्शियम पर्याप्त मात्रा में रहने के कारण अस्थिरोग की भी दवा है। सभी लोगों को सप्ताह में कम से कम एक बार दण्डशाक (डाठ साग) खाना उचित है। [चना साग, जामुन, चितरीदार केला अस्थि की शक्ति बढ़ाने में सहायता करते हैं।]

नीम : (Margosa Indica)

परिचय और प्रजातियाँ: विश्व में नीम की अनेक प्रजातियाँ हैं:

कोई खूब तीता, कोई कम तीता, या कोई बिलकुल तीता नहीं, जैसे मीठा नीम या करी पत्ती। भारत की जिन जगहों पर तेजपत्ता नहीं उगता वहाँ के लोग तेजपत्ता के बदले इस मीठे नीम या करी पत्ती का व्यवहार किया करते हैं।

साधारण नीम जो हमलोग देखा करते हैं, वह मूलतः भारतीय उत्स का है। इसे देशी नीम कहा जाता है। नीम शब्द सुप्राचीन संस्कृत निम्ब शब्द से आया है। (निम्ब> निम्बू निम; हिन्दी में ई कार लगाकर लिखा जाता है नीम) । पृथ्वी के विभिन्न देशों के प्राचीन साहित्य में नीम की बातें हैं। बहुत ठंडे देश को छोड़कर सर्वत्र ही उगता है। यहाँ तक कि थोड़ी-थोड़ी मरुभूमि की

आबोहवा भी नीम सहन कर सकता है। भारत और एशिया में इस साधारण नीम गाछों की ही संख्या अधिक है।

भारत में अधिक तीता जो नीम पाया जाता है, बंगला में उसे घोड़ा नीम-उर्दू में 'बकायन' कहते हैं, संस्कृत में 'महानिम्ब' या 'केशमुष्टि'। इसका गाछ आकार में थोड़ा बड़ा, पत्ते नुकीले, फल कुछ गोलाकार होता है। घोड़ा नीम गाछ का दैर्ध्य साधारण नीम की अपेक्षा अधिक होता है। घोड़ा नीम के पत्ते साधारण नीम के पत्तों से भिन्न होते हैं। भारत में सर्वत्र इस घोड़ानीम के गाछ देखे जाते हैं। गाछों की संख्या साधारण नीम की अपेक्षा कम होती हैं। क्योंकि खाद्य के रूप में लोग इसके पत्ते नहीं खाते जिस कारण गाछ भी कम लगाते हैं।

रक्तदोष और चर्मरोग में नीमः औषधि के रूप में साधारण नीम का आभ्यन्तरिक और बाह्य दोनों ही व्यवहार है।

इसके पत्तों, अग्रभाग, छाल बीज इत्यादि से औषधि बनती है। नीम के पत्तों का रस अल्प परिमाण में खाना रुचिवर्द्धक और रक्तशोधक है। नीमपत्तों का रस बाहरी क्षतों पर प्रलेप के रूप में भी व्यवहार किया जा सकता है। [नीम के पत्ते उबालकर वह पानी artiseptic हो] नीम के पत्तों के रस के साथ तैयार नीम-तेल या नीम-घी चर्मरोगों की दवा तो है ही, नीम बीज का तेल भी चर्मरोगों की महौषधि है। [कुष्ठरोग में नीम छाल का क्वाथ एक औषधि है] नीम गाछ की छाया शरीर के लिए बहुत अच्छी है। नीम की छाल लघु चर्मरोग की दवा है। घोड़ा नीम में भी औषधीय गुण अपरिसीम है। चर्मरोग में बाह्य प्रयोग में यही नीम सबसे सुन्दर फल देता है। इस गाछ की हवा किसी भी चर्मरोग के लिए अच्छी तो है ही, मलेरिया और अनेक प्रकार के ज्वर रोगों की भी दवा है। छोटे गाँव में कम से कम एक और बड़े गाँव में एकाधिक केशमुष्टि या घोड़ानीम का गाछ रहना अच्छा है। नीम गाछ का रस (Aqua Margosa) खाने पर जिन्हें आमाशय या अर्श रोग है उन्हें साधारण नीम ही खाना चाहिए। लेकिन जिन्हें आमाशय या अर्श

रोग उन्हें.... नही है। वे घोड़ानीम गाछ का रस भी ले सकते हैं। घोड़ानीम गाछ की जड़ की छाल 3/4 तोला मात्रा में पानी में उबालकर ऋतुकाल में (महिलाएँ) रोज प्रातः सेवन करें तो ऋतु साफ होती है।

तिक्त भोज्य के रूप में नीम का व्यवहार वसन्त ऋतु में नीम भक्षणः पहले कौर में भुने नीम पत्ते खाना पेट को दुरुस्त रखता है और कृमि रोग से रक्षा करता है लेकिन घोड़ा नीम को भोज्य के रूप में व्यवहार करना उचित नहीं है। अत्यधिक तीता होने के कारण एक दिन में अधिक खाने पर अथवा लगातार कई दिनों तक खाने पर रक्तामाशय होने की संभावना रहती है।

वसन्त ऋतु में नीम का पत्ता महोपकारी औषधि है। इसके प्रभाव से चर्मरोग विनष्ट होता है, खून साफ होता है, रक्तदोष दूर होता है। वसन्ते भ्रमणं पथ्यं अथवा तिक्त भोजनम् - वसन्त काल में

भ्रमण करने पर जो लाभ मिलेंगे, पथ्य के रूप में तीता खाने पर वैसे ही लाभ प्राप्त होंगे। वसन्तकाल में हफ्ते में कम से कम दो दिन, अधिक से अधिक तीन दिन प्रथम कौर में नीम बैगन की भुजिया खानी चाहिए। उससे एक साल तक चेचक की व्याधि नहीं होगी। इस मामले में साधारण नीम न मिलने पर घोड़ा नीम भी खा सकते हो, लेकिन उसे कम मात्रा में खाना अर्थात् अधिक मात्रा में बैगन मिलाकर। [बसन्त ऋतु में नीम झोल अथवा नीम चटनी भी स्वास्थ्य वर्द्धक और रोग प्रतिरोधक है]

नीम-तेल और नीम-घी: नीम के बीजों का तेल त्रिदोषज है। और चर्मरोगों की दवा है। नीम घी और नीम तेल साधारण नीम से भी बनता है और घोड़ा नीम से भी बनता है। लेकिन घोड़ा नीम का तेल अधिक फलदायक है। नीम पत्तों के रस से तैयार नीम घी संक्रामक चर्मरोग की दवा है।

नीम तेल तैयार करने की प्रणाली: नीम के पत्तों को कुचलकर या पीसकर रस निकाल लो। रस के परिमाण (मान लो) का आधा परिमाण तिल-तेल मिलाकर उबाल लो। तेल का परिमाण जितना था, खौलने के बाद उतनी मात्रा में अवशिष्ट रहते उबालना बन्द करो। ध्यान रखोगे कि तेल जले नहीं [नीम-घी भी उसी प्रणाली से बनता है] अन्तर केवल यही है कि तिल-तेल के बदले गाय का घी व्यवहार करना चाहिये।

नीम-मधु और अकाल-वार्धक्य: नीम फूल के मधु में विशेष कतिपय गुण हैं। नीम-फूल का मधु केवल एक पुष्टिकर खाद्य और उन्नत स्तर का शर्कराप्रतिभू है ऐसी बात नहीं है। नीम फूल का मधु एक उन्नत दर्जे की दवा भी है। अल्प मात्रा में नीम का मधु खाने पर एक ओर जिस प्रकार लिवर के लिए कल्याणकारी है दूसरी ओर उसी प्रकार रक्त-गतिवर्द्धक भी है; किसी-किसी वैद्यक शास्त्र के अनुसार **आयुवर्द्धक** भी है। इस

मामले में साधारण नीम और घोड़ा नीम दोनों ही समानरूप से उपकारी है। **अकाल वार्धक्य** की उत्तम श्रेणी की दवा है नीम मधु। तुम लोगों ने देखा होगा कि किसी-किसी लड़के में 25/26 वर्ष की उम्र होते ही वार्धक्य अथवा बुढ़ापे के विविध लक्षण आ जाते है। उठना-बैठना नहीं चाहता, हमेशा सोये रहना पसन्द करता है। थोड़ा ठंडा में ही गले में मफ्लर बाँधता है... वर्षा में घर से बाहर नहीं निकलता। [ऐसे मामलों में नीम मधु का व्यवहार करना उचित है। जहाँ एक या एकाधिक नीम गाछ हैं वहाँ प्राकृतिक उपाय से तैयार मधु छत्ते से नीम-मधु का संग्रह किया जाता है। इसके अलावा उन स्थानों पर मधुमक्खी पालन के माध्यम से अर्थात् Bee keeping या Bee boxes से प्राप्त नीम-मधु भी काम आता है।

अन्यान्य रोगों में व्यवहार: नीम की जड़ **यकृत** संबंधी रोगों की दवा है। नीम का रस **मधुमेह** रोग की दवा है। रक्त शर्करा

का भाग कम करने में भी यह सहायता करता है। "**अर्श** की वलियों के ऊपर कोमल नीम पत्तों से तैयार नीम-घी थोड़ी गरम अवस्था में लगा देने पर कुछ ही दिनों के अन्दर रोग अच्छा हो जाता है। शयन के पूर्व भी नीम घी का व्यवहार करना वाञ्छनीय है।"

नीम और पञ्चवटी : नीम की **हवा कृमि विनाशक** (कृमि का अर्थ है वैक्टीरिया, रोग जीवाणु) तो है ही, **शत्रु स्वभाव के माइक्रोवाइटम** के विरुद्ध जूझ सकती है। इसीलिए स्वीकृत पंचवटी में नीम अन्यतम है। पुराने जमाने में लोग रोग जीवाणु विमुक्त परिवेश में साधना करना चाहते थे। इसलिए वे साधनास्थल पर पंचवटी की रचना किया करते थे (नीम बेल, सेमल वट और अश्वत्थ) कुछ लोग विकल्प से आँवला को भी मानते हैं। पंचवटी में साधारण नीम के बदले महानीम भी चल सकता है।

पर्यावरण संरक्षण : नीम का पत्ता कपड़ों में रहने वाले कीटों की भी दवा है (नीम की लकड़ी काफी उन्नत दर्जे की है। नीम का गाछ बादलों को आकाश से खींच लाता है, भू क्षरण को रोकता है और घनी छाया देता है।

आजकल नीम के तेल से साबुन, टूथपेस्ट और विभिन्न प्रकार की स्वास्थ्य की दवाएँ बनाने का उपादान है। नीम का दतवन (दातून) दाँतों के लिए उपकारी है।

गंधक का व्यवहार (चर्मरोग दाद) :-

गन्धि + कन अथवा गन्धईकन गन्धिक शब्द का अर्थ है गंधक जो पत्थर गंधक या गंधाश्म से परिशोधित करके प्राप्त होता है। सुप्राचीन काल से ही चर्मरोग की औषधि के रूप में गंधक का व्यवहार चला आ रहा है। आयुर्वेद, हकीमी चिकित्सा, एलोपैथी तीनों में चला आ रहा है। आधुनिक काल में होमियोपैथी

चिकित्सा के मत से चर्मरोग की औषधि के रूप में सल्फर का व्यवहार है। उदररोग या अन्य किसी रोग के अवदमन के फलस्वरूप यदि अन्य कोई रोग पैदा हो, तब सल्फर अच्छा फल देता है।

मर्वयूरिक सल्फाइड या रससिन्दूर या मकरध्वज तैयार करने के लिए गंधक का प्रयोजन है। बाह्य व्यवहार से गंधक चर्मरोग को जल्द दूर कर देता है किन्तु रोग विष को शरीर के भीतर प्रविष्ट करा देता है और कालक्रम से अन्य रोगों या चिर आमाशय (chronic dysentery) का रूप लेता है। किसी-किसी मामले में कान में पीवा पैदा होती है अथवा तुतलाहट पैदा होती है; किन्तु अल्प मात्रा में वाह प्रयोग से वैसी कोई प्रतिक्रिया दिखायी नहीं देती। दद्रु (दाद), कण्डु (खुजली) प्रभृति प्रचलित अधिकांश रोगों में यह गंधक व्यवहृत होता है।

अत्यधिक सूक्ष्म मात्रा में विशेष विधि के अनुसार यदि गंधक का आभ्यंतरिक व्यवहार किया जाए, तो पहले वह चर्मरोग को उभार देता है। उसके बाद उसे अच्छी तरह दूर कर देता है, प्रतिक्रिया कोई खास नहीं होती।

थोड़ी बहुत प्रतिक्रिया होने पर काँटा सीज मनसा के रस की एक बूँद (त्रिशिरासीज या पत्रहीन मनसा) मिले दूध से दही जमाकर दूसरे दिन सुबह खाली पेट में उस दही का शर्बत पान करने पर प्रतिक्रिया समाप्त होगी किन्तु तीन दिनों के अंदर ही [उस घोल को पीने के थोड़ी देर बाद ही रोगी को उल्टी हो सकती है। बार-बार दस्त लग सकते हैं। ऐसा होगा ही, ऐसी बात नहीं है। यदि हो भी तो डरने की बात नहीं है। कुछ देर बाद स्नान करके एक गिलास मिश्री का शर्बत पान करते ही दस्त इत्यादि बन्द हो जायेंगे। वह प्रतिक्रिया निर्दोष हो जाती है।

रेंड़ी का तेल या किरासन तेल के साथ गंधक को घिसकर उसे क्षत के स्थान पर लगाने से दीर्घकालीन दाद रोग अच्छा हो जाता है।

वीरभूम में हिंगलो नामक जो नदी है, उसका भी प्राचीन नाम हिंगुला था। ऐसे नाम के दो कारण हो सकते हैं। इस नदी के राढ़ की रक्तमृत्तिका विधौत होने के कारण उसका रंग लालीयुक्त रक्त हरिद्राभ वर्ण है। अथवा इस नदी की अववाहिका में (गंधक) पत्थर या विभिन्न धातुओं के रंग मिश्रित होने के कारण पानी का रंग सिन्दूर या हिंगुल वर्ण का हो गया। इस सिढुं या हिंगुल से प्राचीन भारत में जो पारद या पारा तैयार होता था, आयुर्वेद में उसे "हिंगुलोत्गु पारद" कहा जाता था। औषधि के निर्माण में विशेषकर यौन व्याधि की चिकित्सा में एक समय आयुर्वेद में यथेष्ट परिमाण में इसका व्यवहार था।

राढ़ में एक सुदीर्घ भू - निम्नस्थ भू-स्तरीय रेखा है- वीरभूम के वक्रेश्वर से नानूर तक आकरिक गंधक से समृद्ध। वहाँ का पानी इसीलिए उष्ण है और स्वास्थ्यप्रद है। [विशेषकर चर्मरोग में इस जल में स्नान करना बहुत फलप्रद है] इस जल में कुछ स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। [राढ़भूमि में इस प्रकार के और कई स्वास्थ्यकर 'झरने' हैं।]

दाद (ददु):

बंगला में जिसे दाद कहते हैं, अंग्रेजी में उसे ring worm कहते हैं, क्षतिकर कुष्ठ की तुलना में दाद मामूली है और दाद की तुलना में धर्मचर्ची (घमौरी) मामूली है। क्षतिकर कुष्ठ की तुलना में मामूली होने पर भी दद्रु (दाद) उपेक्षणीय नहीं है। जो दाद दूसरों के स्पर्श से वाहित होकर आते हैं, जो दाद घर्षणजात हैं, जो दाद शरीर के संधिस्थलों पर घर्षणजात हैं या पसीने से उत्पन्न हैं, वे

तुलनात्मक विचार से बहुत अधिक क्षतिकर नहीं हैं। इस प्रकार के दाद यदि किसी औषधि के बाहरी प्रयोग से (वे औषधियाँ अधिकतर गंधक घटित होती हैं) ठीक हो जाएँ तो उनकी कोई खास प्रतिक्रिया नहीं होती। यदि कोई प्रतिक्रिया होती भी है, तो वह ठीक हो सकती है। जो दाद अपने आप शरीर के विशेष विशेष स्थानों, विशेषकर पेट, पीठ, जंघा पर निकलती हैं, उनकी उपेक्षा न करना ही अच्छा है। उन्हें दवा के वहिः प्रयोग के द्वारा मिटाने की चेष्टा न कर दवा के भीतरी प्रयोग से ही मिटाना चाहिए। ये दाद औषधि के बाहरी प्रयोग से मिटने पर स्थायी रक्तामाशय हँफनी Castrma, डई में 'दमा' कान में पीब, नाक से पानी चूना, हृदयरोग और यक्ष्मा का प्रादुर्भाव हो सकता है- प्रादुर्भाव हो सकता है रक्त पित्त का भी।

कई बार औषधि प्रयोग या सूचिकावेध के द्वारा किसी कड़ी बीमारी को दूर कर देने पर भी विषक्रियात्मक परिणति के

रूप में गोल आकार की दाद हो सकती है। इस मामले में होमियोपैथी की मूल नीति निर्दोष (सही) मालूम पड़ती है। अर्थात् दाद होने पर दवा के भीतरी प्रयोग से उसे ठीक करना होगा। उस व्याधि को जबर्दस्ती दबाने से उसके फलस्वरूप यदि दाद पैदा हो, वह दाद ठीक होने पर भी दबा हुआ रोग दोगुनी शक्ति लेकर पुनः प्रकट हो सकता है। वैसे मामलों में दाद की बीमारी के मूल कारण को हटाने के लिए उपाय करना चाहिए और औषधि के अन्तर्योग के द्वारा भगाना चाहिए। ऐसे में औषधि के अन्तर्प्रयोग के आरम्भ में दद्रु रोग अचानक बढ़ सकता है। उसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है। उस उभार के बाद वह सूख जाती है। होमियोपैथी में ऐसी औषधियाँ हैं जो दद्रु की औषधियाँ हैं या कई चिर रोगों जैसे (chronic dysentery) की औषधियाँ हैं। होमियोपैथिक चिकित्सा व्यवस्था और अन्य चिकित्सा व्यवस्था में इस प्रकार की और भी औषधियों का उद्भावित होना उचित है।

[दाद यदि पुरानी हो जाए, अनेक प्रकार की चिकित्सा करके भी यदि ठीक न हो, तो निम्नांकित औषधि का प्रयोग करके आशाप्रद फल प्राप्त किया जा सकता है - अंगुली के एक दाग परिमाण कच्ची हल्दी छिलका छुड़ाकर 10-12 साधारण नीम की कोमल पत्तियों और ईख गुड़ के एक छोटे टुकड़े के साथ अच्छी तरह चबाकर पूरा का पूरा निगल जाना चाहिए। 4-5 दिन बाद फिर वैसा ही किया जा सकता है। इसी प्रकार 3/4 बार किया जा सकता है यदि पेट बर्दाश्त कर सके। जिन्हें दाद या चर्मरोग नहीं है या पहले हो सकता है कभी रहा हो, वे भी वसन्त ऋतु में प्रतिषेधक के रूप में एक बार इसका प्रयोग कर सकते हैं।]

सोराइसिस रोग में भी जो संपूर्णतः पारा या गंधक सम्बन्धी विष क्रिया के कारण होता है पूरे शरीर का चमड़ा फट जाता है, चक्कते चक्कते गोलाकार दाग और असहनीय खुजली मचती है इसमें कच्ची हल्दी नीम पत्ते ईख का गुड़ 4/5 दिन के अन्तर पर

15/20 दिन सेवन की जा सकती है। सोराइसिस के मामले में ईख गुड़ के बदले नीम-मधु का व्यवहार किया जा सकता है।

दोपहर को भोजन के पूर्व ये रोगी 5/6 नीम के कोमल पत्ते चबा सकते हैं। मीठा दूध, आमिष खाद्य यह दवा चलने की अवधि में वर्जन करना उचित है।

स्नान के समय साबुन का व्यवहार करने पर उसे अधिक देर तक शरीर में रहने न देकर जल्दी पानी से धो डालना चाहिए।

दाद चर्म को असमतल बना देता है। रोएँ की जड़ों को क्षतिग्रस्त कर देता हैं जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है दाद होने पर जिस प्रकार चमड़े पर ददोरे पड़ जाते हैं, हम लोगों के मुर्शिदाबाद जिले में कहीं-कहीं जो अति स्वादिष्ट सन्देश बनता है

उस पर भी वैसे ही ददोरे रहते हैं। खाने में उपादेय होने पर भी इस सन्देश का नाम उपयुक्त नहीं है। इस सन्देश को मुर्शिदाबाद में देदो सन्देश (दादवा सन्देश) कहा जाता है। अरबी में लेकिन 'दाद' शब्द का अर्थ दाद नहीं है। संस्कृत में देवदत्त शब्द का अरबी अर्थ कहा जाता है। बंगाल में ऐसे कुछ मुसलमान बहुल गाँव हैं जहाँ के वासिन्दालोग कभी दान के लिए प्रसिद्ध थे। इसलिए उन गाँवों के नामों के साथ दाद शब्द जुड़ा रहता था। इस दाद का अर्थ दद्रु नहीं है। इस प्रकार के दादपुर शब्द का अर्थ दानपुर है।

घमौरी; घर्मचर्ची

चमड़े को घर्मचर्ची से विमुक्त करने के लिए समपरिमाण ताजे दूध की मलाई और मैदा मिलाकर थोड़ी देर अंगुली से फेंटकर उसके बाद सारे शरीर में वह मलाई मैदा लगाकर 15/20 मिनट प्रकाश हवा युक्त सूखी जगह पर (धूप में नहीं) बैठना पड़ता है। उसके बाद उस लिपटे मलाई मैदे को रगड़-रगड़कर हटा देना

पड़ता है और बिना साबुन लगाए स्नान करना चाहिए। मलाई मैदे के व्यवहार से जरा भी क्षति नहीं पहुँचती। बल्कि 16 आने लाभ पहुँचता है। जाड़े के दिनों में चमड़े के फट जाने पर अथवा अन्य किसी कारण से चमड़ा खुरदरा हो जाने पर पुरुष-महिला या कोई भी मलाई मैदे का व्यवहार कर सकते हैं।

हल्दी : [Turmeric, curcuma longa linn]:

परिचय : हल्दी एक अदरक जातीय गाछ है। अदरक की तरह गाछ के नीचे (मिट्टी के नीचे) हल्दी का जन्म होता है। असल में हल्दी, गाछ के नीचे गुच्छों के रूप में रहती है। ऊपर का गाछ मर जाने पर हल्दी को खोदना पड़ता है। इसे कच्ची हल्दी कहते हैं। कच्ची हल्दी को गोबर के साथ उबालकर सोंठ हल्दी मिलती है। हमलोग मसाले के रूप में जो हल्दी खाते हैं वह यही सोंठ हल्दी है।

गरल- घाव-चर्मरोग और खाज खुजली में

हल्दी(Eczema)**:** कच्ची हल्दी चर्मरोग नाशक है। विषक्रिया नाश करने का गुण रहने के कारण कच्ची हल्दी या कच्ची हल्दी का रस रक्तदुष्टि-संजात चर्मरोगों की एक अच्छी दवा है। खाज-खुजली, गरल-घाव इत्यादि रोगों में अनुपान भेद से कच्ची हल्दी **महौषधि का काम करती है।**

एक छोटे चम्मच परिमित कच्ची हल्दी के छोटे-छोटे टुकड़े और उसके साथ एक बूँद या दो बूँद खाँटी मधु और एक तुलसी का पत्ता खाली पेट में खाने से [रोग की परिस्थिति के अनुसार एकाधिक बार भी खाया जा सकता है।] वह गरल-घाव (Eczema) की औषधि के रूप में गिनी जाती है।

गनोरिया रोग में कच्ची हल्दी: " एक तोला कच्ची हल्दी मिश्री के शर्बत के साथ पान करने पर प्रमेह रोगी के पेशाब का कष्ट दूर होता है।"

"कच्ची हल्दी का चूर्ण, आँवले का चूर्ण एक आना शीतल जल के साथ सेवन करने पर प्रमेह रोग दूर होता है।"

गात्र हरिद्रा : कच्ची हल्दी में रोगाणुओं का नाश करने की सामर्थ्य होने के कारण प्राचीनकाल में लोग विवाह और उत्सवादि के प्राक्काल में पिसी कच्ची हल्दी का लेप करके स्नान किया करते थे ताकि बहुत सारे लोगों के जुटने से रोग का प्रादुर्भाव न हो सके। यह उत्सव अभी भी गात्र हरिद्रा के नाम से जाना जाता है।

केश-चिकित्सा : कच्ची पिसी हल्दी माथे पर लगाकर स्नान करके माथा पोंछ लेने के बाद सूखा गमछा माथे पर दस पन्द्रह मिनट तक कसकर बाँधे रहने पर बाल मजबूत होते हैं, बालों का झड़ना रुकता है। बाल कुछ लहरदार और घुंघराले बनते हैं। लेकिन जिनके माथे पर जुएँ-ढीलें रहती हों, वे लोग ऐसा न करें।

नीम के पत्तों और कच्ची हल्दी को पानी में उबालकर उस पानी को ठंडा करके उससे चेचक के रोगी को स्नान कराने पर घाव जल्द अच्छे हो जाते हैं।

बहुत से बड़े-बड़े जीव जन्तु भी कच्ची हल्दी की विषक्रिया से मर जाते हैं। मगरमच्छ के लिए कच्ची हल्दी मारात्मक विष है। मगरमच्छ जैसे भयानक जानवर के भी पेट में कच्ची हल्दी जाने से मृत्यु हो जाती है।

तुमि विवेक हल्दी गाये मेखे नाओ।

(केओ) छोंबे ना तार गन्ध पेले।"

हल्दी और नवपत्रिका: प्रागौतिहासिक युग के लोग रसायन विद्या के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं जानते-समझते थे। रोगों की दवा वे पेड़-पौधों से ही प्राप्त करते थे। जिन गाछों में लोग औषधीय गुण अधिक पाते, उन्हें वे देवता समझते थे। उन दिनों के लोग, विशेषकर भारतवर्ष में ऐसे-ऐसे प्रकार के गाछों के सम्पर्क में आए थे जिनमे विभिन्न प्रकार के गुण थे-औषधीय गुण, खाद्यगत गुण इत्यादि। इन नौ प्रकार के गाछों की भी वे उन दिनों पूजा करते आये थे ठीक देवी देवता समझकर नहीं; उपकारी वस्तु के रूप में। गाछों पर देवत्व या देवीत्व का भाव आरोपित हुआ था परवर्तीकाल में (पौराणिक युग में)। ये नौ प्रकार के गाछ हैं - कदली, कच्चू, हरिद्रा, जयन्ती, अशोक, बिल्व, दाड़िम्ब, मान

और धान्य (इन नौ प्रकार के गाछों का सम्मिलित नाम नवपत्रिका हुआ। (जिनमें हल्दी अन्यतम है।)

शोभाञ्जन या सहिजन: (Drumstik-Morniga Adams Lamk)

परिचय और प्रजातियाँ: तुम लोग शोभाञ्जन या सहिजन (अथवा moringa oleifera petrygosperma gaetn) से अच्छी तरह परिचित होगे। शोभांजन> सोहांजन> सोआंजन> सोजिना > सोजने> (बंगला)। शोभाञ्जन शब्द का भावारूढार्थ आँखों की शोभा है। शीतकाल में जब सफेद सहिजन के फूलों से गाछ भर जाता है तो वह देखने में बहुत सुन्दर लगता है। इसीलिए इसका नाम शोभांजन है। सहिजन में फूल लगते हैं जाड़े के मध्य समय और जाड़े के अंत में फलियाँ लगती हैं। उसी समय में जब चेचक रोग का प्रादुर्भाव होता है।

बारहमासी सहिजन के फूल कुछ पीले से या घी के रंग के होते हैं, स्वाद भी कुछ कम लोभनीय होता है, देखने में भी उतने सुन्दर नहीं होते, नाजने की फलियाँ कुछ मोटी-ताजी होती हैं। स्वाद सहिजन की अपेक्षा कुछ कम। बारहमासी सहिजन को कोलकाता में हम लोग नाजने कहते हैं, बर्द्धमान में साजना कहते हैं। असम, बंगाल, ओड़ीसा, मिथिला और पूर्वी भारत में सर्वत्र ही मिट्टी और आबोहवा सहिजन (नाजने) के लिए विशेष अनुकूल है।

रक्त परिष्कारक, चर्मरोग विनाशक अग्न्याशय और यकृत के लिए सहायक :

सहिजन में अजस्त्र गुण समाविष्ट हैं। सहिजन की जड़, छाल पत्ते, फलियाँ और बीज सभी के औषधीय मूल्य हैं। सहिजन यकृत के लिए अच्छा है, रक्त परिष्कारक है, अल्पमात्र में रक्तवर्द्धक भी है। सहिजन चर्मरोग विनाशक है, क्षुधावर्द्धक है और

लालास्त्रावी है अर्थात् पाचन कार्य में भी सहायक है। सहिजन में जितने अच्छे अच्छे गुण हैं, नाजने में भी वे सभी गुण है थोड़ी कम मात्रा में। इसलिए नाजने भी एक सुखाद्य है। तुम लोग जाड़े में मौका मिलते ही सहिजन का व्यवहार करो। बाकी समय भी बीच-बीच में नाजने खाना इससे यकृत, मूत्राशय, रक्त और चर्म अच्छे रहेंगे।

सहिजन-मूल की छाल जीभ की जकड़न दूर करती है।

सहिजन गाछ की छाल कंठस्वर को मधुर बनाती है।

सहिजन के फूल: सहिजन के फूल परिमित रूप से खाने पर अग्न्याशय के कार्य में सहायता करते हैं। सहिजन-फूल खाने का सबसे अच्छा तरीका है बड़े या कोफ्ता बनाकर खाना। सहिजन फूल का झोल बानाने पर उसमें तीतापन और कसैलापन अधिक रहेगा ही इसलिए यह भोजन बहुत सुखकर नहीं रहता।

सहिजन की फलियाँ और बीज: सहिजन की फलियाँ मसूढ़े की शक्तिवर्द्धक हैं। सहिजन की फलियाँ एक सुलभ उच्चकोटि का प्रोटीन है। सहिजन के बीज विषक्रिया निवारक होते हैं और अनेक व्याधियों के विष को नष्ट कर देते हैं। इसलिए सहिजन के बीज को गरात्मक कहा जाता है। सहिजन की फलियों को चबाने के समय इस ढंग से चबाओगे जिससे उसके बीच-बीच के बीज भी अच्छी तरह चर्वित होकर उदरसात हो सके।

सहिजन का क्वाथ: सहिजन का क्वाथ (पत्तों और फलियों का घना झोल या शोरबा या रस) **जीवनीशक्ति वर्द्धक** के रूप में प्राचीनकाल से ही स्वीकृत है [प्रथम ग्रास के साथ सहिजन के पत्तों का झोल डिस्पेप्सिया या अजीर्ण रोग की भी दवा है; सहिजन के कच्चे पत्तों का रस एक चम्मच सुबह खाली पेट में

कुछ खाने पर यकृत और अग्न्याशय के काम में सहायता करता है।]

सहिजन का तेल: सहिजन की पकी फलियों के बीजों से जो तेल प्राप्त होता है, वह तेल विभिन्न चर्मरोगों की दवा है।

अन्यान्य व्यवहार: कम उम्र के लड़के लड़कियों को जब वयोव्रण या **मुँहासे** होते हैं, उस समय परिमित मात्रा में सहिजन का फूल, छाल, पत्ते, फलियाँ, बीज में से किसी एक को खाने पर मुँहासों का प्रकोप प्रशमित होता है। सहिजन का मूल, पत्ता फूल और फली वसन्त रोग (चेचक) का प्रतिशोधक है।

सहिजन और मूंगा रेशम: हंमत के अंत में सहिजन के पेड़ पर प्रचुर संख्या में शुककीट दिखायी पड़ते हैं इनसे उन्नत दर्जे

का अ-तूंत रेशम तैयार किया जाता है। सहिजन के पत्तों को खाए शुककीटों के द्वारा जो अ-तूंत रेशम तैयार होता है उसे मूँगा या मूगा कहा जाता है। सहिजन गाछ का पत्तों की मादकता के कारण मूंगा रेशम के प्रजापति इसी पर अंडे देते हैं। बच्चे जब शुक कीट के रूप में जन्मते हैं तब उस गाछ के आसपास कोई जा सके यह हिम्मत किसकी है। ये ही शुककीट अंततः मूंगा रेशम के कोए बनाते है।

इस मूंगा या मूंगा उद्योग ने प्राचीनकाल में असम में काफी उन्नति की थी। वैज्ञानिक पद्धति से सहिजन की खेती करके प्रचुर परिमाण में मूंगा रेशम तैयार किया जा सकता है। थोड़ी चेष्टा और थोड़ी आन्तरिकता हो तो आज जिन्हें दरिद्र कर्षक कहते हैं उन्हें भी मूंगा के (रेशम के) वस्त्र पहना सकते हैं ।

कुष्ठ :

रोग के लक्षण, कारण, विभिन्न प्रकार की कुष्ठ

व्याधियाँ : कुष्ठ शब्द का भावारूढ़ार्थ है जो कु : अवस्था में अर्थात् खराब अवस्था में है, योगारूढ़ार्थ में कुष्ठ का अर्थ है चर्मरोग। साधारण घमौरी, घर्मगोटिक (स्वेद गुटिका) से लेकर धवल कुष्ठ, अचेतन कुष्ठ, गलित कुष्ठ सभी कुष्ठ के अंतर्गत है। लेकिन इन कुष्ठों में जिसमें शरीर की सप्त धातुओं में से जितनी अधिक धातुओं में विकृति आती है, वह उतना अधिक भयानक या दुरारोग्य माना जाता है। कुष्ठों में धवल कुष्ठ या श्वेती या ल्यूकोडर्मा देखने में भयंकर होते हुए भी अधिक क्षतिकारक नहीं हैं, छुतहा भी नहीं है। इसमें साधारणतः मांस, रक्त और चर्म इन्हीं तीनों में विकृति आती है। आमाशय जातीय रोगों के दब जाने या सूचिबेध के द्वारा दबा देने से इस प्रकार की श्वेती या ल्यूकोडर्मा व्याधि का उद्भव होता है।

इस धवल कुष्ठ की अपेक्षा गरल या एक्जिमा बहुत अधिक भयंकर है। यह व्याधि गर नामक विशेष प्रकार की घास से मनुष्य के शरीर में आयी थी। यह रोग कुछ संक्रामक या छुतहा भी है। सप्तधातुओं की विकृति से चेतनाहीन कुष्ठ और गलित कुष्ठ का उद्भव होता है। गलित कुष्ठ में शरीर के अंग-प्रत्यंग अर्थात् अंग के विभिन्न प्रत्यंग गलकर गिर जाते हैं। यह रोग मुख्यतः दारिद्रय का रोग है। दरिद्रता के कारण अनाहार और अपुष्टि के साथ यदि विरुद्ध भोजन या सड़ी चीजें खायी जायें- विशेषकर सड़ा आमिष खाया जाए तो इस रोग के आक्रमण की संभावना बढ़ जाती है। हम लोगों का पश्चिम राढ़ अत्यन्त दरिद्र है, अनाहार अपुष्टि से ग्रस्त रहता है। दरिद्र लोग भूख की मार से सड़ी चीजें, कुछ लोग तो सड़ा मांस भी खाया करते हैं। इसलिए यह व्याधि उन्हें ही अधिक होती है। उनमें से थोड़ा सम्पन्न लोगों के बीच यह रोग कोई खास नहीं दिखायी पड़ता।

विरुद्ध भोजन और कुष्ठ: जिन दो वस्तुओं में मौलिक पार्थक्य है, उनमें से एक के बाद दूसरी को खाना को विरुद्ध भोजन कहा जाता है। जैसे-दूध के पहले या बाद में मांस मछली अंडा विरुद्ध भोजन है। किन्तु घी के पहले या बाद में मांस-भक्षण विरुद्ध भोजन नहीं है। फल के बाद पानी विरुद्ध भोजन है, पानी के बाद फल विरुद्ध भोजन होते हुए भी बड़े किस्म का क्षतिकारक विरुद्ध भोजन नहीं है थोड़ा क्षतिकारक अवश्य ही है। फल के बाद अन्न (भात, रोटी, पूरी) खाने के बाद या मिष्ठान्न भोजन के बाद पानी पीने से फिर वह विरुद्ध भोजन नहीं रहता। दूध- मछली, खीर-मछली अथवा खीर मांस एक साथ सानकर खाने से वह उग्र प्रकार का विरुद्ध भोजन है। इससे कुष्ठ व्याधि भी हो सकती है। पायस के बाद मदिरा (दारू) उग्र मात्रा में विरुद्ध भोजन है, किन्तु गाँजा के बाद दूध विरुद्धभोजन नहीं है। मिष्ठात्र के बाद चटनी विरुद्ध भोजन है। लेकिन मधु और अंडा आगे-पीछे खाने पर वह निम्न मात्रा में विरुद्ध भोजन है।

चिकित्सा : कुष्ठरोग की चिकित्सा व्यवस्था (एलोपैथी) आजकल प्रवर्तित हुई है। इस चिकित्सा व्यवस्था की और उन्नति का होना उचित है।

कुष्ठ रोग में नीम छाल का क्वाथ: नीमछाल का क्वाथ और पलता (परवल की लता) का क्वाथ एक साथ मिलाकर पान करने से कुष्ठरोग दूर होता है।

हरितकी और कुष्ठ: (myrobaln, Terminanalia Chebula Retz

परिचय और प्रजातियाँ : जो वस्तु रोग का हरण करे इत्यर्थे हरि/हरी, और शरीर को चमका दे इस अर्थ में तकि/तकी/इसी रूप में हरितकी शब्द को पाते हैं। यह हिज्जे तुम

लोग अच्छी तरह लिख सकते हो-हरितकि, हरीतकि, हरितकी, हरीतकी। हरितकी गाछ की नाना प्रजातियाँ हैं, स्थान भेद से और आबोहवा भेद से गाछों की उँचाई में भिन्नता होती है। फलों के भी नाना प्रकार के भेद हैं-कोई गोल, कोई लम्बा, कोई शिराविहीन। कोई हरितकी अल्पमात्रा में शिरायुक्त, कोई हरितकी अधिक मात्रा में शिरायुक्त किसी हरितकी का रंग भिन्न होता है और किसी का रंग अभिन्न होता है। किसी हरितकी में कसैलापन अधिक किसी हरितकी में कसैलापन नहीं के बराबर रहता, किसी हरितकी की गुठली बहुत छोटी और पतली, किसी हरित की गुठली सुपुष्ट और खाने में बादाम जैसी होती है। आकारभेद, प्रकारभेद और गुण भेद से हरितकी के गौड़ी, मागधी और रोहिणी इत्यादि विभिन्न नाम है।

कुष्ठरोग में हरितकी :

हरितकी मनुष्याणां मातेव हितकारिणी।

सूचीपत्र

कदापि कुप्यते माता नोदरस्था हरितकी ।।

हरितकी मनुष्य के लिए माता के समान हितकारिणी है। माँ फिर भी सन्तान के प्रति कभी क्रुद्धा कुपिता होती है; किन्तु जो हरितकी मनुष्य के उदरस्थ हो गयी, वह कभी कुपित नहीं होती।

कुष्ठरोग में हरितकी की व्यवहार-विधि चिरकाल से ज्ञात है। इसलिए हरितकी को विशेषकर गौड़ी हरितकी को कुष्ठारि कहा जाता है। रोज किंचित परिमाण में हरितकी का चूर्ण गुड़ के साथ लेहन करके खाने पर यह रोग प्रशमित होता है। 3/4 हरितकी-खण्ड खाने के बाद गुलंच का क्वाथ पान करने से कुष्ठ रोग दूरीभूत होता है। गोमूत्र के साथ हरिद्रा एक महीने तक रोज सुबह पान करने पर कुष्ठ रोग से निष्कृति मिलती है। खाद्य और पथ्य की ओर से कुष्ठ के रोगी के लिए करेली का फल या पत्ता पलता, नीम, सहिजन के फूल, पत्ते और फलियाँ इत्यादि में से कोई एक रोज

भोजन-तालिका में रहना जरूरी है। (कुष्ठ चूँकि प्रधानतः अपुष्टिजनित रोग है, इसलिए दरिद्रता अध्युषित अंचल में साधारण लोगों को फलों और सब्जियों की खेती के लिए प्रोत्साहित करना उचित और सहायता करना उचित है। इसके फलस्वरूप उनका दारिद्रय जिस प्रकार दूर होगा, खाद्याभ्यास में भी परिवर्तन आएगा। उससे पुष्टि का अभाव भी कुछ न कुछ दूर होगा। इसके जैतून की खेती को भी बढ़ाना उचित है। क्योंकि जैतून का तेल पुष्टिकर खाद्य के रूप में प्रतिदिन भोजन की तालिका में रहने पर कुष्ठरोग के निरामय में था कुष्ठरोग के प्रतिरोध में खूब सहायता मिलेगी।

कोष्ठ परिष्कार और रक्त के गतिवर्द्धन में:

हरितकी कोष्ठ परिष्कार करती है जिस कारण यह विष्टम्भिनी के रूप में भी जानी जाती है। मधु जैसी हरितकी भी रक्त की गतिवर्द्धक है। अर्थात् हरितकी खाने से मनुष्य की कर्मतत्परता बढ़ती है। आलस्य घटता है।

अन्य रोगों में हरितकी: गौदुग्ध में हरितकी की गुठली उबालकर (गुठली को हटाकर) उस दूध का पान करने पर **पिताश्मरी** (Gallbladder Stone) रोग में उत्तम फल प्राप्त होता है।

पित्त - पथरी: छागमूत्र या गौमूत्र के साथ हरितकी चूर्ण मिलाकर रोज सुबह खाली पेट में पान करने पर श्लीपद (गोद Elephantitis) रोग प्रशमित होता है।

हरितकी-व्यवहार के विधि-निषेध

चूँकि हरितकी रक्त की गतिवर्द्धक है, इसलिए शरीर के भीतर या बाहर कोई क्षत रहने पर उस समय हरितकी का व्यवहार न करना ही अच्छा है। यदि करना ही हो, तो बहुत कम परिमाण में

व्यवहार करना उचित है। कोई स्त्री व्याधि रहने पर भी हरितकी का व्यवहार न करना ही अच्छा है।

श्वेत जयन्ती (Sebania Sesban Linn)

कालकेसेन्दा (Cassia Sophera Linn)

जयन्ती से साधारणतः तीन प्रकार के उद्भिद समझे जाते हैं- श्वेत जयन्ती, रक्त जयन्ती, वृहत जयन्ती या सिंहपुच्छी लतरीली जयन्ती।

श्वेतकुष्ठ या धवलकुष्ठ या श्वेती की औषधि के रूप में प्राचीन काल से ही जयन्ती का (उत्तर भारत में चकवँड़ या चकोड़ा या छोट चकोड़ा) का उपयोग है। इनमें से रक्तजयन्ती की अपेक्षा श्वेतजयन्ती में गुण अधिक है।

एक आना मात्रा में श्वेतजयन्ती का मूल गोदुग्ध के साथ पीसकर रविवार के दिन (सप्ताह में एक दिन) से पान करने से श्वेती रोग थोड़े समय में ही विदूरित होता है। यह औषधि बहुत ही फलप्रद है। मांस, मछली, अंड़ा, घी, अधिक मात्रा में मसाले इत्यादि वस्तुएँ यकृत को दुर्वल (दुर्बल) कर देती है और उसके परिणामस्वरूप कोष्टकाठिन्य रोग सृष्ट होता है जो श्वित्र रोग (श्वेतकुष्ठ) का अन्यतम कारण है। इस व्याधि में मछली या अन्य आमिष खाद्य अत्यन्त कुपथ्य हैं। इसलिए वे विषवत् परित्यज्य हैं। कोई चाहे कितना ही आमिषलोभी क्यों न हो, उसे उस लोभ का संवरण करना ही होगा।

लतरीली जयन्ती साधारणतः मिट्टी की जोड़ाई पर, घर की दीवार पर ईट के छेदों में अपने आप उगती है। आमाशय में बैठ जाने से यदि कान में पीव हो या नाक से अनवरत रूप से कफ

निकलता रहे, उनके लिए इस लतरीली जयन्ती से दवा तैयार की जा सकती है।

वैसे ही गुण कालकेसेन्दा में भी हैं। कालकेसेन्दा को उत्तर भारत में बड़ा चकँवड़ कहा जाता है। कालकेसेन्दा बंगाल में सर्वत्र घाट-बाट में बरसात में प्रचुर परिमाण में उगते हैं। इसके फूल देखने में पीले रंग के होते हैं। चूँकि शरीर के श्वेती रोग-ग्रस्त भाग में नये सिरे से यह चमड़े को काला बना देता है, इसलिए संस्कृत में इसका नाम 'कृष्णकेलि' है।

श्वेतीरोग में इसकी व्यवहार - विधि है कालकेसेन्दा के रस में बैल की हड्डी घिसकर रोगग्रस्त स्थान पर प्रलेप लगाने से सुन्दर फल प्राप्त होता है।

कामिनी (Murraya Paniculata Linn)

कामिनी फूल के गाछ को उत्तर भारत में 'मनस्काम' कहते हैं (साधारणतः इसमें सफेद रंग के फूल होते हैं और फूल में अच्छी सुगंध होती है। [गाय बकरियाँ इसे नहीं खार्ती जिस कारण इसे बड़ी आसानी से लगाया जा सकता है।]

कामिनी फूल की गंध, उसके पत्तों का रस चर्मरोग का प्रतिषेधक है। थेंथर कुष्ठ Leprs Anerttetica, के प्रतिरोध में भी इसका (पत्ते का रस) कुछ-कुछ उपयोग था।

ऐसी स्वस्थ व्यक्ति भी कामिनी फूल की गंध से सम्पर्कित रहने पर, एक धारणा है कि चर्मरोग होता ही नहीं।

बकुल (मौलसिरी - Mimusops elengi Linn)

बकुल एक इण्डिका वर्गीय अरण्य वृक्ष है अर्थात् इसकी आदि वासभूमि इसी देश के जंगलों में है। उत्तर भारत में बकुल मौलसिरी (मउलश्री) नाम से परिचित है। राढ़ में बकुल फूल-कोके बउल या बोल कहा जाता है। बकुलपुर से 'बोलपुर' (वीरभूम जिला) शब्द आया है।

इस ऊँचे वृक्ष के फूल लेकिन अति लघु होते हैं। मधुर गंधयुक्त मौलसिरी के फूल वसन्त और ग्रीष्म के प्रभात में वृक्ष के नीचे पड़े रहते हैं। फूल में एक प्राकृतिक छिद्र रहने के कारण माला गूँथने में भी सुविधा रहती है। इसके निर्यास से इत्र और सुगंधित तेल दोनों ही तैयार किए जाते हैं। इसकी गंध मानसिक संतुलन की रक्षा में सहायक है। इसका कारण है कि यह सत्वगुणान्वित है।

बकुल का फूल खाद्य के रूप में अति प्राचीनकाल से ही व्यवहृत होता आया है। अल्पमात्र में खाने पर यह फूल यकृत को

स्वस्थ रखता है। बकुल के बीज छोटे आकार के होते हैं। बीजों से जो तेल प्राप्त होता है, वह रसोई में व्यवहार योग्य है किन्तु अनुपलब्धता से ऐसा नहीं होता। जंगली परिवेश में जहाँ बकुल के गाछ पर्याप्त हैं वहाँ इसका उपयोग होता है, बकुल का तेल ग्रंथिवात रोग की दवा है।

खैर गाछ

परिचय और प्रजातियाँ: कुष्ठारि शब्द का एक अर्थ है एकेसिया वर्गीय गाछ विशेषकर एकेशिया कैटेचु जिसे संस्कृत में 'खदिर' और बंगला में 'खयेर' कहते हैं। एकेसिया वर्गीय गाछ छोटे काँटों से युक्त और नातिदीर्घ हुआ करते हैं। साधारणतः ये भूमि का विचार नहीं करते। लेकिन वृष्टिपात भेद से विभिन्न अंचलों में अयत्नजात वृक्ष के रूप में विभिन्न प्रकार के एकेसिया उगा करते हैं। भारत में एकेसिया बबूल, एकेसिया कैटेचु अधिक उगते हैं। अनुर्वर-वृष्टिपातहीन इलाकों में ही अधिक उगते हैं। इसलिए भारत

के पश्चिमांश में माख (मरू) अंचल में ये एकसिया बबूल (बाबला) गाछ ही अधिक दिखायी पड़ते हैं। एकेसिया कैटेचु हिमालय के डूअर्स (तराई) अंचलों में अधिक उगते हैं। पृथ्वी के किसी-किसी अंचल में अयत्नजात वृक्ष के रूप में एकेसिया ऑरिकुलर गाछ भी उगते हैं।

इस गाछ से प्राचीनकाल में कर्ण-रोग की दवा तैयार की जाती थी।

इस एकेसिया वर्गीय गाछ का गोंद प्रत्यक्षरूप से मनुष्य के खाद्य के रूप में व्यवहृत न होते हुए भी परोक्षरूप से खाद्य के रूप में व्यवहृत होता है। एकेसिया बबूल के गोंद को हमलोग गद कहा करते हैं। गद गोंद के रूप में व्यवहृत होता है, और गद से विभिन्न प्रकार की चूष्य वस्तुएँ जैसे लॉजेन्स, तैयार की जाती है।

एकेसिया कैटेचु की लकड़ी को सिझाकर उससे जो क्वाथ प्राप्त होता है, उस क्वाथ की घनीभूत अवस्था ही है हमलोगों का अति परिचित खैर (खदिर> खइर>खयेर)। खैर को पूर्वी भारत में सर्वत्र खैर ही कहा जाता है (बंगाली, मगही, भोजपुरी प्रभृति सभी भाषाओं में खैर कहते हैं। खैर गाछ के क्वाथ से यह खैर वस्तु प्राप्त होती है। जिस कारण पुस्तकीय हिन्दी में और उर्दू में खैर को कत्था कहते हैं।

चर्मरोग और कुष्ठरोगः खैर चर्मरोग का प्रतिशोधक है। मुख्यतः ओष्ठरंजन के काम में व्यवहृत होने पर भी चर्मरोग की औषधि के रूप में खैर का थोड़ा-बहुत व्यवहार था।

जिन देशों के लोग दरिद्र होने के बावजूद खदिर के साथ पान खाया करते हैं, साधारणतः देखा जाता है कि उन जगहों पर कुष्ठरोग का आक्रमण कम होता है। खदिर युक्त पान के साथ

कुष्ठरोग का कोई विरोधी सम्बन्ध है या नहीं उसका पता गहराई से लगाना जरूरी है।

बिवाई फटने में: हाथ पैरों में बिवाई फटने पर उसमें रात को सोने के पहले सैन्धव लवण के साथ खैरे गोला लगाने से अच्छा फल प्राप्त होता है।

परिवेश और अर्थव्यवस्था: राढ़ की ऊँची भूमि के अंचल में विशेषकर टाँड़ जमीन पर खैर के अरण्य की रचना करके जिस प्रकार भूक्षरण को रोका जा सकता है उसी प्रकार यह गाछ शिशुकाल में पानी से सिंचाई कर देने पर खदिर के अरण्य की रचना की जा सकती है। खैर दरिद्र राढ़वासियों के अर्थोपार्जन का एक दूसरा रास्ता भी खोल सकता है। बंगाल के अधिक वृष्टिपात वाले इलाकों कछार, त्रिपुरा और उत्तर बंगाल के समतल और

अर्ध समतल इलाकों में थोड़े बहुत खैर के अरण्य तैयार किए जा सकते हैं।

कुंदरू : तुम लोग कुंदरू नामक सब्जी से परिचित होगे। अयत्नवर्द्धित इस सब्जी की आदि वासभूमि राढ़ है। यह एक लतरीले गाछ की सब्जी है। रसोईघर में इसका स्थान तेलाकुचा और परवल के बीच का है। सहजपाच्य खाद्य और औषधि के रूप में परवल लता (पलता) के अनेक गुण हैं। उससे भी अधिक गुण तेलाकूचा (बिम्ब) के हैं। कुंदरू, लता में गुण परवल लता या तेलाकूचा लता से भले ही अधिक न हो, किन्तु चर्मरोग के प्रतिशोधक तथा कुष्ठरोग के प्रतिशोधक के रूप में कुंदरू का एक अपना स्थान है। जो पुष्टिकर खाद्य ग्रहण करता है और साथ ही बीच-बीच में कुदरूँ खाता है, उसके शरीर में कुष्ठरोग का प्रतिरोध करने की शक्ति जगती है। राढ़ में साधारणतः बड़ी और छोटी दो प्रकार की कुंदरू पायी जाती है। खाद्य के रूप में लोग छोटी कुंदरू

को ही अधिक पसन्द करते हैं। लेकिन औषधीय गुण दोनों ही कुंदरू में एक समान है।

कृष्णबीज (तोकमारी)

कृष्णबीज का तात्पर्य है तोकमारी। शरीर में फोड़ा होने पर वह आसानी से फूटना नहीं चाहने पर कुछ मात्रा में तोकमारी को एक कपड़े के ऊपर पानी से भिगोकर लगा देना (लटका देना) चाहिए और फोड़े के ऊपर प्रलेप के रूप में लगा देना चाहिए। वह प्रलेप चमड़े को खींचकर जकड़ लेता है और बाद में फोड़े को फाड़ देता है। तोकमारी में एक गोंद जैसी चीज होती है। उस लसीलेपन में ही इसका औषधीय गुण निहित है। तोकमारी की पुल्टिस की तरह ही बहुत कुछ तीसी की पुल्टिस भी ऐसे मामले में व्यवहार की जाती है।

फोड़ा क्यों होता है ? : शरीर के सर्वांग अथवा स्थान विशेष में रक्तदोष आ जाने पर किसी-किसी मामले में कैल्शियम जातीय खाद्य की कमी हो जाने पर या आम के समय अचानक अधिक मात्रा में आम अर्थात् कैल्शियम जातीय खाद्य ग्रहण करने पर शरीर का कोई-कोई भाग स्फीत हो उठता है, रक्त एकत्रित होकर उस स्फीत अंश से बाहर निकलना चाहता है। इसे बंगला में कहते हैं स्फोटक, कथ्य बंगला में फोड़ा। ग्रीष्मकाल में तुम लोग यदि कभी अधिक आम खाओ-मैं अनुमान लगा सकता हूँ कि उस समय तुम लोगों को फोड़े भी हुआ करते हैं।

बलतोड़ को भी अनेक लोग कहते हैं विषफोड़ा। यह फोड़ा जहाँ होता है, वह स्थान कई बार दर्द से टनटन करता है। फिर भी व्यक्ति का हाथ घूम फिर कर उसी स्थान पर चला जाता है। इसके अनेक कारणों में से कैल्शियम का अभाव या अन्य कुछ

इनमें से जिस कारण से फोड़ा हुआ है, उसे समझकर तदनुसार चिकित्सा करने से ही यह रोग ठीक हो जाता है।

वयः व्रण और उसकी औषध :

साधारणः 14 वर्ष से 16 वर्ष की उम्र में शरीर में लोगों को विभिन्न प्रकार के नये-नये ग्रंथिरसों का क्षरण होता रहता है। इसके फलस्वरूप रक्त की उष्णता में, गति में, संरचना में परिवर्तन घटित होता है। उससे मुखमंडल में विशेषकर कपाल और गाल में छोटी छोटी फुन्सियाँ उग आती हैं। बंगला में इसे व्रण कहा जाता है। यह एक विशेष उम्र में होता है। उसके पहले भी नहीं होता बाद में भी नहीं होता। इसलिए उसे व्रण कहा जाता है। संस्कृत में व्रण का तात्पर्य वयः व्रण तो है ही, बल्कि किसी भी कष्टदायी फोड़े या फुन्सी के लिए भी व्रण शब्द चल सकता है। व्रण रोग का अर्थ है- घाव का रोग।

'यथा अति रमणीय चारु कलेवरे

व्रण अन्वेषण करे मक्षिकानिकरे।'

कभी-कभी देखा जाता है कि, विभिन्न औषधियों का व्यवहार करके भी व्रण अच्छा होना नहीं चाहता और कभी विषाक्त हो जाने से मुँह फूल जाता है। इसलिए व्रण की एक दवा की बात बता रहा हूँ।

सेमल काँटा, सेमल काँटा न मिलने पर खड़ी मसूर या गोटा मसूर, दही की मलाई के साथ पत्थर पर घिसकर व्रण के ऊपर प्रलेप लगाने से बहुत आसानी से व्रण अच्छे हो जाते है। पत्थर पर दूध के साथ गोलमिर्च घिसकर वही घिसी चीज मुँह पर लगाने से वह भी वयः व्रण की अन्यतम औषधि है।

थूजा-झाऊ और मस्सा-गजमोती : झाउ जातीय जिस गाछ को अंग्रेजी में थूजा कहा जाता है उसे संस्कृत में कहा जाता है अबुर्दध्नी। अर्थात् यह थूजा नामक झाउ जातीय गाछ अर्बुदनाशक है अर्थात् इसका रस अर्बुद या मस्सा या ट्यूमर रोग की औषधि (भीतरी प्रयोग) है। अन्य जीवों की तुलना में हाथी के माथे पर अर्बुद अधिक होते हैं।

यह अर्बुद कुछ बड़ा हो जाने पर हाथी को उन्माद हो जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। यह अर्बुद कभी-कभी इतना कठोर हो जाता है कि उसे आसानी से तोड़ा या काटा नहीं जा सकता। इसी चीज को लोग गजमोती कहा करते हैं। मस्तिष्क क्षतिग्रस्त होने पर उस समय धूप में घूमने-फिरने से हाथी की रग फट जाती है। रस निकलने लगता है। हाथी को साल की किसी भी अमावस्या की रात को विशेषकर फाल्गुनी चैती या वैशाखी

अमावस्या में कुछ मात्रा में थूजा वर्गीय झा ऊ के पत्ते खिलाने पर इस मस्तिष्क रोग से हाथी बच जाता है।

अर्बुद से बंगला में आव शब्द आया है। आव, मस्सा इन दोनों रोगों की औषधि थूजा है। (थूजा जातीय झाउ गाछ से बनी होमियोपैथी की थूजा औषधि इस मामले में बहुत फलदायी है।)

केसुआरिणा वर्गीय झाउ, सूई की तरह पतले पत्ते वाला देशी झाऊ, थूजा झाऊ के वर्ग में नहीं आते। झाऊ वर्गीय गाछ बहुत समय पहले जीवों के इस पृथ्वी पर आने के बहुत पहले इस पृथ्वी पर आया है। फर्न जातीय गाछ झाऊ के पूर्वज हैं। वर्तमान विश्व में लगभग 125 प्रजातियों के झाऊ के गाछ हैं। समुद्र-तीर पर स्वाभाविक रूप से प्रकृति ने भूसंरक्षण की व्यवस्था कर दी है। विभिन्न प्रकार के उद्भिद त्रिशिरा मनसा बालु चापाटी नामक एक प्रकार का लचरीचा पौधा जो बालू को बाँध के ऊपर फैलता है

और अपनी जड़ों और डाल पत्तों के वज्रबंधन से बालू को बाँध लेता है ताकि वह बालू आसानी से उड़कर समुद्र में न जा गिरे आदि अपने आप समुद्र तीर पर सामुद्रिक झाऊ के जंगलों के माध्यम से उग आए। साधारणतः समुद्री चीलों की विष्ठा के द्वारा झाऊ के बीज समुद्रतीर पर फैल जाते हैं। तीर की टूट को रोकने के लिए झाऊ को लगाना जरूरी है। जापान में काँटायुक्त एक प्रकार का झाऊ है जो तीर की टूट को रोकने में बेहद सहायता करता है। भविष्य में विध्वंसकारी बाढ़ से अथवा प्रवल जलोच्छवास से समुद्रोपकूल को बचाने के लिए तुम लोग इन उद्भिदों सामुद्रिक झाऊ और जापानी झाऊ अधिक संख्या में लगाने की व्यवस्था करो। इससे समुद्र तीर को समुद्री आँधी के ताण्डव से कुछ मुक्ति मिलेगी।

कण्टकारी ; क्रोड़पर्णी चेचक रोग (Sixatho Carpun Schrd wendl):

'क्रोड़पर्णी' शब्द का अर्थ है कण्टकारी। कण्टकारी एक औषधि है। राढ़ के लोग कण्टकारी के फल खाया करते थे। [राह-बाट जंगलों - वागानों में यह कण्टकारी का गाछ बिना तदबीर के उगता है, कई बार तो खर पतवार के रूप में उखाड़कर फेंकना पड़ता है। इसके पत्ते बैगन के पत्तों जैसे होते हैं लेकिन पत्तों पर काफी काँटे होते हैं। ग्रामीण बंगाल में इसे कोई-कोई जंगली बैगन भी कहा करते हैं। हल्के तिक्त इस कण्टकारी के फल तथा अधिक तिक्त इसकी जड़ियाँ नानाविध रोगों-विशेषकर चर्मरोगों की औषधि के रूप में प्रचलित है।]

एक आना परिमित (1 ग्राम के बराबर) कण्टकारी का मूल ढाई गोलमिर्च के साथ मिलाकर खाने से एक साल के भीतर चेचक का आक्रमण नहीं होता। कष्टकारी की जड़ के साथ अन्य उपकरण मिलाकर कफ रोग की दवा तैयार होती है।

लिप्त चेचक या वसन्त: बेर के पत्तों को सील-लोढ़े से महीन पीसकर एक बाल्टी पानी में पिसी हुई चीज को डालकर कुछ देर तक हाथ से चलाने पर पानी के ऊपर फेन पैदा होता है। वह फेन चमड़े के ऊपर लगाने से लिप्त वसन्त या लिप्त चेचक उभर पड़ता है। तब फिर वह खतरनाक नहीं रह जाता।

हेलेञ्चा या हिलमोचिका: (Enhydra Fluctuans Lour):

कोलकाता में जिसे हिंगचे कहते हैं, ग्रामीणबंगाल में उसे कहा जाता है हेलेञ्चा, संस्कृत में हिलमोचिका। यह साग चर्मरोग की दवा है, रक्त परिष्कारक है, मस्तिष्क का सहायक है, लोहा समृद्ध है। (इसलिए रक्त वृद्धि में सहायक है) परिमित मात्रा में खाने पर पेट के लिए अच्छा है। इस साग को पकाने के समय जितना कम तेल का व्यवहार किया जाए, उतना ही अच्छा है। जलज साग की तालिका में इसका स्थान सबसे ऊपर है, ब्राह्मी साग के आसपास। प्रातः काल एक तोला हेलेच्चा का रस पान करने पर

प्रमेह रोगी का पेशाब का कष्ट दूर होता है। और इसी मात्रा में प्रात: काल हेलेञ्चा का रस पान करने से रक्ताल्पता का रोगी उपकृत होगा। इस मामले में हेलेञ्चा को पानी में सिझाकर उस पानी को पीने से भी फल प्राप्त होता है।

शिउलिया या शेफाली (हरसिंगार-Nyctanthes arbortristis Linn):

परिचय और प्रजातियाँ : शेफाली या शेफालिका फूल का आदिवास स्थान भारत है अर्थात् यह एक इण्डिका वर्गीय फूल है। शेफाली की बंगला शिउलि है।

शिउलि का यथार्थ अंग्रेजी प्रतिशब्द नहीं है। अंग्रेजी में साधारणतः लोग इसे नाइट जैस्मिन कहा करते हैं। भारत (बंगाल) में विशेषकर राढ़ में, कोशल और उत्कल के पहाड़ों पर जंगलों में गंगा शेफाली (शिउलि) प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। जिस शिउलि

की घुंडी में रंग का प्राचुर्य और घनत्व होता हैं। उस शिठलि को बंगला और उड़िया भाषा में गंगाशेफाली कहा जाता है। शिउलि की नाना प्रजातियों में से इस गंगाशेफाली को एक समय सर्वोत्तम माना जाता था। सम्प्रति एक कृषि वि. वि. के कर्मचारी ने मुझे अपना उद्भक्ति एक शिउलि गाछ उपहार में दिया है। जिसके फूल आकार में बड़े हैं। पत्ते भी बड़े बड़े हैं, घुंडी पर रंग अधिक है। लगता है उस शेफाली के सामने गंगा शेफाली हार मानेगी। लेकिन शिउलि के उत्कर्ष के लिए गवेषणा का होना जरूरी है। वर्तमान में मैं यही सोच रहा हूँ। यह गाछ दीर्घकालिक होते हुए भी फूल का समय शरदकाल है।

लिवर के गुण वर्धन में शिउलि : शिउलि (हरसिंगार) के पत्ते का तीता स्वाद उसमें औषधीय गुण है। पलता (परवल लता) के पत्तों के विकल्प के रूप में शिउलि का पत्ता (पत्तों का झोल) का व्यवहार किया जा सकता है। रक्त परिशोधक और चर्मरोग

नाशक के रूप में पलता में गुण कुछ अधिक होते हुए भी रंग में क्रांति लाने और लीवर के गुण-वर्धन में हरसिंगार में गुण अधिक पाये जाते हैं। (प्लीहा रोग में हरसिंगार के व्यवहार की बात पहले ही कही जा चुकी है।)

प्राचीन काल में वस्त्ररंजन में यह रंग व्यापक तौर पर व्यवहृत हुआ करता था। श्रीपंचमी (वसन्त पंचमी) और वसन्तोत्सव (होली) में प्राचीन काल के लोग इसी रंग का व्यवहार अधिक किया करते थे। बाजार में जो रासायनिक खाद मिलती है उनमें से अनेक ही विषाक्त हैं। उसी रंग से मिष्ठान्न और अन्य खाद्य वस्तुएँ तैयार करने पर उससे विषक्रिया की संभावना रहती है। लेकिन शिउलि का रंग, अपराजिता का रंग, अतसी पुष्प का रंग और पलास का रंग निर्दोष और निर्विष है।

हरसिंगार; (शिउलि): सूर्यास्त के बाद खिलता है

इस फूल का गंधरेणु बहुत भारी होता है। इसलिए दिन की हल्की हवा उस गंधरेणु को वहन नहीं कर सकती। इसलिए शिउलि की गंध अधिक मात्रा में पायी जाती है सूर्यास्त के बाद से। इसी कारण प्राकृतिक नियम से शिउलि या हरसिंगार के फूल सूर्यास्त के बाद खिलते हैं। और सूर्योदय के पहले झड़ जाते हैं -

" रातेर बेलाय सबाई घुमाय, शिउलि केनो जागे

बलते हबे माँगो आमाय बलते हबेई आगे ॥"

अध्याय-6

मूत्र रोगाधिकार :

किडनी के रोग, मूत्र स्तम्भ, मूत्रशय के रोग, मधुमेह-बहुमूत्र

खीरा :

परिचय : तुममें से अनेक लोगों को मालूम होगा कि खीरा इस सृष्ट जगत् का एक प्राचीन अवदान है। मनुष्य की उद्भूति के बहुत पहले ही खीरा इस जगत् में आया है। विभिन्न देशों में, विभिन्न आबोहवा में इस फल को उगते देखा जाता है। सर्वत्र ही यह काफी जनप्रिय है। अंग्रेजी के cucumber शब्द आपात् दृष्टि से ऐंग्लो, सेक्सन मूल का मालूम पड़ने पर भी यह एक ब्राइटन शब्द है। अंग्रेजी की कुछ सहयोगी भाषाओं द्वारा इसका व्यवहार किये जाने पर भी इसकी उद्भूति ब्रिटेन में है।

खीरा मुख्यतः दो प्रजातियों के होते हैं -

(1) बरसाती या मचान का खीरा-जिसका संस्कृत है शशक फलं (शशक > शशअ > शशा (बंगाल)। यह फल शशक अर्थात् खरगोश को अतिप्रिय है, जिसके कारण ऐसा नाम दिया गया था। द्वितीय प्रजाति है- शीत ग्रीष्म का खीरा या टाँड़ खीरा या खीरिका या खीरा (खीरिका > खीरिआ > खीरा/खीरी/खीरेई) ।

बरसात, शीत व ग्रीष्म के अतिरिक्त खीरा की बारहमासी उपप्रजाति भी है। वर्षाकालीन खीरा रंग में कुछ हरा है और आकार में कुछ छोटा और काफी सरस होता है। देशभेद से, ऋतुभेद से खीरा के आकार, आकृति और वर्ण में काफी तारतम्य देखा जाता है।

किडनी और लीवर के रोग में बरसाती और जाड़े का खीरा दोनों ही खीरों में औषधीय और स्वास्थ्यगत मूल्य हैं। किडनी और लीवर पर इसका प्रभाव शुभ ही है। लेकिन अति

मात्रा में खाने से सभी कुछ खराब है। बरसाती खीरा सरस, मीठा रस युक्त, थोड़ा कसैलापन, इसलिए फरुही और भुने चूड़ा के साथ अत्यन्त मुखरोचक है। नाश्ता के रूप में भुने हुए चूड़ा के साथ खाने पर स्वास्थ्य के लिए बहुत ही अच्छा है। फरुही के साथ खाने पर स्वास्थ्य के लिए क्षतिकर नहीं है। बरसाती खीरा के साथ फरुही में कोई दोष नहीं है, जबकि स्वाद भी अच्छा होता है।

खीरा और चूड़ा-फरुही का नाश्ता सुबह ही अच्छा होता है। ग्रीष्मकालीन खीरा और भूईं खीरा कच्ची अवस्था में अर्थात् नाश्ते में इसका गुण बरसाती खीरा से कुछ कम है। लेकिन पकी तरकारी के रूप में शीत के भूईंखीरा का गुण बरसाती खीरे से अधिक है।

मूत्ररोग और मूत्रस्तम्भ रोग में : बारहमासी खीरा का मूल (जड़) सुबह थोड़ी मात्रा में खाने पर लीवर के रोग में, मूत्ररोग में और मूत्रस्तम्भ रोग में अच्छा फल देता है।

रक्तक्षरण (आभ्यन्तारिक या ब्राह्म) रोग में: कुछ लोग हैं जिन्हें हल्की चोट से ही शरीर से रक्तक्षरण होता है। ऐसे लोग यदि कोमल अवस्था में पकी तरकारी में भूईंखीरा (शीत का खीरा) का व्यवहार करें तो रक्तक्षरण (हेमरेज) सम्बन्धी प्रवणता कम हो जाती है। इस खीरे में कच्चे में जो गुण है, पकी अवस्था में उससे अधिक गुण है।

खीरा खाने का समयः सूर्योदय के समय खीरा में जितने गुण रहते हैं दिन

चढ़ने के साथ साथ वे गुण घटते जाते हैं। सूर्यास्त के बाद इसके अधिकांश गुण लुप्त हो जाते हैं। यह विशेषता केवल मीठा खीरे, तीता खीरे की ही नहीं है, कच्चे पके अथवा पकाये हुए बिना पकाये सभी में एक जैसी होती है। इसीलिए खीरा सुबह के समय ही खाना वांछनीय है। हमलोगों के अंग देश में (पूर्णियाँ, भागलपुर इत्यादि विहार के अंचल) कहा जाता है -

" बिहान दो खीरा हीरा

दूपहर में खीरा खीरा

संध्या में खीरा पीरा।।"

अन्य व्यवहार: ज्योतिषीय मत से जिनके मंगल में ग्रहदोष हो उनके शरीर से अल्प कारण से ही रक्तक्षरण होता है। इन्हें यदि मंगल संजात रक्तक्षयी दुर्घटना (accident) संभावना हो,

तो वे मंगलवार की सुबह स्नान करके अभुक्त अवस्था में दाहिने हाथ में लाल धागे से अपनी कनिष्ठ अंगुली के बराबर क्षीरिका-मूल धारण करें तो मंगल सम्बन्धी उत्पात कम हो जाने की संभावना रहती है (नारियाँ धारण करेंगी बाएँ हाथ में। ऐसे मामले में बारहमासी खीरा का मूल धारण करना होगा)

(2) खीरा के पके बीजों के छिलके छुड़ाकर बादाम के विकल्प के रूप में व्यवहार किया जाता है और इसका तेल रसोई घर (edible oil) में भी व्यवहार किया जाता है।

मधुमेह/बहुमूत्रः

लक्षण और कारणः प्राचीनकाल में डायविटिज या मधुमेह रोग को संस्कृत में मधुमेह कहा जाता था, बहुमूत्र भी कहा जाता था। लेकिन दोनों एक नहीं है। बहुमूत्र का अर्थ है जिस रोग में बार-बार मूत्रत्याग किया जाता है। मधुमेह का अर्थ है मूत्र में शर्करा का

भाग बढ़ जाना। वास्तव में शर्करायुक्त बहुमूत्र रोग को मधुमेह कहा जाता है। प्राचीन वैद्यकशास्त्र में किसी पात्र में मूत्र रखकर, ऊपर के भाग को अलग हटाकर अलग से ऊपर के भाग और नीचे के भाग की परीक्षा की जाती थी। तभी निर्णय पर पहुँचा जाता था कि रोगी को मधुमेह या डायविटिज है या नहीं। उसके बाद निश्चित रूप से रोग पकड़ में आता तब, जब किसी खुले स्थान पर मूत्र को डाल दिया जाता। यदि देखा जाता कि कुछ ही समय में उस पर चीटियाँ आ पहुँची हैं तब निःसन्देह माना जाता था कि रोगी को मधुमेह रोग हुआ है।

मणिपुर चक्र की दुर्बलता ही इस रोग का कारण है। इसमें अग्न्याशय और यकृत के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देना होगा। बहुमूत्र/मधुमेह रोग बुद्धिजीवियों का रोग है जो लोग शारीरिक परिश्रम करते हैं, यह रोग उन्हें बिरले ही होता है।

औषधि और पथ्य :

(1) करेला (momordica charantia linn):

परिचय और प्रजातियाँ : उत्स + कन्+टा = उत्सिका। जिस तरकारी को खाने से शरीर के विभिन्न उत्स से लार निकलकर खाद्य परिपाक में सहायता करती है, वही है उत्सिका उच्छे (बंगला)। इसीलिए करेला प्रथम ग्रास में खाना चाहिए। आदिम अवस्था में या जंगली अवस्था में करेला बंगाल में जहाँ-जहाँ अभी भी उगता है। ये जंगली करेले आकार में बहुत छोटे होते हैं। अत्यधिक तीते और औषधीय गुण इनमें सबसे अधिक होता है। दूसरे प्रकार के खेती के करेले हैं। जंगली करेला को संवर्धन द्वारा उन्नत करके खेती के करेली की सृष्टि हुई थी। यह करेला आकार में कुछ बड़ा होता है तीतापन जंगली करेले से कुछ कम होता है। उत्तर भारत में इस खेती के करेले को कहा जाता है करेली। इस खेती के करेले को संवर्धन के द्वारा फिर से वृहदायतन

बनाने पर जो होता है, उसे उत्तर भारत में कहते हैं 'करला'। बंगला में कहा जाता है 'करेला'। खेती के करेले की अपेक्षा बहुत अधिक लम्बा, तीतापन कम, गुण भी कम। संस्कृत में तीनों को उत्सिका कहा जाता है। अंग्रेजी में कह ते हैं Bitter gourd ।

बहुमूत्र/मधुमेह रोग में : (1) छोटी करेली (या जंगली करेली) कुचलकर उसका रस (सुबह खाली पेट में) रोगी को पान कराया जाए तो अच्छा फल मिलता है।

(2) जामुन (Eligenia Jambolana Lam) मधुमेह रोग की दवा और प्रतिषेधक है।

फलों में जम्बूफल या जामुन सर्वगुणाधार है। कुछ कसैला होने के कारण वह मधुमेह रोग का प्रतिशोधक है। मधुमेह का

प्रतिशोधक रहता है जामुन की अस्थि (गुठली) के अन्तर्गत सारवत्ता (सार भाग) में जामुन के भीतर के भाग गूदे (Pulp) में भी मधुमेह की दवा है। जामुन फल की गुठलियों को तोड़कर उसके भीतर का गूदा एक आना मात्र (चौथाई चम्मच) मधु के साथ लेहन करके खाने पर मधुमेह रोग में विशेष उपकार प्राप्त होता है।

(3) **कुंदरू** (coccinia indica w C A - cossima cordiflia linn)

मधुमेह और कामला रोग की दवाः कुंदरू (संस्कृत में विम्ब) के पत्तों का रस एक तोला (12 ग्राम) मधु के साथ सुबह लेहन करके खाने पर यह रोग प्रशमित होता है।

(4) डायबिटिज रोग की बढ़ी हुई अवस्था में छोले की पिसी दाल या बेसन के साथ कुंदरू के पत्तों को फेंटकर तेल में छानने से जो बड़ी या फुलौरी बनती है वह डायबिटिज रोग में आहार और औषधि दोनों ही है।

(5) ओल गाछ का पत्ता या पत्ते का बड़ा मधुमेह रोग की औषधि है।

(6) नीम का रस (पत्ते कुचलकर) मधुमेह रोग की औषधि है (सुबह खाली पेट में) नियमित रूप से पीने पर रक्त शर्करा का भाग कम करने में सहायक है।

(7) खट्टा आम मधुमेह रोग में औषधि का काम करता है।

(8) (मधुमेह) रोगी को क्षारधर्मी खाद्य अधिक परिमाण में व्यवहार करना उचित है। रोगी को लोभ का संवरण करना होगा और उपवास का अभ्यास करना होगा।

मूत्र स्तम्भ

खजूर/खजूर का ताजा रस / खजूर गुड़ (Phoenix Sylvertris Rexb):

ताड़ वर्ग का अन्यतम गाछ है खजूर। संस्कृत 'खजूर' शब्द से बंगला में तद्भव 'खाजुर या 'खजेर' आया है। खजूर गाछ से भारत और मध्य एशिया के लोग दीर्घकाल से परिचित हैं। भारतीय या इण्डिका वर्गीय खजूर की मोटे तौर पर चार शाखाएँ हैं-1) गांगेय (गैजेलाइटिस), 2) राजस्थानी, 3) गुजराती, 4) दक्षिणी (डेकानाइटिस)। इनमें से स्वाद में गुण में गुजराती खजूर सर्वोत्कृष्ट है। राजस्थानी खजूर भी उन्नत दर्जे का है। दक्षिणी खजूर साधारण दर्जे का है और गांगेय खजूर में गूदा नाम का कुछ नहीं होता लेकिन इस गैंजेलाइटिस प्रजाति के खजूर की विशेषता यह है कि इसके पेड़ रस से एकदम लबालब होते हैं। इन गाछों से प्रचुर मात्रा

में रस या ताड़ी (शुद्ध वैयाकरणिक विचार से खजूर के इस खमीरीकृत रस को ताड़ी न कहकर खर्जूरी कहना संगत है क्योंकि ताड़ी तो होगी ताड़ से) उत्पन्न होती है। खजूर गाछ से (रस के मामले में) एक महासुविधा यह है कि इसके धड़ को छीलकर रस निकालना पड़ता है। इसलिए बंध्या (खजूर) गाछ से भी रस प्राप्त होता है। किन्तु (इसका) कुफल यह होता है कि लोग अति लोभ के कारण गाछ के स्वास्थ्य की परवाह किए बिना जितना चाहते हैं, उतना रस निकालते रहते हैं। उसके परिणामस्वरूप गाछ की अकाल मृत्यु होती है। खजूर के पेड़ों को इस सर्वनाश लोभ के चंगुल से बचाने के लिए इसके सम्बन्ध में वैधानिक और समाजगत व्यवस्था होनी चाहिए। खजूर गुड़ की मिठास ईख गुड़ से कम ही है। किन्तु स्वाद-गंध में मनोरम होता है। गुण के मामले में ताड़गुड़ की अपेक्षा कम होते हुए भी इसका आकर्षण अप्रतिरोध्य है।

रोग की औषधि के रूप में खजूरः खजूर का ताजा रस, कृमि रोग, लीवर रोग, शोथ रोग और मूत्रस्तम्भ की दवा है।

पुराने खजूर गुड़ का शर्बत सुबह को धीरे-धीरे चुस्की लेकर पान करने से अर्श का भी प्रकोप प्रशमित होता है।

ताड़ु (Borassus flabellifer Linn)/ताड़ रस/ताड़ी

ताड़ फल (Palmyra) से प्राचीनकाल से ही भारतवासी परिचित हैं। भारत से बाहर विभिन्न देशों में ताड़ फल उगते हैं लेकिन भारत में सबसे अधिक। भारतीय ताड़ मुख्यतः दो प्रजातियों के हैं-

1) गैंजेलाइटिस या गांगेय ताड़ जो उत्तर भारत की समग्र गंगा अववाहिका में उगा करते हैं; 2) डेफानाइटिस या दक्षिणपथीय जो दक्षिणापथ के पूर्वी उपकूल, करमण्डल उपकूल और कोंकण उपकूल में उगते हैं।

ताड़-ताड़ का गूदा - ताइरस- ताड़गुड़ : सामान्यतः मोटा मोटी विचार से ताड़ एक पुष्टिकर खाद्य है। पके ताड़ का रस [रेशेयुक्त गुठली को रगड़कर, निकालकर उससे बड़े, खीर इत्यादि विभिन्न प्रकार के भोज्य तैयार किए जाते हैं।] बहुत पुष्टिकर है, लेकिन उदरामय के लिए खराब है। कच्ची अवस्था में ताड़ का गूदा स्नायु के लिए अच्छा होते हुए भी आमाशय रोगी के लिए अभक्ष्य है। पके ताड़ की गुठली के भीतर का गूदा लघुपाच्य पुष्टिकर चीज है। गुठली के अन्दर का संलग्न कुछ कड़ा गूदा स्नेह (चिकना) पदार्थ युक्त है अर्थात् उससे तेल तैयार हो सकता है। वह तेल-राँधने के काम में या साबुन उद्योग में व्यवहार किया जा

सकता है। दक्षिणापथ के ताड़ रस को थोड़ा खौलाकर नीरा नामक जो वस्तु तैयार होती है उसमें भी पुष्टिगत मूल्य है। ताड़ रस (गाछ को छीलकर) से जो गुड़ तैयार होता है उसमें बहुत अधिक गुण है। ताड़-गुड़ कफ रोग की दवा है और कफ रोग की औषधि के रूप में प्राचीनकाल से ही ताल मिश्री का व्यवहार होता आया है।

ताड़ी और किडनी का स्वास्थ्य :

ताड़ का रस खमीरीकृत हो जाने पर उसे ताड़ी कहा जाता है। ताड़ी किडनी की अनियमित कार्यकारिता में (औषधि के रूप में) (अल्प परिमाण में) फल देती है।

गाद विनिगर : ताड़ रस के नीचे जो तलछट जमती है वह गाद नाम से परिचित हैं। यह गाद बेकरी उद्योग (पावरोटी तैयार करने) में व्यवहृत होती है। ताड़ के रस को रौद्रपक्व करने पर जब

उसमें खमीर कम हो जाता है और थोड़ा खट्टापन आता है तब उसे सिरका या विनिगर कहा जाता है।

विनिगर ईख के रस, खजूर के रस से भी तैयार होता है।

सूखी रोटी

रोटी को करछी से सेंककर उसके बाद चूल्हे पर रखकर उसकी गर्मी से फुला ली जाये तो वह व्यवहार के उपयुक्त होती है। कम से कम आजकल के नियम से। लेकिन असल में रोटी पर यदि घी या पानी न लगाया जाये तो वह अग्न्याशय (Pancreas) और यकृत पर धक्का देती (प्रतिकूल) है।

इसलिए प्राचीनकाल से अंग्रेजी हुकूमत के आरम्भ तक भारत में जब कभी रोटियाँ तैयार की जातीं, उन पर हाथ से घी तो

लगाया ही जाता था-अधिकांश क्षेत्र में फिर से पानी भी लगाया जाता था। उसके बाद मुख्यतः अभाव की मार से, गौणतः अन्य कारणों से आजकल सामान्य लोग रोटी में घी नहीं लगाते और घी लगाये बिना केवल पानी लगाने से नर्म तो होती जरूर है लेकिन वह दाँतों में लटक जाती है। पंजाब, हिमाचल प्रदेश और जम्मू में देखा है कि लोग गर्म रोटी में घी अवश्य ही लगाते हैं। फूली रोटियों में एक-एक करके घी लगाकर भोजन में परोसते हैं उधर के लोगों में स्वच्छंदता यथेष्ट है, खाँटी घी भी मिलता है।

महाराष्ट्र की पूरनपूरी में भी घी लगाकर खाने की रीति है। पूर्वी भारत में विशेषकर बंगाल और असम में आर्थिक अभाव तो है ही, पर्याप्त खाँटी घी का भी अभाव है। उसके साथ ही है यहाँ के पानी में पाचनगत दुर्बलता अर्थात् यहाँ के पानी में तेल या घी अर्थात् उपसेचन वर्गीय कोई भी चीज आसानी से अच्छी तरह

हजम होना नहीं चाहती। रोटी में घी-पानी का व्यवहार कम हो जाने का यह भी एक कारण है।

भिगोया (या अंकुरित छोला)

छोले के छिलकों को हटाए बिना भिगोकर फुला लेने पर उसे कहा जाता है 'सिक्तचनकं'। छोला कुछ गुरुपाक होते हुए भी गुड़ अदरक के साथ भिगोया चना मिलाकर खाने से वह कुछ सहज पाच्य होता है। 'लवनेन सह सिक्तचनकं-' अर्थात् नमक डालकर भिगोया छोला किडनी रोग की दवा है।

जिन्हें किसी काम में उत्साह नहीं मिलता, जो दीर्घसूत्री या आलसी हैं, वे गुड़, भिगोया छोला और अदरक मिलाकर कुछ दिन खाने पर कर्मोद्यम वापस प्राप्त करेंगे।

(यथेष्ट खाद्यगुण समृद्ध होने के कारण जो लोग निरामिष भोजन करते हैं, उनका पेट यदि सहन कर सके, तो सुबह नियमित रूप से भिगोया या अंकुरित छोला खाना बहुत ही उपकारी है। भिगोया छोला पेट साफ करने में भी सहायता करता है।)

अध्याय-7

श्वासतंत्र सम्बन्धी रोग :

आन्त्रिक क्षत, कोष वृद्धि, गल गंडु/श्लीपद,

तुलसी (Basil, Ocimum Sanctum Linn)

परिचय और प्रजातियाँ : विश्व में शताधिक प्रजातियों के तुलसी या तुलसी वर्गीय गाछ हैं। साइबोरिया में (स्पेन और पुर्तगाल) सबसे अधिक तुलसी उगती है। बंगालिस्तान की मिट्टी, पानी जल-वायु, तुलसी के लिए बहुत ही उपयुक्त है। केवल बंगालिस्तान ही नहीं, समस्त भारतवर्ष के प्रत्येक गृह में तुलसी पौधा रखने का नियम है, इसके गुणों की बात को ध्यान में रखकर ही। समग्र तुलसी वर्गीय पौधों में अपना एक वर्ण और गंध है। यद्यपि सभी प्रकार के स्वभाव की तुलसी के बीज बहुत कुछ एक जैसे हैं और तुलसी वर्ग की मूल गंध सभी में है, फिर भी सभी में अपने वैशिष्ट्य के रूप में अपनी गंध भी है। कतिपय प्रजातियों की जो तुलसी बंगाल की बिलकुल स्थानीय हैं अर्थात् बेंजालाइटिस वर्गीय है। उनमें से राधातुलसी और बाबूई तुलसी अन्यतम है। कृष्णा तुलसी उत्तर भारत से आई है।

जिस तुलसी के पत्ते हरे और कुछ बड़े आकार के होते हैं लेकिन गाछ भी बहुत बड़ा नहीं होता, उसे राधा तुलसी कहते हैं। राधा तुलसी मुख्यतः दो प्रजातियों की होती हैं, उनकी गंध में भी तारतम्य होता है। पत्ते के आकार में भी थोड़ा भेद है। एक प्रजाति के पत्तों का रंग फीका हरा, गंध कुछ अधिक और मृद किस्म की होती है। एक और प्रजाति के पत्ते और भी फीके हरे कह सकते हैं सफेदीयुक्त हरे, उसकी गंध कुछ कम होती है। कृष्णा तुलसी के गाछ का आकार राधा तुलसी की अपेक्षा बहुत बड़ा होता है। मैंने बिहार में एक धार्मिक परिवार के घर के बगीचे में प्रायः दो पुरसा ऊँचा कृष्णा तुलसी का गाछ देखा है। विश्व में सभी प्रजातियों की तुलसी में इसी का आकार सबसे बड़ा होता है। गाछ और झाड़ राधा तुलसी की अपेक्षा बहुत अधिक होते हैं। पत्ते कालिमा लिए हरे होते हैं। पत्ते कभी मध्यम किस्म के, कभी कुछ छोटे, उसमें काले दाग होते हैं। बाबुई तुलसी की गंध के साथ थोड़ा बहुत रक्त चन्दन की गंध में मेल है। चन्दन तुलसी की गंध बहुत उग्र-मानो (चन्दन और) तुलसी की गंध के साथ नागदोना की उग्रता मिली

हुई हो। राधा तुलसी कालिमायुक्त रंग की भी होती है, लालिमायुक्त रंग की भी होती है। लालिमा वाली अधिक खुरदुरी होती है। इसीलिए इनके पत्तों का स्पर्श बिलकुल ही आरामदायक नहीं होता। गंध खराब न होते हुए भी अच्छी नहीं होती। स्वाद भी उतना अच्छा नहीं होता। रावण तुलसी की भी अलग विशेषता होती है।

[रावण तुलसी को कोई-कोई बलवान तुलसी भी कहते हैं। इसके अलावा और एक प्रकार की तुलसी है जिसका नाम है कर्पूर तुलसी। इसके रस के अर्क से कपूर प्राप्त किया जा सकता है... कपूर का अपना पेड़ तो है ही।]

गुणागुण : बंगाल के गाँवों में राधा तुलसी जितनी जनप्रिय है, बाबुई तुलसी या कृष्णा तुलसी उतनी जनप्रिय नहीं है। सभी तुलसी में औषधीय गुण प्रचुर मात्रा में है। लेकिन औषधीय गुण में सबसे अव्वल है राधा तुलसी, उसके बाद बाबुई तुलसी, उसके बाद चन्दन तुलसी, उसके बाद कृष्णा तुलसी। राधा तुलसी व्यक्ति की उम्र जितनी कम होती है, उसके ऊपर उतना ही अधिक

प्रभाव विस्तार करती है। उम्र जितनी बढ़ती है, राधातुलसी का औषधीय गुणों का प्रभाव उतना कम होता जाएगा। व्यक्ति की उम्र जितनी अधिक होगी, कृष्णा तुलसी के औषधीय गुणों का प्रभाव उतना ही अधिक होगा और उम्र जितनी कम होगी, प्रभाव उतना कम होगा।

शिशुरोग में राधा तुलसी: लगभग पचीस प्रकार के शिशु रोगों की दवा राधा तुलसी है। साधारणतौर पर शिशुओं के सर्दीज्वर में और सर्दी में मधु के साथ राधा तुलसी का रस विशेष प्रभावशाली है। सौरी गृह के शिशु के अस्वस्थ सर्दी खाँसी होने पर मधु के साथ राधा तुलसी (पत्तों का रस) बहुत प्रभावशाली हुआ करती है।

तरुण के रोगों में राधा तुलसी : तरुण उम्र की कई व्याधियों की आश्चर्यजनक दवा है तुलसी-विशेषकर राधा तुलसी। 16 से 24 वर्ष की उम्र के लड़कों के अति मात्रा में शुक्रक्षय में एक

कनिष्ठांगुल परिमाण राधा तुलसी का मूल (असली मूल या शाखा मूल दोनों ही चल सकते हैं), अभाव में कृष्ण तुलसी का मूल पान के साथ (डंठल छोड़कर) खाली पेट में चबाकर खाने से यह औषधि चमत्कारिक काम करती है (रोग की बढ़ी हुई अवस्था में रोज सेवन करना चाहिए। रोग दूर हो जाने के बाद भी चार रविवार सुबह उठकर खाना चाहिए।)

दमा रोग में बाबुई तुलसी : बाबुई तुलसी का रस श्वॉस रोग की दवा है। बाबुई तुलसी के गाछ पर एक प्रकार के कीड़े निवास करते हैं। आवास सहित इस कीड़े को लाल धागे से बाँधकर पुरुष दाहिने हाथ में और नारी बाएँ हाथ में धारण करें तो दमा का कष्ट उपशमित होता है। जिनके मातृकुल में दमा रोग है उन्हें दमा रोग के आक्रमण की संभावना रहती है। पुराने जमाने के लोगों की धारणा थी कि दमा रोग, मातृकुल से ही आता है। जो भी हो जिनके मातृकुल में दमा रोग है उनमें यदि पाँच से पन्द्रह वर्षों के

बीच कभी किसी प्रकार के दमा रोग या श्वॉस कष्ट के लक्षण पाए जाये तो वह शिशु (या बालक) हर शनिवार को खाली पेट में सुबह एक चम्मच बाबुई तुलसी का रस (पत्तों का रस, पौधे का रस नहीं) पान करने पर उसी से मातृकुल संजात दमा रोग के पुनरोदय की संभावना नहीं रहती।

ज्वर रोग और यक्ष्मा रोग में व्यक्ष्मा: चन्दन तुलसी रोग की प्रथामिक अवस्था में चन्दन तुलसी आश्चर्यजनक काम आती है। धीमे बुखार में भी चन्दन तुलसी की वटिका मधु के साथ विशेष फलप्रद है। दीर्घकालीन ज्वर रोग किसी भी हालत में छूटना नहीं चाहता, थोड़े सेंधा नमक के साथ एक साथ दो वटिका चन्दन तुलसी चूरकर खाने से वह रोग भाग जाता है।

चन्दन तुलसी स्नायु रोग में भी औषधि का काम करती है। चन्दन तुलसी अत्यन्त उग्र भेषज है। शिशुओं के स्नायुरोग में यह मंत्रवत् काम करती है। (पत्तों का रस)।

विषक्रिया और कृष्णा तुलसी । विषक्रिया नष्ट करने का गुण कृष्णा तुलसी में मुख्यरूप से है। अन्य तुलसी में यह गुण गौण रूप से है।

राम तुलसी: तुलसी में भी पर्याप्त औषधीय गुण है।

सफेदी युक्त किस्म की राधा तुलसी से जो लकड़ी प्राप्त होती है, उससे तुलसी की माला तैयार होती है और कंठी के रूप में किसी-किसी सम्प्रदाय के द्वारा व्यवहृत होती है।

प्राचीन बंगाल में बाबुई तुलसी की लकड़ी से विभिन्न प्रकार की छोटी-छोटी वस्तुएँ भी तैयार की जाती थीं। तुलसी चूँकि एक सुगंधित उद्भिद है इसलिए इससे विभिन्न प्रकार के एसेन्स तैयार हो सकते हैं।

तुलसी की हवा बहुत ही स्वास्थ्यप्रद है। दोनों बेला विशेषकर संध्या बेला में इसके चौरे पर दीपक जलाने की रीति बंगाल और भारत में प्रचलित है। (इस रीति के माध्यम से) अन्य कोई पुण्य न होने पर भी इसके समीप रहने से इसकी हवा शरीर का उपकार करती है।

तुलसी पर सूर्य और चन्द्र का प्रभाव परिलक्षित होता है। पूर्णिमा की रात्रि को तुलसी पर चन्द्रालोक का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है।

मधुमक्खी और मधु :

भारत में साधारणतः तीन प्रकार की मधुमक्खियाँ पायी जाती हैं: रक्-बी, बुश-बी, और एपिस इण्ड़िका। रक्-बी बड़ी जाति की मधुमक्खियाँ हैं जो प्रचुर परिमाण में मधु तैयार करती हैं। छत्ते बड़े-बड़े, साधारणतः वटवृक्ष पर या बड़े-बड़े पेड़ों की डालियों पर छत्ते बनाती हैं। कई बार छत्ते इतने बड़े होते हैं कि छत्ते के फटने से टप-टप करके मधु जमीन पर गिरने लगता है।

रक्-बी के द्वारा तैयार मधु कुछ उग्र होता है। यह मधु उग्रवीर्य के नाम से जाना चाहता है। व्यक्ति की प्राणशक्ति जहाँ कम हो गयी हो मृत्यु की हिमशीतलता जहाँ उसकी अवसन्न देह में उतर आयी हो, कई बार उस अवस्था में यह उग्रवीर्य मधु नये सिरे से प्राणसंचार कर देता है। प्राणशक्ति कम हो गयी व्यक्ति के शरीर के अभ्यंतर यदि कोई रक्तक्षयी रोग न हो, तो कृष्णा तुलसी के तीन पत्तों के साथ दस बूँद मधु प्रातः काल खाली पेट खाने से उत्तम

फल प्राप्त होता है। लेकिन किसी को यदि अर्श रक्त आमाशय या देह के अभ्यंतर क्षत (अल्सर) हो तो उसके लिए इसका पान करना अनुचित है।

बुश-बी हैं छोटी प्रजाति की मधुमक्खियाँ। ये भी भारत की प्राचीन अधिवासी हैं। पेड़ पर छत्ता तैयार करने के अतिरिक्त ये मिट्टी के कमरे की दीवारों पर छत्ते तैयार करना अधिक पसन्द करती हैं। एक-एक छत्ते से बहुत ही कम मधु प्राप्त होता है। लेकिन मधु बहुत सुसंतुलित होता है। स्वादगंध में अच्छा होता है, अन्य मधु की अपेक्षा लघुवीर्य होता है। अच्छा नीम मधु (नीम फूल का मधु ये ही तैयार करती है।) ये सहज ही डंक नहीं मारती।

एपिस इण्डिका भारत की आदिम मधुमक्खियाँ हैं। इनका आकार मध्यम होता है। ये मध्यम आकार के पेड़ पर निवास करती हैं। जिन गाछों में पुष्पमधु अधिक परिमाण में होता है, वे उसी गाछ

पर या उस गाछ के निकटवर्ती इलाके में छत्ता तैयार करती हैं। ये बहुत दूर तक उड़कर जा सकती हैं। सरसों फूल का मधु ये ही सबसे अच्छा बनाती हैं। आयुर्वेदिक औषधि तैयार करने में इनके द्वारा तैयार मधु ही वैद्य लोग अधिक पसन्द करते हैं। सुन्दरवन में जाड़े के अंत में ये ही सबसे पहले छत्ता तैयार करने के लिए आगे आती हैं। इनके छत्ते का मधुत्थ (मोम) अधिक लचीला होता है।

(पाल्य) मधुमक्खियों को ईख का रस पीने के लिए देने से वे उससे अति उत्तम दर्जे का मधु तैयार कर सकती हैं। साल भर हमेशा पर्याप्त मात्रा में फूल न रहने के कारण कभी-कभी पुष्प मधु का अभाव हो जाता है। इसलिए उस समय छत्ते में पर्याप्त मधु जमा नहीं होता। पालित मधुमक्खियों को ईख का रस पिलाने पर इस समस्या का सहज ही समाधान हो सकता है। [द्रव्यगुण-चिकित्सा में अनेक औषधियों को तैयार करने में मधु-अनुपान होता है।]

अश्वगंधा (Without Somniteral a Dunal) और यक्ष्मा रोग :

अश्वगंधा एक औषधीय गाछ है।

(अन्य भेषज पौधों के साथ मिलाकर) इससे यक्ष्मा रोग की उत्तम भेषज औषधि तैयार होती है।

व्यवहार - विधि : बेड़ेला, गाम्भोरी, शतमूली, अश्वगंधा और पुनर्नवा समान मात्रा में एक साथ (जड़) शुष्क और चूर्ण करके दोनों बेला मधु के साथ सेव्य। सेवन करने के कुछ देर बाद एक उफान का बकरी का दूध पान करने पर इस रोग में शीघ्र फल प्राप्त होता है।

हृदय रोग :

[अर्जुन छाल के साथ अश्वंगधा की जड़ी मिलाकर आयुर्वेद में हृदय रोग की औषधि तैयार की जाती है। यक्ष्मा: छिलका सहित मूंगदाल पहले दिन रात को पानी में भिगोये रखकर, दूसरे दिन सुबह पत्थर पर पीसकर दही की मलाई के साथ शर्बत बनाकर खाली पेट में पीने से यक्ष्मा रोग में अति उत्तम फल प्राप्त होता है]।

वासक और राम वासक :

वासक और राम वासक गाछ पूर्वी भारत में अच्छे ही उगते हैं। राम वासक ऊँचाई में खास बड़ा नहीं होता है। कई बार तो गाछ थोड़ा बड़ा होने पर झुक जाता है। राम वासक के साथ सियार की पूँछ का कोई दूर का सम्बन्ध लगता है। इसीलिए राम वासक को क्रोष्टुपुच्छी, क्रोष्टुपुच्छिका, क्रोष्टुकपुच्छी, क्रोष्टुक पुच्छिका कहा जाता है।

[वासक गाछ भी उँचाई में कोई खास बड़ा नहीं होता, लेकिन डालपत्तियाँ मजबूत होती हैं। इसके पत्ते घने हरे रंग की और लम्बी होती हैं। इसका सबसे अधिक गुण पत्तों में होता है]।

वासक-पत्ता या वासक रस का गुण कफ मुक्ति में और ज्वर के प्रतिरोध में है। सर्दी की बढ़ी हुई अवस्था में और पारी ज्वर के आक्रमण में वासक का जोड़ा मिलना मुश्किल है।

" बासी मुखे वासकेर रस खेयो मधु साथे ।
बलते पारी पालाज्वर ही पालिये जाबे एते ।।

[वासक-पत्तों को कुचलकर पत्तों का रस निकाल कर व्यवहार करने के अतिरिक्त और एक प्रकार से इसका व्यवहार होता है। विशेषकर सर्दी की बढ़ी हुई अवस्था में और कफ मुक्ति

एक मुट्ठी वासक पत्ते दोगुनी मात्रा पानी में सिझाकर जो क्वाथ तैयार होता है, उसे मधु के साथ दो चम्मच दिन भर में कई बार खाना चाहिए।]

राम वासक में भी वासक पत्तों वाले गुण कुछ हैं। इसके अलावा कम उम्र में शुक्र सम्बन्धी रोग में राम वासक का रस अल्पमात्र में ताल मिश्री के साथ खाने से तेजी से रोग दूर हो जाता है। सुबह खाली पेट में व्यवहार करना चाहिए ।

रामवासक के पतों का रस न मिलने पर तुलसी की जड़ से यह काम हुआ करता है। लेकिन रामवासक की अपेक्षा वह कम शक्तिशाली है। इस प्रकार की अस्वस्थता (शुक्र सम्बन्धी अस्वस्थता) में वासकपत्ता भी काम नहीं देता।

आयुर्वेद की अनेक दवाएँ रामवासक से ही तैयार होती हैं।

ब्रोंकाइटिस-एक उबाल के बकरी के दूध में वासक पत्तों का रस और हरें चूर्ण का चूर्ण मिलाकर कुल मिलाकर आधा पाव सूर्योदय और सुर्यास्त के बाद खाने से ब्रोंकाइटिस रोग में अच्छा फल देता है।

अदरक (Ginger-Zingiber Officinale Rose) :

परिचय और प्रजातियाँ: संस्कृत 'आर्द्रक' से बंगला का 'आंदा' शब्द

आया है। अदरक शरीर को भिगो देता है, स्निग्ध रखता है, खुद भी भीगा-भीगी-गीला रहता है। इसीलिए संस्कृत में नाम आर्द्रक है। (आर्द्रक> अर्दक आद्दा> आदा)। बिहार और उत्तरप्रदेश के पूर्वांश

में कहा जाता है आदी। अदरक को उर्दू हिन्दी हिन्दोस्तानी में अदरक कहा जाता है जो संस्कृत आर्द्रक शब्द से आया है।

अदरक पृथ्वी के अनेक देशों में उगता है। उनमें से मध्य जापान का अदरक ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। हम लोग कहते हैं कि अदरक के व्यापारी के जहाज के समाचार की क्या जरूरत है? लेकिन सचमुच अदरक के व्यापारी के जहाज के समाचार की जरूरत एक समय पड़ती थी। क्योंकि जापान से जहाज द्वारा अदरक का आयात किया जाता था। इसके अलावा फिलीपीन्स थाइलैण्ड मलेशिया में अदरक अच्छा ही होता है। मलेशिया में 'कंकड़' नामक जो अदरक वर्गीय मसाला मिलता है, पाक-शिल्प में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। भारत में भी अदरक जंगली अवस्था में उगता है। भारत के त्रिपुरा और मिजोरम तथा बंगलादेश के पर्वतीय चट्टग्राम का अदरक काफी ऊँचे दर्जे का है।

बंगाल में विशेषकर राढ़ के वीरभूम जिले की नदी अववाहिका इलाके में अदरक काफी अच्छा होता है।

अदरक विभिन्न रंगों का होता है सफेदी युक्त पीला, घना पीला, कृष्णाभपीला और काला अदरक।

कफारि (कफ + अरि = कफारि) के रूप में अदरक का व्यवहार:

आयुर्वेद में अदरक के अजस्त्र गुणों का उल्लेख है। जिन मूल त्रिधातुओं से जीवस्वास्थ्य निर्धारित होता है उनमें प्रथम है वायु, द्वितीय है पित्त और तृतीय कफ है।

वायु दो प्रकार की है- 1) पंच अन्तर्वायु (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान), 2) पंच वहिर्वायु (नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त,

धनंजय) इस पंच अन्तर्वायु और पंच वहिर्वायु का समाहारगत नाम है पंचप्राण या दशप्राण (जो मानव अस्तित्व कां विशेष महत्वपूर्ण अंग है।)

पित्तधातु देह के परिपाक यंत्रों की प्रधान सहायक है। इसके फलस्वरूप शरीर संघटक सप्तधातुओं का उद्भव घटित होता है। तृतीय स्वास्थ्यगत धातु है कफ या देह का तरल लसलसा भाग है। कफ का आधिक्य देहाभ्यन्तर में व्यर्थ ही उष्णता की सृष्टि करता है। जिसका बाहरी प्रकाश ज्वर के रूप में देखा जाता है। यूनानी और हकीमी चिकित्सा में अवश्य ही रक्त को भी एक स्वास्थ्यगत मौलिक धातु माना जाता है।

कफ यह शब्द प्राचीन वैदिक है। लातिन के माध्यम से वर्तमान अंग्रेजी में भी हमलोग कफ (cough) शब्द को पाते हैं।

(त्रिफला का पानी वायु, पित्त, कफ इन त्रिदोष जान रोगों की दवा है।)

आर्द्रक या अदरक कफ का शत्रु है-कफ विनाशक है। इसीलिए आयुर्वेद में अदरक का एक नाम कफारि है। [कफाश्रित वायु के प्रभाव से श्वासक्रिया का कष्ट या श्वासरोग या दमे की सृष्टि होती है, उसके लिए अदरक का रस, गोघृत और दूध के साथ जो औषधि प्रस्तुत की जाती है, वह बहुत ही सफल है।

पाँच तोला गाय का घी काँसे की कटोरी में खौला लेना चाहिए। अन्य एक पात्र में ढाई तोला अदरक का रस गरम करके घी के पात्र में डालकर काँसे की थाली से ढँक देनी चाहिए। उसमें से दो तोला घी आधा पाव गर्म दूध के साथ रोग-यंत्रणा के समय लगातार पन्द्रह दिनों तक व्यवहार करने पर रोग पूरी तरह ठीक हो सकता है। इसके अतिरिक्त मातृकुलजात दमा के मामले में आधा

सेर पानी में 100 ग्राम ताल मिश्री, कुछ मात्रा में ईलायची, लौंग, यष्टि मधु और गोलमिर्च की बुकनी एक साथ सिझाकर 200 ग्राम रहते उतारकर दिन में तीन बार पान करने पर सुफल प्राप्त होता है।

कर्म में उत्साहीनता दूर करने में अदरक : जिन्हें किसी काम में उत्साह नहीं मिलता, जो दीर्घसूत्री या आलसी हैं, वे गुड़-फुलाया-चना अदरक एक साथ कुछ दिन खाने पर कर्मोद्यम वापस पायेंगे।

फरुही (मुढ़ी) में जो पेट फूलने का दोष है, अदरक के साथ फरुही (मूढ़ी) खाने पर वह दोष नहीं रहता। इसलिए जहाँ जलपान में फरुही का प्रचलन है वहाँ फरुही के साथ दो-चार अदरक के टुकड़े खा लेना उचित है।

"मूडिर संगे नारकोल कुरो आर आदा कुचि
गपागप खाबे दादा फेले दिये लुचि।"

पेट अच्छा किन्तु दुर्बल रोगी के लिए अदरक के पत्तों का रस कुछ अच्छा है। अदरक का सीरप भी शीतल पेय है। जमीन से अदरक को निकाल लेने के बाद उसे सिझाकर धूप में सुखा लेने पर जो तैयार होता है उसे संस्कृत में 'शुण्टिक' बंगला में 'गुँठ' या आदार 'गुँठ' कहते हैं। सोंठ का संस्कृत में और एक नाम इक्ष्वाकु है। सोंठ-अदरक आयुर्वेदिक औषधि तैयार करने के काम आता है। अदरक में जो थोड़ा बहुत दोष है, सोंठ में वह दोष नहीं है। लेकिन खाद्य के रूप में सोंठ उतना रुचिकर नहीं है। अदरक और सोंठ दोनों ही से उत्तम कोटि का सीरप तैयार हो सकता है। विभिन्न प्रकार के मुखरोचक और स्वास्थ्यप्रद शीतल पेय तैयार हो सकते हैं । तुमलोग चाहो तो घर में अदरक का शर्करा पेय तैयार करके देख सकते हो, खाने में अच्छा ही लगेगा। घर में शर्बत तैयार करने

के समय दो तीन चम्मच अदरक का सीरप डाल देने पर उससे स्वाद और गंध तो बढ़ेगा ही पाचन में भी सुविधा होगी। सूखी या गाढ़ी सब्जी चूल्हे से उतारते ही गर्म रहते दो चम्मच अदरक का सीरप डाल देने से परोसने के समय स्वाद गंध में वह अपूर्व हो उठेगी।

पायस में भी उतारने के बाद उसमें अदरक का सीरप खूब अल्प मात्रा में डाल सकते हो, लेकिन ज्यादा मत देना।

विधि/निषेध: अदरक उग्रवीर्य है अर्थात् शरीर को थोड़ा सुखाता है जिस कारण गर्भवती नारी के लिए अदरक अधिक नहीं खाना उचित है। जिनके पेट में कोई क्षत हो, आमाशय या रक्तामाशय रोग हो उन्हें उस समय अदरक न खाना ही उचित है। किसी की उम्र चाहे कुछ भी हो, जिस पुरुष के शरीर में शुक्र की

कमी हो उनके लिए भी अधिक अदरक न खाना ही उचित है। सद्यः प्रसूता नारी भी अदरक न खाए तो अच्छा है।

यूकेलिप्ट्स और पाईन :

पाईन और यूकेलिप्ट्स के पत्तों का रस कफ रोग को दूर करता है। इनके तेल से कफ जनित विभिन्न चिर रोगों (chronic disease) की अच्छी औषधि तैयार होती है। (जिन्हें बातें करते करते भी बार-बार खाँसी का वेग आता है उसको ऐसा हमेशा कफ के ही कारण होता है, ऐसी बात नहीं है, लीवर की त्रुटि के कारण भी होता है। ऐसे में एक नारंगी का रस निकालकर सम परिमाण में गर्म पानी के साथ मिलाकर रात को सोने से पहले 15 दिन तक पान करने से उपकार होता है। पाईन गाछ का गोंद और धूना औषधीय कार्य में भी व्यवहृत होते हैं। पाईन तेल का औषधिगत मूल्य तो है ही। पाईन का गोंद और तेल दोनों के लिए 'रसाञ्जन'

शब्द व्यवहृत होता है। पाईन तेल का विशेष नाम रसतेल है। यूकलिप्ट्स, तुलसी, लैवेण्डर, धूमन और अन्य अनेक गांछो के पत्रों के रस में जो उग्र गन्ध रहती है, वह रोग जीवाणुओं का भी नाश करती है। [सर्दी से नाक बन्द हो जाने पर युकेलिप्टस और पाईन गाछ का तेल व्यवहार करके 'इनव्हेलर' नाक से सूँघने के लिए तैयार करने पर उपकार प्राप्त होगा।]

लवङ्ग और आन्त्रिक क्षत :

लवङ्ग एक मध्यमाकार वृक्ष का फूल है (अंग्रेजी में clove)। लौंग विभिन्न प्रजातियों-उपजातियों के होते हुए भी मुख्यतः तीन प्रकार की हैं- (1) जंजीवार प्रजाति या अफ्रीका देशीय लौंग (2) इन्दोनेशिया मलेशिया देशीय लौंग जो साधारणतः मालय लवङ्ग के नाम से परिचित है (3) लौंग की उल्लेख योग्य प्रजाति लंका द्वीपीय लौंग है। भारतीय लौंग इसी गोष्ठी में आती है। इसमें गाछ आकार में लगभग लीची गाछ जैसा

होता है। स्मरणीय है कि लौंग एक वृक्ष है; लता नहीं। लेकिन बहुत सारे लोगों के मन में गलत धारणा है कि लौंग शायद लता है। पुराने जमाने में गलती से लड़कियों के नाम रखे जाते थे- लवंग लता। संस्कृत भाषा में लवंग का पर्यायवाचक नाम- देवकुमार, वारिसंभव इत्यादि है।

मसाला, खाद्य, औषधि के रूप में लौंग का व्यवहार भारत में बहुत प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। लौंग का तेल आन्तिरिक क्षत रोग की दवा है। (दाँत या मसूढ़े के दर्द में लौंग का तेल व्यवहार किया जाता है।)

कोषवृद्धि रोग (Sandevieria roxbughiana Schutt)

लक्षण और कारण: कोष शब्द का एक अर्थ है- मुष्क। कोषवृद्धि का अर्थ है- मुष्कवृद्धि या मुष्कस्थलीय आयतन वृद्धि, अंग्रेजी में जिसे कहते हैं हाइड्रोसिल (Hydrocela)। हाइड्रो शब्द

का अर्थ है पानी। मुष्क में जल संचित होता है, फलतः हाइड्रोसिल कहा गया है।

अत्यधिक आमिष भोजी व्यक्ति मलत्याग के समय यदि बहुत अधिक कुन्थन कूथ दे तो उसके फलस्वरूप उनके अण्डकोष की शिराएँ स्फीत होकर कोषवृद्धि या एकशिरा रोग पैदा हो जाता है। निरामिषभोजी लोगों को एकशिरा या कोषवृद्धि रोग होता हैं, यदि खड़े होकर स्नान करना उनके स्वभाव में बदल जाए।

चिकित्साः (1) बारोचक गाछ की जड़ लाल धागे से बाँधकर कमर में धारण करने पर कोषवृद्धि रोग ठीक होता है। जिस ओर कोषवृद्धि हुई हो, जड़ी को उसी ओर व्यवहार करना होगा।

(2) बारोचक गाछ के पत्रों के कुछ रेशे लेकर कमर में बाँध रखने पर भी इस रोग में अत्यल्प काल में ही अच्छा फल मिलता है।

(3) अण्डकोष में कदम का पत्रा बाँध रखने पर यह रोग प्रशमित होता है। [रोगी को खाली पेट में जब भी मौका मिले बस्तिमुद्रा, वस्तिकुम्भक करे। ठंडी गरम सेंक भी इसमें बहुत ही प्रभावशाली है।

मैंने उस समय नेतरहाट (आधुनिक झारखण्ड) के जंगलों में घूमते हुए सिंह पुच्छी या बारोचक के गाछ देखे। एक लड़के से कहा कि कुछ मूल संग्रह करके रख लो। हम लोगों के साथ थे वहाँ के नामी शिक्षक सहदेव जी, उन्होंने उससे कुछ मूल माँग लिए। सहदेव जी ने अपने घर जाकर नौकर (पारिवारिक सहायक) से कहा, "तुम इसे रख देना"। वह चीज उनके नौकर के पास रह गयी।

वह नौकर कोषवृद्धि रोग का मरीज था। जड़ी को साथ लेकर वह रात को सो गया। सुबह उठकर उसने पाया-विचित्र बात है। उसका पुराना कोषवृद्धि का रोग लगभग ठीक हो गया था। यह बात उसने सहदेव जी को बतायी। द्रव्यगुण की बात सुनकर हम लोग दंग रह गए !

गलगण्ड (Goitre) - स्लीपद (Elephantitis या गोद * ग्रंथिस्फीति):

लक्षण और कारण : गलगण्ड रोग ठंढा लगकर या चोट लगने से ग्रंथि फूली रहती है या रह सकती है। यह रोग मुख्यतः आयोडीन की कमी से आता है [अन्य कारण भी अवश्य ही हैं]। यदि कोई लम्बी अवधि तक चुआया हुआ पानी (distilled water) या वर्षा का पानी पीये तो उसे यह रोग होने की संभावना रहती है। जिस जगह स्वाभाविक रूप से आयोडिन की मात्रा कुछ

कम रहती है, वहाँ जिन्हें खाद्य नहीं मिलता उन्हें गलगण्ड या श्लीपद (गोद, बंगला में श्लीपद के लिए गोद, उर्दू में 'फीलपाँव', अंग्रेजी में (elephantitis) रोग की संभावना रहती है।

जिस जल में आयोडीन का अभाव रहता है, वहाँ अधिक दिनों तक रहने से गलगण्ड व्याधि की संभावना रहती है। हमारे आसपास के दार्जिलिंग और पुरी में इस व्याधि का प्रादुर्भाव कुछ अधिक है। दार्जिलिंग जिले का पानी बहुत कमजोर है। इसलिए वहाँ गलगण्ड और गलक्षत, टी० बी० और श्लीपद रोग भी बहुत लोगों को हुआ करते हैं। चेचक और खसरा दोनो ही व्याधियाँ उस अंचल में कभी-कभी अतीत में व्यापक रूप से पायी जाती थीं। पानी के कमजोर होने के कारण बरसात और बरसात के बाद यहाँ एक समय मलेरिया भी बहुत होता था। पुरी में समुद्र है, लेकिन पुरी के जिले में गलगण्ड रोग का प्रादुर्भाव उतना न होते हुए भी श्लीपद का प्रादुर्भाव है। पुरी का पानी कोई खास खराब नहीं है।

वहाँ के समुद्री पानी में आयोडीन भी है। इसका कारण है कि समुद्र में आयोडीन होते हुए भी या हवा में आयोडीन का प्रभाव रहते हुए भी स्थानीय गरीब लोगों को भरपेट पुष्टिकर खाद्य और हरी सब्जियाँ खाने को मिले तो लगता है यह रोग ठीक हो जाएगा। ऐसा सुना है पुरी में यह रोग कम हो गया है। किस कारण से कम हुआ है- गवेषणा की जरूरत है। [आयोडीन के अभाव के अलावा शरीर की शुक्रवाही नाड़ी के स्फीति हो जाने पर वह श्लीपद रोग का आकार धारण करता है]

रोग-प्रतिरोध-व्यवस्था: जिन अंचलो में ये दोनों रोग होते हैं उन अंचलों में पानी के व्यवहार के सम्बन्ध में सतर्क रहना होगा। समुद्र के पानी और समुद्रजात उद्भिदों (Sea-weeds) में आयोडीन पर्याप्त मात्रा में रहने के कारण उनके प्रत्यक्ष और परोक्ष व्यवहार में उन चीजों से आयोडीन निकालकर औषधि तैयार कर सकने पर उस रोग से छुटकारा मिल सकता है। संभव होने पर रोगी

यदि किसी समुद्र तीरवर्ती स्थान में वायु परिवर्तन के लिये जाये तो उससे अच्छा ही फल मिलेगा। दूध, फल इत्यादि आयोडीनयुक्त खाद्य इस रोग में (विशेषकर गलगण्ड रोग में) प्रचुर मात्रा में ग्रहण करना आवश्यक है। [श्लीपद रोग में विशेषकर खट्टे फल सुपथ्य हैं ओर उपवास-विधि मानकर चलना कर्त्तव्य है। ग्रंथिस्फीति में रोगी पक्षबद्ध प्राणायाम, आतपस्नान, जलपान विधि, उपवास विधि मानकर चलेगा। श्लीपद रोग में भी रोगी आतप स्नान करेगा।]

कंठ-झिल्ली की व्याधि :

लक्षण और कारण : ऐसे कुछ रोग हैं जो गंधतन्मात्र के द्वारा वाहित होते हैं,

उनकी संख्या बिल्कुल नगण्य है ऐसी बात नहीं। गंधयुक्त अधिकतर चर्मरोग और क्षतरोग गंधवाहित हैं। कंठझिल्ली की व्याधि भी (जिसमें स्वरभंग हो जाता है - गले के क्षत में दुर्गंध होती

है) गंध तन्मात्र के द्वारा वाहित होती है। जो अधिक गाना गाते हैं या भाषण देते हैं, उन्हें इस **गंधवाहित नेगेटिव माइक्रोवाइटम के द्वारा** व्याधि से आक्रान्त होने की संभावना रहती है।

गाना गाने के समय स्वर को एक स्तर पर रखकर गाना लगभग असंभव है और गाने पर भी वह श्रुतमधुर नहीं होता। चढ़ाई-उतराई रहेगी। और गाने में यदि अधिक समय तक चढ़ाई हो, उतराई कम हो, तो वैसा गाना अधिक दिन तक गाने से और रोज अधिक समय तक गाने से कोष्ठकाठिन्य के साथ कुष्ठरोग व्याधि हो सकती है।

चिकित्सा : नियमित सर्वांगासन, मत्स्यमुद्रा, अनुलोम-प्रतिलोम करने पर (एक बार सर्वांगासन, उसके बाद ही मत्स्यमुद्रा, फिर सर्वांगासन-इसी प्रकार) और उसके बाद लौंग और देशी पान एक साथ पानी में खौलाकर, उसके बाद वही पानी छानकर जब

वह गुनगुना रहता है, उसे नाक से खींचकर हाथ की मध्यमांगुलि के द्वारा अलिजिह्वा को हिलाकर उस पानी को मुँह से निकाल देने पर इस रोग के आक्रमण को रोका जा सकता है।

अधिक समय तक गाना गाने के बाद यदि गाये गाना में चढ़ाई का भाग अधिक हो, तब गायक-गायिकाओं को एक छोटे पात्र में गोलमिर्च बुकनी के साथ हल्का गर्म घी मिलाकर पान कर लेना उचित है।

गंधतन्मात्रवाहित रोगः

गंध तन्मात्र (जो रोगी के शरीर की गंध से पैदा होता है) द्वारा रोग से संक्रमित होने पर गुनगुना जल नाक से ग्रहण करके, गले में अंगुलि डालकर उस जल को बाहर निकाल देने से, बिना

तेल लगाये ही गुनगुने पानी से स्नान करने पर बिना तेल के शरीर पोंछकर सुखा लेने पर, निगेटिव माइक्रोवाइटम संजात प्रभाव कुछ हद तक रोका जा सकता है।

जिन्हें डॉक्टरखाने में, अस्पताल में, नर्सिंग होम में दिन भर में कई घंटे रोगों की जाँच करती पड़ती है-विशेषकर नर्स या स्वास्थ्य सेविका अथवा सेवक-उन्हें रोज घर लौटकर यह प्रक्रिया करनी चाहिए।

अर्क (अकवन - Calotopis gigentea Linn) - कर्णशूल: अकवन का अच्छा नाम है अर्क। अकवन का आदिवास श्यामदेश (थाइलैंड) है। अकवन दो प्रकार के होते हैं - सफेद और बैगनी। इसमें मिट्टी का विचार नहीं है। वर्षा का भी विचार नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है [अर्थात् पथरीली जमीन या कम वर्षा के इलाके में भी अकवन आसानी से होता है।]

अकवन के पत्तों और मूल से विभिन्न प्रकार की कान की औषधियाँ और चर्मरोग की औषधियाँ तैयार होती हैं। इस प्रकार के औषधीय गुण सभी प्रकार के अकवन में होते हुए भी विशेषकर श्वेत अकवन में कुछ अधिक है।

सफेद अकवन (Calotropis Procera R.Bc.) के पके पत्ते (सूखा पत्ता नहीं) को गाय के घी में भूनकर, उसका गरम-गरम रस [पत्ते से निचोड़कर] कान में डालने से कर्णशूल में उत्तम फल मिलता है। कर्णमूल स्फीति या कान में पीव जमने के फलस्वरूप यदि वधिरता पैदा हो तो उसमें भी यह औषधि प्रभावकारी होगी।

अन्य रोगों में अकवन: रविवार को श्वेत अकवन का मूल काली गाय के कच्चे दूध के साथ पीसकर चार आना मात्रा में पीने से (ऋतुकाल में रोज) अच्छा फल प्राप्त होता है (स्त्री रोग)। (2) "अम्लरोग में मिट्टी के बन्द पात्र में समपान वजन का श्वेत अकवन

का पत्ता और सैन्धव लवण एक साथ भस्म बनाकर एक आना की मात्रा में खाना"।

दीर्घमियादी बुखार : कैथा कदवेल**(Feronium Elephantum)**

किसी-किसी के मत से कैथा की आदि वासभूमि दक्षिण-पूर्व एशिया है। किसी-किसी के मत से दक्षिण मायाद्वीप या दक्षिण अमेरिका है। उनका अभिमत आंशिक रूप से सही हो भी सकता है; नहीं भी हो सकता। क्योंकि इस देश में प्राचीनकाल से ही कैथा था। कैथा का संस्कृत नाम 'कपित्थ' या 'कपित्थफलम्' है। (कपित्थ/कईत्थ/कईथो करत् कएथ) उत्तर भारत में कैथा' शब्द प्रचलित है। पृथ्वी के आकार-वर्णन में भास्कराचार्य ने कहा है - "कपित्थफलवत् विश्वं दक्षिणोत्तरयोः समं" संस्कृत भाषा की प्रसिद्ध उक्ति "गजमुक्तः कपित्थक" अनेक लोग जानते हैं। कैथा देखने में कुछ बेल जैसा होने पर भी (यद्यपि आकार में छोटा)

असल में कैथा बेल वर्गीय फल नहीं है। गाछ भी बेल वर्गीय नहीं हैं। कैथा के पत्तों और बेल के पत्तों के बीच कोई सामंजस्य नहीं है।

कैथा में खाद्य और औषधिगत गुण भी थोड़े हैं। केवल चटनी के रूप में खाद्य के साथ व्यवहार करने पर इसके कुछ गुण प्राप्त होते हैं। अर्थात् चटनी या अचार के रूप में कैथा मुँह में लार (Saliva) पैदा करके खाद्य के प्रति रुचि पैदा करने में और पाचन के काम में कुछ सहायता प्रदान करता है।

[किन्तु कैथा के पत्तों में औषधीय गुण हैं]' बासी आमपत्ता, जामुन पत्ता, बेलपत्ता और कैथा का पत्ता [बासी का अर्थ है पहले दिनशाम को या संध्या समय तोड़कर रखे हुए] का रस समान मात्रा में मिलाकर उसमें लोहा गर्म करके [लौह शलाका जैसी चीज आग में गर्म करके लाल होने पर गर्म अवस्था में डुबो देने पर जब छं की आवाज होती है तब लोहे को हटाकर वह

ऑक्सीडाइज्ड रस पिलाने से दीर्घकालीन सतत् ज्वर (पारीज्वर के रोगी) अच्छा हो जाता है। लेखक द्वारा निर्दिष्ट औषधि कितनी फलप्रद है। इसके अनेक उदाहरण हैं। एक-दो चम्मच दिनभर में 3/4 बार पिलाना चाहिए। - सं०

सर्दी-गर्मी

चूना-निबू और झुलसे आमका शर्बत:

सर्दीगर्मी की औषधि है चूना-नीबू। पहले कहा गया है कि किसी पात्र में थोड़ा चूना उसके दो गुने पानी में अच्छी तरह घोल देना चाहिए। उसके बाद उसे निथरने देना चाहिए अर्थात् उसे स्थिर अवस्था में थोड़ी देर रहने देना चाहिए। चूने का पानी निथर जाने पर चम्मच से ऊपर का चूना रहित पानी धीरे-धीरे उठाकर एक पात्र

में डाल लेना चाहिए। इस चूने के पानी में पाती नीबू का रस मिलाकर बहुत थोड़ी मिश्री (नाम मात्र की) के चूर्ण के साथ खाने पर सर्दी-गर्मी (गर्मी के दिनों में आकर शरीर की तापमात्रा अचानक चरम सीमापर पहुँचकर जाने पर) लू लगने या अचानक ही सर्दी-गर्मी से बुखार प्रशमित होती है। इसके अलावा कच्चे बेल का शर्बत, झुलसे आम का शर्बत सर्दी-गर्मी में जल्द ही अच्छा फल देता है। कच्चे आम का झोल शरीर के लिए स्निग्धकारक है। लेकिन वह झोल पतला होना चाहिए। दग्ध गांगेष्ठी अर्थात् कच्चा आम झुलसकर उसका शर्बत सदी-गर्मी की महौषधि है। इसके अलावा घर से निकलने के समय काँजी पीकर निकलना चाहिए। और सर्दी-गर्मी होने पर काँजी पीने से जल्दी फल मिलता है। सर्दी-गर्मी में बर्फ-प्रयोग करके लाभ नहीं होता बल्कि अवस्था बिगड़ सकती है।

कृमि रोग :

'कृमि' शब्द का अर्थ है-जो कीड़े जीवों के उदर में या अन्यत्र प्रवेश करके व्याधि का संचार करते हैं जैसे hook-worm, green-worm इत्यादि। कृमि रोगी के उदर में जो छोटी कृमि, फीता कृमि, नाटी कृमि, सूत कृमि, लम्बी कृमि, केंचुआ कृमि इत्यादि विभिन्न प्रकार के रोग-संचारी कीट पाये जाते हैं, उन सभी को साधारण भाषा में कृमि कहा जाता है। इस कृमि रोग के अनेक लक्षणों में से एक लक्षण है कि रोगी निद्रितावस्था में दाँत पीसता है अर्थात् दाँत से दाँत रगड़ता है, मुँह से लार झड़ती है, पुष्टिकर भोजन करने के बावजूद अंग नहीं लगता।

कृमि के लिए अच्छी औषधियाँ आयुर्वेदिक, होमियोपैथिक और एलोपैथिक हैं। प्राचीन बंगला में मुष्टियोग में भी है :-

" चाँपा कि आनारसेर पाता

छेंचे तार रस एक कॉच्चा

चूनेर संगे मिसिए खेले

मरे कृमिर डागर बाच्चा।"

[आज भी बहुत लोग इस औषधि का व्यवहार करके उपकृत हो रहे हैं] अधिकतर कृमियों का जन्म पानी में होता है। रोगबीजाणु भी अधिकतर जलसृष्ट हैं या जलवाहित हैं। पेट की कृमि, रक्त की कृमि (hook-worm) गिनी वर्म-सभी (जल द्वारा वाहित हैं) देहस्थित कृमि। इसी कारण स्वाभाविक अवस्था में लोगों को उचित जल, हवा और मिट्टी की शुद्धता की ओर ध्यान देना चाहिए। कृमि निषेधक या कृमिघ्न का व्यवहार चाहे जितना बढ़ जाए, मूल में गलती रहने पर अर्थात् दूषित जल, वायु और

मृत्तिका लोगों की सामूहिक मृत्यु का कारण बन सकते हैं। [पेट की कृमि और किसी-किसी मामले में रक्त कृमि शिशुओं-किशोरों के लिए अधिक असुविधाएँ पैदा करती हैं। इसी कारण अनेक लोग छोटी अवस्था से ही कृशता या स्वास्थ्यहीनता का शिकार हुआ करते हैं। विशुद्ध जल, कृमि की दवा का व्यवहार के अतिरिक्त इसीलिए शिशुओं को किशोरों को बीच-बीच में तीता स्वाद की चीजें, जैसे नीम, करेली इत्यादि खिलाना उचित है। शिशु को इसीलिए बीच-बीच में चूने का पानी पिलाने की जरूरत है।]

दाँत के एनामेल का क्षय होना (कीड़े लगना):

ध्यान देकर देखोगे कि शिशुमन जब बौद्धिकता में आगे बढ़ा हुआ नहीं होता है तब लगभग उन सभी के लिए मीठा प्रिय होता है। अधिक मीठा खाने से दाँतों की कलई (एनामेल) नष्ट होने के कारण दर्द से बच्चा रोता हो ऐसी घटनाएँ बहुत देखोगे। ऐसे मामलों को 'दाँत में कीड़े लगना' कहते हैं। असल में दाँत में कीड़े

नहीं लगते। दूध के दाँतों के एनामेल आसानी से छूट जाते हैं। बाद में जब उनमें ठंडा पानी पड़ता है तो दाँतों में यंत्रणा शुरु होती है। हम लोग समझते है कि दाँत में कीड़े लगे हैं।

मीठा के साथ-साथ अविकशित मन अर्थात् शिशुओं को प्रिय लगता है पंचम खाद्य रस अर्थात् अम्ल रस। कच्ची इमली, कच्चा आमड़ा, कच्चा आम (इन्हें) चबाना है - यह सोचते ही हम लोगों का मन सिहर उठता है, बच्चे उसे हँसते-खेलते थोड़ा नमक मिलाकर खा लेते हैं। अम्लरस से भी उनके दाँतों का एनामेल छूट जाता है और दाँतों में तथाकथित कीड़े लग जाते है। तुम लोगों ने ध्यान दिया होगा न कि जो लोग वयस्क हैं उनके दाँतों में कीड़े कोई खास नहीं लगते।

अर्जुन की छाल दाँतों और मसूढ़ों के विभिन्न प्रकार के रोगों की महौषधि है।

[बचपन से ही दाँत कमजोर रहने पर, और किशोर-युवा उम्र में दाँतों की हिफाजत न करने पर दाँतों के एनामेल और दाँतों का भीतरी भाग क्षयित होकर बाद में गड्ढे (Cavity) बन जाते हैं। वहाँ अन्न के कण घुस जाने से रोग बीजाणुओं का जन्म होता है और तेज प्रदाह-यंत्रणा पैदा करते हैं। वयस्कों के मामले में तब दाँत के डॉक्टर के यहाँ दौड़ने के अलावा और कोई उपाय नहीं रहता। टूथब्रश का व्यवहार ठीक से न जानने के कारण अर्थात् जोर-जोर से ब्रश करने पर दाँतों के एनामेल जल्दी हटने को बाध्य हैं। किसी बहुविज्ञापित टूथब्रश का व्यवहार भी उसे रोक नहीं सकता। अमरूद के पत्तों का घना क्वाथ तैयार करके उससे नियमित रूप से मुँह धोने पर या दाँत पर रगड़ने पर दाँतों के रोग में अच्छा फल मिलता, है। इससे दाँतों के पायरिया रोग में भी अच्छा फल प्राप्त होता है।]

कृमि + दन्त+कन् = कृमिदन्तक। भावारूढ़ार्थ में जिस दाँत में कीड़े लगे हों योगारूढ़ार्थ में दन्तशूल या दाँत दर्द या दाँत में

कीड़े। 'स्मरणीय है कि अधिक अम्ल वस्तु के (इस 'अम्ल' से ही आम्ल, आम्र, आमला शब्द आए हैं। अधिक खट्टा खाने से ही दाँत में कैसा कैसा लगता है, उसे कथ्य बंगला में कहते हैं 'दाँत आमले गेछे') सम्पर्क में आने से अथवा अन्य किसी कारण से दाँत की कलई (enamel) क्षयित हो जाने पर वहाँ पानी लगते ही दाँत में असहनीय दर्द होता है। प्राचीनकाल में लोग सोचते थे कि 'अभी भी कुछ लोग सोचते हैं' दाँत में कीड़े काट रहे हैं इसलिए दर्द हो रहा है। लेकिन असली बात वह नहीं है। छोटे बच्चों के दूध के दाँत सहज ही क्षयप्राप्त हो जाते हैं। इसीलिए यह तथाकथित दाँत में कीड़े लगना छोटे बच्चों को ही ज्यादा होता है। बचपन में देखा करता था कि तथाकथित दाँत में कीड़े लगना पर आधारित एक श्रेणी के कंजड़ा (gypsy) जाति के लोग दो पैसे कमा लेते थे। उत्तर कोलकाता में उन दिनों एक घटकी थी (विवाह का रिश्ता जो लोग तय कर देते, उन्हें कहा जाता था 'घटक' स्त्रीलिंग में 'घटिका' किन्तु कोलकाता की कथ्य भाषा में हम लोग कहते 'घटकी' उच्चारण 'घोट्की'। वैयाकरणिक विचार से यह शब्द शुद्ध नहीं है।

मेरे एक मौसेरे भाई की उम्र उस समय 7/8 वर्ष थी। उसके दाँतो में कीड़े लगे थे। जीवन दूभर हो गया था। कच्चा आम, कच्चा आमड़ा, कच्ची इमली, कच्चे बेर तो छोड़ो, दाँत में पानी छूते ही वह चिल्लाकर रोने लगता था। मौसी ऐसे घटकी के शरणापन्न हुई। घटकी ने कहा- "यह कौन सी बड़ी बात है माँ। मैं अच्छा कर दूँगी। तुम्हारा धन बड़ा है कि दुलारा बच्चा बड़ा है। मुझे सौ रुपये दे देना। मैं जड़ से ठीक कर दूँगी"।

घटकी आयी, उसकी झोली में विभिन्न प्रकार के पौधे, जड़ीबूटियाँ थीं। घटकी ने थोड़ी रूई मेरे मौसेरे भाई के मुँह के अन्दर दाँत की जड़ में लगाकर बाहर से एक लम्बी जड़ी के द्वारा धीरे-धीरे ठोंकने लगी और कहने लगी।

"भाँसुर भातारेर मंतर
मामाश्वसुरेर मंतर

सूचीपत्र

कालीघाटेर	मंतर
वैद्यनाथेर	मंतर
तारकनाथेर	मंतर
विश्वनाथेर	मंतर
पोका लागार	मंतर
पोका सारार	मंतर" ।

थोड़ी देर बाद रुई को उसके मुँह से बाहर निकाल कर दिखा दी कि रुई कीड़ों से बिलबिला रही है। दूसरी बार और कुछ रूई उसके गाल के अंदर डालकर पूर्ववत् मंत्र-पाठ करने लगी। अब देखा गया कि कीड़े कुछ कम हो गए थे। तीसरी बार और थोड़ी रूई डालकर वही मंत्र पाठ करने लगी। अब पाया गया कि रूई में कीड़े थे ही नहीं। उसे दिखाकर घटकी ने कहा, "माँ तुम्हारे

बच्चे के कीड़े ठीक हो गए"। मेरी मौसी ने घठकी को मोटी दक्षिणा तो दी ही, साथ ही एक साड़ी भी दी।

असल में घटकी ने पहली बार की रुई में अधिक कीड़े डाल दिए थे। दूसरी बार की रूई में कुछ कम। और तीसरी बार की रूई में कीड़े डाले ही नहीं गये थे। यह देखकर कि कीड़े क्रमशः बिल्कुल नहीं हैं तब उसका मनोबल और बढ़ गया। उसने घटकी की बात की सहमति देते हुए कहा- नहीं, अब दर्द नहीं हो रहा है।

घटकी के चले जाने के थोड़ी देर बाद दाँत में पानी पड़ते ही फिर वही दर्द। घटकी का मंत्र असल में एक छलावा था।

अध्याय-8

स्त्री रोग, प्रसूति और शिशु परिचर्या

सूचीपत्र

गर्भधारिणी प्रसूति की परिचर्या :

गर्भस्थ भ्रूण जब कुछ आकार में बड़ा होता है तो उसके मस्तक पर केशोद्गम होता रहता है। उस समय गर्भधारिणी को प्रायः ही वमनेच्छा होती है। किसी-किसी भोज्य और अभोज्य वस्तुओं के प्रति विचित्र प्रकार की रुचि और किसी-किसी अभोज्य वस्तुओं के प्रति विचित्र प्रकार की अरुचि होती रहती है। उस समय गर्भधारिणी के लिए उसकी रुचि के अनुसार खाद्य वस्तुओं के ग्रहण का सुयोग प्रदान करने के लिए प्राचीन बंगाल में गर्भवती महिलाओं के लिए एक साथ भक्षण की प्रथा प्रचलित थी। वैसी अवस्था में गर्भवती नारी को लोग काम करने ही नहीं देते। नहीं, यह गलत है उस अवस्था में नारी को कुछ काम अवश्य ही करने देना चाहिए। अन्यथा प्रसवकाल में विपत्ति का खतरा रहता है। स्वाभाविक अवस्था में वह नारी जितना परिश्रम करती है, इस अवस्था में उसका आधा परिश्रम करना पर्याप्त माना जाएगा। इस

अवस्था में गर्भधारिणी को यदि अधिक परिश्रम करने दिया जाए तो वैसी स्थिति में अकाल प्रसव हो सकता है या गर्भस्थ भ्रूण की मृत्यु हो सकती है।

जो खाद्य वस्तुएँ अत्यधिक पाचक हैं (जैसे जारक नीबू, अधिक पका हुआ अनारस, अधिक पका जामुन, कपास बीज का सत्तू और अचार) उन्हें न खाना ही अच्छा है।

सामने झुककर कोई भारी चीज उठाना इस अवस्था में एकदम मना है। जो नारियाँ गट्ठर ढोने का काम करती हैं वे यदि इस अवस्था में गट्ठर ढोने का काम करे तो उसमें आपत्ति कुछ भी नहीं है। लेकिन स्वयं झुककर गट्ठर को माथे पर नहीं उठायेंगी, कोई अन्य व्यक्ति वह गट्ठर उसके माथे पर उठा दे।

इस अवस्था में रोज स्नान अवश्य करना चाहिए लेकिन सूर्यास्त के बाद स्नान करना एकदम निषिद्ध है। शयन कड़े बिछावन पर ही होना अच्छा है। मकान का जो सर्वश्रेष्ठ कमरा है, उसे प्रसूति गृह के रूप में व्यवहार करना वांछनीय है। कुसंरस्कारवश ग्रामीण बंगाल में कहीं-कहीं घर के निकृष्ट कमरे को या गोशाले को प्रसूति गृह के रूप में व्यवहार किया जाता है। ऐसा काम करना अन्याय तो है ही, एक सामाजिक पाप भी है। बहुत से लोग ढोंग रचते हैं, दिखावा करते हैं, महिलाओं को सम्मान जताकर 'मातृजाति' कहकर मीन-मेष करते हैं लेकिन व्यवहारतः उन्हें पददलित अवदमित करके रखते हैं। सुख-स्वाच्छन्द्रद्य से वंचित करके उन्हें अकालमृत्यु के मुँह में ढकेल देते हैं। विचारशील मनुष्य के लिए उचित है कि उस नीच मानसिकता के विरुद्ध मुखर होकर नारी को सही रूप से मातृरूप में सम्मान दिलावें और उनके जीवित रहने के पथ को दीर्घायत करे।

भूमिष्ट होने के बाद जब तक शिशु के आँख, नाक, कान, जिह्वा, त्वक, वाक्-पाणि-पाद-पायु और उपस्थ ये दस इन्द्रियाँ सही ढंग से काम करने में सक्षम नहीं होती, तब तक भी वह गर्भ / गर्थ्य नामधेय है। मानव शिशु को धात्री सहायता पहुँचाती है और इन्द्रियद्वारों को खोल देती है। मुँह के भीतर कुछ प्रवेश कराकर मुँह में संचित लार को निकाल देती है। छुटकारा मिलते ही शिशु तुरन्त रो उठता है। शिशु के न रोने पर समझना होगा कि शिशु के बचने की आशा कम है। मनुष्य या जीव की प्रथम ध्वनि है एक हल्की क्रन्दन-ध्वनि, जो जीवन की प्रतिश्रू है धात्री जब शिशु के मुँह से लार को निकाल देती है, ग्रामीण बंगाल में उसे 'आड़-भांगा' कहते हैं।

प्रसव के बाद चौबीस घंटों तक प्रसूति को पैरों से चलकर शौचालय या स्नानागार में जाने नहीं देना चाहिए। प्रसूति गृह में ही स्नान और उच्चार पात्र (कमोड) की व्यवस्था होनी चाहिए। कन्या

सन्तान पैदा होने पर घर का कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रसूति को ताने देकर बातें न कहें। उससे प्रसूति के हृदय में दबाब पड़ सकता है। मेरी जान-पहचान की एक प्रसूति ने सप्तम कन्या के जन्म के समय, घर के लोगों के अत्यधिक तानों को बर्दाश्त न कर पाने के कारण मुँह से तीन बार कहा फिर बेटी! फिर बेटी! फिर बेटी! उसके बाद ही अन्तिम निः श्वास का त्याग किया।

गर्भिणी को अवश्य ही सहजपाच्य पुष्टिकर खाद्य दिया जाना चाहिए। कोष्ठ काठिन्य हो सकता है, वैसा खाद्य गलती से भी न दिया जाए। मटर साग, अभाव में पालक साग, अभाव में गंधारी साग, अभाव में कद्दू की कलगी-थोड़ी मात्रा में रोज खाना, प्रसूति के लिए अच्छा है। पोई साग बिलकुल नहीं दिया जाना चाहिए।

ऊपर जितनी बातें बताई गईं किसी भी नारी के प्रसव के मामले में वह समान रूप से प्रयोज्य है। प्रथम प्रसव के समय महीने

के अंत में चिकित्सक अथवा जानकार दाई का परामर्श लेना और भी अच्छा है। जो बातें कही गर्मी, उन्हें मानकर चलने से प्रसव कालीन मृत्यु नहीं होगी।

अनेक लोग गाय बैलों से जमीन जुतवाते हैं, अनेक लोग बैलगाड़ी भी खिंचवाते हैं। बाकी समय वे क्या करते हैं या नहीं करते हैं, उस पर माथापच्ची किए बिना इतना ही कहूँगा कि गर्भिणी (गाभिन) गाय के द्वारा जमीन जुतवाना, गाड़ी खिंचवाना, घानी चलवाना न किया जाए। यह चीज मानवता विरोधी तो है ही, नव्यमानवतावाद के भी प्रतिकूल है।

पूर्णगर्भा गाय के लिए हरी घास आवश्यक है। उस अवस्था में गाय यदि स्वयं चरकर तृण भक्षण में असमर्था हो तो जो उस गाय की सेवा करते हैं उनके लिए उचित है कि घास-काट लाकर गाय के पास रखें। इससे सेवा करनेवाले को स्वर्ग की प्राप्ति

भले न हो, एक बड़े दायित्व का पालन होगा, नव्यमानवतावाद की प्रतिष्ठा होगी।

अशोक (Saraca Indica linn) :

अशोक एक भारतीय प्रजाति का गाछ है। अत्युष्ण या अति शीतल अंचल को छोड़कर भारत में सर्वत्र ही अशोक के गाछ उगते हैं। कोई-कोई देवदारु (घुँघराले पत्ते) गाछ को गलती से अशोक कहा करते हैं। नहीं! देवदारु और अशोक एक गाछ नहीं है। देवदारु पाईन वर्गीय गाछ है, अशोक वह नहीं हैं। अधिकांशतः अशोक के फूल लाली-युक्त रोग के होते हैं। अशोक के फूल, छाल और मूल विभिन्न प्रकार की औषधि प्रस्तुत करने के काम आते हैं। विशेषकर विभिन्न स्त्री व्याधियों में अशोक के औषधीय गुण सर्वजन स्वीकृत हैं। अशोकात्सव, अशोकारिष्ट, अशोक क्षीर प्रभृति औषधियाँ इस अशोक से ही प्रस्तुत की जाती है।

सूतिका रोग में अशोकात्सव: गर्भवती नारी एक उफान (एक बार खौलाया हुआ) गोदुग्ध के साथ अशोकात्सव का व्यवहार करने पर प्रसवकालीन संकट की संभावना कम हो जाती है।

सूतिका रोग में द्राक्षासव: महिलाओं के सूतिका रोग में एक उफान के बकरी के दूध के साथ दस बूँद द्राक्षासव का व्यवहार करने पर उनकी शक्ति थोड़े समय में ही वापस आ जाएगी।

प्रसूति की मृत्युकालीन अवस्था में द्राक्षारिष्ट: प्रसूति को मृत्यु कालीनस्थिति आने पर द्राक्षारिष्ट के साथ गुरुचि की चीनी (सल) देने से मृत्यु की संभावना टल भी सकती है। द्राक्षारिष्ट उपलब्ध न होने पर मृतसंजीवनी सुरा से भी कुछ काम निकलता है।

बाधक रोग में अशोक क्षीर : 10/12 घुंडी तोड़े हुए अशोक के फूल आधा सेर दूध और चार सेर पानी के साथ उबालकर डेढ़ पाव रहते उतार कर तीन दिन सेवनीय है। इसी का नाम अशोक क्षीर है।

ऋतु रोग में अशोक का क्षीर: अशोक क्षीर सभी ऋतुरोगों में अच्छा फल प्रदान करता है।

नारियों के अशोक षष्ठी और अशोकाष्टमी कृत्य : अशोकषष्ठी में ऋतुप्राप्ता प्रत्येक नारी एक पके केले के बीच अथवा जल या दूध के साथ, छः मूँग या उड़द और छः अशोक फूल या स्फुटनोन्मुख कोंढ़ी सब एक ग्रास में निगल लेंगी। उसी प्रकार अशोकाष्टमी तिथि को भी आठ मूँग या उड़द और आठ अशोक फूल या कोंढ़ी व्यवहार करोगी।

सूचीपत्र

सधवा और विधवा नारियाँ भी अशोक षष्ठी और अशोकाष्टमी का पालन करोगी। अन्य षष्ठी तिथियों में भी भात रोटी के बदले दिन के समय फल मूल खाकर रहेंगी और रात को भात जातीय चीजें नहीं खाएगी।

आमानी (काँजी) : रात को भात पकाकर उसे मिट्टी की हाँड़ी में डालकर उसके साथ यदि थोड़ा पानी, इमली का रस, जरूरत हो तो थोड़ा नमक डाल दिया जाए तो वह दूसरे दिन सुबह किण्वित (fermented) होकर जिस वस्तु में रूपान्तरित होता है, उसे यदि अच्छी तरह मसलकर कपड़े से छान लिया जाए तो वह तरल वस्तु आमानी (काँजी) के नाम से जानी जाती है। यह आमानी एक तरह की किण्वित सुरा है। इससे हल्का नशा होता है। लेकिन इसमें नशे के साथ-साथ औषधीय गुण भी है। यह नींद लाती है। अपच होने पर पचने में भी सहायता करती हैं (गर्मी के

दिनों में) घर से निकलने के समय आमानी पीकर निकलना चाहिए और सर्दी गर्मी होने पर आमानी (काँजी) पीने से जल्दी फल प्रदान करती है।

कुछेक विशेष खाद्य ग्रहण करने के फलस्वरूप उदरामय या अतिसार हो जाने पर आमानी उसमें भी औषधि के रूप में व्यवहृत होती है। इस आमानी का अच्छा नाम कुल्माष है।

स्त्रीरोगों में आमानी : गर्भवती नारियों के अति दौर्बल्य में भी आमानी कुछ काम करती है।

आमानी के साथ लाल जवा (अड़हुल) (चार फूल) पीस कर आधा तोला परिमाण में ऋतुकाल में रोज पान करने पर समस्त ऋतुरोगों में अच्छा फल प्राप्त होता है।

अनार का फूल आमानी के साथ पीसकर खाने से स्त्रीरोग में औषधि का काम करता है।

डालिम (Pomegranate, Punica granatum Linn)

बेदाना :

संस्कृत में 'दाड़िम्ब' से मैथिली में 'दाड़िम' बंगला में 'डालिम' शब्द आया है। इस दाड़िम्ब या डालिम का वैज्ञानिक संवर्धन करके प्राचीनकाल में बेदाना का उद्भव हुआ था। अंग्रेजी में इन दोनों को pomegranate कहा जाता है। वेदाना का अच्छा नाम 'दाड़िम्बी' है। आकार में डालिम बड़ा, मझोला और छोटा विभिन्न प्रकार का होता है। बेदाना मझोले आकार का होता है। डालिम के आवरण का रंग कुछ लाली युक्त, बेदाना के आवरण का रंग कत्था या मटमैला होता है। डालिम के दाने लाल, बेदाना के दाने हल्के गुलाबी अथवा बैगनी मिश्रित गुलाबी होता है। स्वाद

में डालिम खट्टा अथवा खट्-मीठा होता है। बेदाना साधारणतः मीठा होता है। खाद्यगुण, डालिम और बेदाना में रहने पर भी बेदाना में अधिक है। रोगियों के पथ्य के रूप में बेदाना ही व्यवहार्य है। डालिम एक रक्तवर्द्धक फल है।

स्त्री व्याधि में डालिम: डालिम का गाछ, फूल और छाल स्त्री व्याधि की महौषधि है। चीन देश के आयुर्वेद में स्त्री व्याधि में अड़हुल फूल और डालिम फूल का व्यवहार व्यापक रूप से है। 3/4 डालिम के फूल कच्चे दूध में पीसकर ऋतुकाल में नारियों को रोज दिन में दो बार सेव्य है। अत्यधिक रक्तपात के फलस्वरूप रोगिनी के दुर्बल हो जाने पर दो तोला कुकसीमा का रस या दूब का रस थोड़े मधु के साथ ऋतुकाल में रोज एक बार सेवनीय है।

अपामार्ग (Achyranthes aspera Linn)

सूचीपत्र

अपराजिता (Clitoria Ternatea Linn) :

अपामार्ग के पर्यायवाची शब्द 'कोषातकी' और 'खरमंजरी' है। भारतीय अपामार्ग मुख्यतः दो प्रजातियों के हैं श्वेत अपामार्ग और रक्त अपामार्ग। कोलकाता अंचल में हमलोग अपामार्ग को कथ्य भाषा में अंपाग या आंपाग कहा करते हैं। राढ़ में कहते हैं चिड़चिड़ा (लटजीरा) अंगिका भाषा में चिड़चिड़ा कहते है। अपामार्ग का अग्र भाग किसी के शरीर में फेंक देने पर उसके कपड़ों में लटक जाते हैं।

अपराजिता (कौवा-ठोंठी) एक फूल का नाम है। इसका आदिवास मालय (मूल नाम है भेलांग) है। सफेद, नीला या रक्ताभ भेद से अपराजिता तीन प्रकार का हुआ करती है। हर प्रजाति एक पाँति या दो गुच्छोंवाली दो प्रकार की हुआ करती है। अपराजिता एक निर्दोष भेषज है। इसके नीले रंग को इसीलिए दक्षिण पूर्व

एशिया के अनेक देशों में खाद्य वस्तुओं को नीले रंग में रंगने के काम में व्यवहार किया जाता है। धातुघटित रंग की अपेक्षा यह रंग बहुत अधिक निर्दोष है।

स्त्री व्याधि में अपामार्ग और अपराजिता :

(1) गर्भवती के कटिदेश में श्वेत अपामार्ग का मूल (सम्पूर्ण मूल को) धारण करने पर अथवा श्वेत अपराजिता का मूल धारण करने पर गर्भपात दूर हो जाता है।

(2) मृतवत्सा नारी के प्रसवकाल में श्वेत अपराजिता का मूल छितराए बालों में बाँध रखने पर सुसन्तान प्रसूत होती है।

(3) अपामार्ग का मूल, और भी विशेषकर श्वेत अपामार्ग का मूल मृतवत्सा रोग की भी अन्यतम औषधि के रूप में जाना जाता हैं।

(4) कृष्णपक्ष में अपामार्ग के औषधीय गुण बढ़ जाते हैं। बंध्या (बाँझ) नारी की रोग निवृत्ति की औषधि रक्त अपामार्ग से तैयार होती है और बंध्या पुरुष या अपुत्रक पुरुष के लिए भी कई औषधियाँ श्वेत अपामार्ग से तैयार हुआ करती हैं।

(5) जो नारियाँ मृतवत्सा रोग से ग्रस्त रहती हैं, कुकसीमा उनके उपकार के काम आएगी।

(6) एक आना परिमित अपामार्ग की जंड़ कच्चे पपीते के बीच भरकर सिझाकर खाने से पारा और उपदंश के बीज दोनों ही नष्ट होते हैं।

(7) प्रमेह और गोनोरिया रोग में अंधेपन की नौबत आ जाने पर अपामार्ग का काजल व्यवहार करना चाहिए।

कुर्ची फूल (Holarrhena Antidysenterica) – मृतवत्सा रोग : 'गिरिमल्लिका' का अर्थ कुटज पुष्पम् या कुर्ची फूल है। आयुर्वेद में कुर्ची के अजान् गुणों का वर्णन किया गया है। कुर्ची फूल-फूल और मूल से औषधियाँ बनती हैं। किंवदन्ती यह है कि छः कन्याओं की मृत्यु के बाद शचीदेवी (श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव की माता देवी) कुर्ची फल जात औषधि का सेवन करके पुत्र सन्तान की जननी बनी थी।

सद्यः जात शिशुओं की देखभालः

साधारणतः मातृगर्भ में आठ महीने से कम रहने के बाद शिशु के जन्म ग्रहण करने पर वह मृत अवस्था में ही जन्मग्रहण करता हैं अथवा पैदा होने के साथ ही मर जाता है। मृतवत्सा नारियाँ इसीलिए सात महीने में या उससे कम उम्र में शिशुओं को जन्म दिया करती हैं। आठ महीने में पैदा होने पर अधिकतर शिशु जीवित रह जाते हैं, लेकिन आठ महीने में बहुत कम शिशु पैदा होते हैं। उसकी अपेक्षा बल्कि नौ महीने में अधिक शिशु पैदा होते हैं। अधिकांश मामलों में 85 प्रतिशत पैदा होते हैं दस महीने में, कभी कभार एक-दो शिशु एकादश महीने की शुरुआत में पैदा होते हैं। प्रथम सन्तानें कभी-कभी नौ महीने के अन्तिम दिनों मे पैदा होती हैं। नौवें महीने के अन्त में जो पैदा होते हैं, वे मोटे तौर पर स्वस्थ अवस्था में रहते हैं। उनके स्वास्थ्य को विशेष हानि नहीं होती। लेकिन शुरु-शुरु में उनके स्वास्थ्य की देखभाल कुछ अधिक करनी पड़ती है।

परिश्रुत (चुवाया हुआ) जल मिला पतला राई-सरसों का तेल मलकर सुबह के समय उस शिशु को कुछ देर हल्की धूप में सुलाए रखना अच्छा है। उसके बाद सूर्य पक्व गुनगुने जल से शिशु को स्नान कराना उचित है।

शुरु-शुरु में काफी दिनों तक माँ का दूध, गर्दभी का दूध अथवा पानी मिला हुआ गाय के दूध को छोड़ दूसरा कुछ भी पीने नहीं देना चाहिए। जन्म के बाद दो महीने बीत जाने पर उन्हें अन्य शिशुओं की बराबरी का मानना चाहिए।

एकादश महीने में जिस शिशु का जन्म होता है, स्वभावतः उसमें शक्तिसामर्थ्य कुछ अधिक होती है। लेकिन वे जिस race या जनगोष्ठी में पैदा होते हैं, उस जनगोष्ठी का जो स्वाभाविक रंग होता है, उसकी अपेक्षा एकादश महीने में जन्मे शिशु का रंग कुछ हल्का

कृष्णाभ रहता है। जो जनगोष्ठियाँ बहुत गोरी होती हैं, उनके भी ग्यारहवें महीने में जन्मे शिशु यद्यपि बहुत गोरे होते हैं किन्तु अन्य की तुलना में थोड़े कम गोरे होते हैं।

जो शिशु आठ महीने में पैदा होते हैं, कथ्य बंगला में उन्हें कहते हैं 'आटासे' लड़का (लड़की) इन शिशुओं का ब्रह्मताल बहुत दिनों तक बहुत कोमल रहता है। अन्य शिशुओं के ब्रह्मातालुको मजबूत होने में जितना समय लगता है, इनके मजबूत होने में उससे दो गुने से भी अधिक समय लगता है। इसीलिए इन शिशुओं की काफी देखभाल करनी पड़ती है। प्राचीन बंगाल में इनके लिए एक प्रकार का चक्कायुक्त कड़ा बक्सा तैयार किया जाता था। उस कड़े बक्से में पीठ और माथे के उपरी भाग की ओर तथा बगल में हल्की सिलाई की हुई सेमल रुई बिछा दी जाती थी। सेमल रुई का तोषक नहीं रुई जैसी होती वैसी ही रहती। केवल उसके उपरी भाग में सिलाई की सूई कई बार चलायी रहती ताकि

धागे बिखर न जाएँ या उड़कर शिशु की नाक कान मुँह में रुई न घुस सके। यह जो कड़े बक्से के अन्दर रखा रुई का बिछावन है इसी का अच्छा नाम 'गल्लपक्षम' है।

'आटासे' (आठ महीने में जन्मे बच्चे / बच्चियों को यदि पाँचसाल तक जिलाकर रखा जाए, तो वे अन्य लोगों की तरह दीर्घजीवी होते हैं। लेकिन अधिकांश मामलों में देखा जाता है कि वे हमेशा ही क्षीण जीवी रह जाते हैं। साधारणतः आटासे (आठ महीने में जन्मे बच्चे (बच्चियाँ) बहुत अधिक सुदर्शन नहीं होते (अपवाद भी है), शरीर कृश होता है, शरीर की तुलना में सिर कुछ बड़ा रहता है। अधिकांश मामलों में सिर तिकोना दबा होता है।

गधी का दूध-मातृदुग्ध का विकल्प :

गधी के दूध का पुष्टि मूल्य गाय या घोड़ी के दूध से बहुत कम है। मक्खन की मात्रा बहुत कम होती है। गुणगत विचार से गधी का दूध मानवी दूध के लगभग समान होता है। इसीलिए शैशव में मातृहीन सन्तान के लिए गधी का दूध मातृदुग्ध का एक सुन्दर विकल्प है।

किसी शिशु को यदि मातृ-वियोग हो और मातृदुग्ध न मिलने के कारण वह शिशु यदि अस्थिचर्मसार हो जाए, दुबला पतला हो जाए तो उस रोग की बहुत अच्छी औषधि है चित्तीदार केला, अर्थात् जिस केले का छिलका काला पड़ गया है। उसे मसलकर कपड़े से छानकर खिलाने से मात्दुग्ध से भी उसमें अधिक गुण होता है। इससे शिशु प्रयोजन के अनुसार कैल्शियम प्राप्त कर लेता है जो दूध का विकल्प है। किसी बाछुर को यदि मातृवियोग हो, दूध न मिले, उसे भी वही मँजा केला और दोगुने

वजन का सत्तू मिलाकर पानी में घोलकर खिलाने से वह भी हृष्ट-पुष्ट हो जाता है।

शिशुओं के लिए स्वास्थ्य-विधि :

पाँच वर्ष से कम उम्र के बालक-बालिकाओं का प्रधान खाद्य दूध और फल मूल है। श्वेतसार, शर्करा, और स्नेह जातीय खाद्य जितना कम दिया जाए उतना ही मंगल है क्योंकि वैसे खाद्य अपरिणत यकृत और पाचन यंत्र को दुर्बल बना देते हैं।

पाँच वर्ष की उम्र के पहले तक किसी भी अवस्था में शिशु को आमिष खाद्य देना उचित नहीं है। पाँच वर्ष की उम्र के बाद से धीरे-धीरे श्वेतसार, शर्करा और स्नेहजातीय खाद्यों की मात्रा बढ़ायी जा सकती है। क्षारधर्मी खाद्य ही शिशुओं के लिए सबसे हितकर है। (पाँच वर्ष के पूर्व कोई शिशु यदि दूध या फल मूल अधिक खाना न चाहे तो ढाई तीन साल की उम्र के बाद थोड़ा नरम भात,

पतली दाल, क्षारधर्मी सहज पाच्य हरी साग सब्जियों का झोल खिलाया जा सकता है। दरिद्रतावश अनेक लोग शिशुओं के लिए पर्याप्त मात्रा में दूध की व्यवस्था नहीं कर पाते जबकि शिशुओं के लिए प्रयोजन है- दैनिक कम से कम तीन पाव/एक सेर दूध)।

शिशु को बीच-बीच में सीपी में करके चूने का पानी (चूना निथर जाने पर) पिलाना अच्छा होता है। शिशुओं के लिए रोज कुछ समय खुली हवा और खुली धूप का स्पर्श विशेष उपकारी है।

चूने का पानी :

किसी पात्र में थोड़ा चूना उससे दोगुने पानी में अच्छी तरह घोल लेना चाहिए। उसके बाद उसे निथरने देना चाहिए अर्थात् उसे

थोड़ी देर निथरने देना चाहिए। चूने का पानी निथर जाने पर चम्मच से ऊपर का चूना रहित जल

धीरे-धीरे उठाकर एक पात्र में डाल लेना चाहिए। चूने का यह पानी शिशुओं के विभिन्न रोगों की दवा है। शरीर में कैल्शियम का अभाव होने पर या रिकेट रोग या कृमिरोग होने पर चूने का यह पानी औषधि का काम करता है।

शय्या मूत्र :

गणिकारी (Premma Integrifolia Linn) गाछ

गणिकारिका शब्द का अर्थ है गणिकारी गाछ या हुड़हुड़े (गनियार) गाछ की जड़। यह शय्यामूत्र रोग की औषधि है।

तुम लोगों ने देखा होगा कि कुछ बड़ा हो जाने के बाद भी कोई-कोई बिछावन पर मूत्रत्याग कर डालते हैं। यह रोग भयावह न होते हुए भी थोड़ा लज्जास्पद है। **गणिकारिका की जड़ का रस जिस मात्रा में होगा उसकी चार गुनी मात्रा में अदरक का रस मिलाकर सुबह खाली पेट में और रात को सोने के पहले सेवन करके सोने पर यह रोग अच्छा हो जाता है।** यह रोग जब तक ठीक न हो जाए तब तक आमिष, साग, अम्ल, और उड़द खाना निषिद्ध है।

शिशुओं का गुनगुने पानी से स्नान को + उष्ण = कवोष्ण। जिस पानी को किसी पात्र में रखकर सूर्यकिरणों (धूप) से गर्म किया जाता है उसे कवोष्ण जल कहा जाता है। शिशुओं को तेल मालिश के बाद कवोष्ण जल (गुनगुने पानी) से स्नान कराने पर उनकी प्राणशक्ति बढ़ती है। वयस्क लोगों के लिए भी गुनगुना

पानी स्वास्थ्य के लिए उपकारी है लेकिन वयस्कों के मामले में गुनगुने पानी का तापक्रम देह के तापक्रम से अधिक होना अच्छा नहीं है।

शिशुओं की कृशता :

कारण : (1) शिशु को यदि पर्याप्त मात्रा में माँ का दूध न मिले तो वह साधारणतः कृषकाय हुआ करता है।

(2) दरिद्रतावश जो माता-पिता सन्ततियों के लिए पर्याप्त मात्रा में दूध की व्यवस्था न कर सकें और छोटी उम्र से उनके लिए भात, दाल, साबू बार्ली की व्यवस्था कर देते हैं उनका यकृत और परिपाक यंत्र दुर्बल हो जाते हैं और अधिकांशतः वे दुर्बल हो जाते हैं।

(3) जो माता-पिता सन्तान के प्रति अत्यधिक दरद दिखाने के लिए शिशु काल से ही उनके लिए घी, मक्खन, मछली, मांस अंडे की व्यवस्था कर देते हैं अथवा दरिद्रता के कारण या संस्कारवश जो लोग शिशु को दूध, फल मूल इत्यादि शिशु के लिए हितकर खाद्यों के बदले आमिष खाद्य या मसालेयुक्त साग सब्जियों की व्यवस्था करते हैं, उन शिशुओं का यकृत, पाकयंत्र, इत्यादि की अतिक्रियता के फलस्वरूप वे यंत्र सबलता खो देते हैं और शिशु कृषकाय हो जाता है। (शिशु के शरीर में कृमि रोग का प्रकोप भी कृषता का एक कारण हो सकता है।)

पथ्य और चिकित्सा :

फल-मूल, साग-सब्जी का झोल और दूध पर्याप्त मात्रा में खाने को मिले तो शिशुओं की कृषता दूर हो जाती है। (अर्द्धसिद्ध फूलगोभी शिशुओं की कृषता में फलप्रद है।) इसके लिए आमिष खाद्य का प्रयोजन नहीं है। यदि डाक्टरी जाँच से अन्य किसी विशेष

शारीरिक कारण का पता चले, तो उसकी चिकित्सा कराना उचित है।

चौदह वर्ष से अधिक उम्रवालों की कृषता में चिकित्सा के रूप में कुछ आसनों का अभ्यास आचार्य से सीखकर करने से और नियमों को जानकर अच्छा फल प्राप्त होगा। वे आसन हैं- कूर्मासन, भुजंगासन, द्विसमकोणासन, चक्रासन, ग्रन्थिमुक्तासन, कुक्कुटासन, गरुड़ मुद्रा। महिलाओं के मामले में विशेषकर यदि रक्ताल्पता की वजह से कृशता हुई तो उपरोक्त आसनों में से जिन्हें करना उनके लिए उचित है उनके अलावा पादहस्तासन करणीय है। कृश शिशुओं को खेलकूद में उत्साह देना उचित है।

अध्याय-9

स्वर-विज्ञान और संगीत चिकित्सा

सूचीपत्र

स्वर-विज्ञान

मानव-जीवन का अस्तित्व कुछ स्पन्दनों पर निर्धारित होता है। स्पन्दन श्वास-प्रश्वास की मात्रा के अनुरूप होते हैं। मनुष्य के भेद के अनुरूप प्रतिदिन 29 से 25 हजार बार श्वास-प्रश्वास की क्रिया सम्पन्न होती है। श्वास-प्रश्वास के कारण मनुष्य के मन पर और आत्मा पर भी विविध प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं।

श्वास-प्रश्वास भी दक्षिण नासिका, वाम नासिका तथा उभय नासिका के भेदानुसार मनुष्य को प्रभावित करता है। शिव ने ही यह निर्धारित किया कि कब वामा कब दक्षिणा, कब इड़ा, कब पिगंला और कब सुषुम्ना के अनुसार कौन सा कार्य करना होगा। जैसे कब जागतिक आधिभौतिक कार्य कब मानसिक (आधिदैविक) कार्य करना है। कब आध्यात्मिक कार्य करना होगा, ये सब शिव के द्वारा

निर्धारित विधान हैं। किस प्रकार ध्यान करना है, किस अवस्था में आसन, किस अवस्था में प्राणायाम करना हैं, इत्यादि। शिव ने यह जो विज्ञान प्रस्तुत किया, इस विज्ञान का नाम- स्वरशास्त्र या स्वरोदय है। शिव के पूर्व पृथ्वी इस विज्ञान से परिचित नहीं थी। इस विद्या से अपरिचित थी।

कार्यक्षेत्र में भी मनुष्य इस स्वर-विज्ञान को किस प्रकार कार्य में लगा सकता है, उसका निर्धारण भी शिव ने किया था जिससे मनुष्य लाभान्वित हो।

इस व्यवस्था या स्वरोदय ने पश्चात्वर्ती काल में आध्यात्मिक जीवन में, जागतिक जीवन में, संग्राम में मनुष्य को विविध प्रकार से सहायता प्रदान की थी।

स्वाभाविक अवस्था में कोई भारी कार्य करते समय हो सकता है कि मनुष्य को विपत्ति में पड़ना पड़े, हाथ पैर टूट सकते हैं, बद्धकुम्भक (पूर्णकुभ्मक) की अवस्था में वही कार्य मनुष्य आसानी से कर सकता है। शून्य कुम्भक के समय उस कार्य को करने पर हो सकता है कि मनुष्य की मृत्यु हो जाय।

कहानियों में तुमने पढ़ा होगा कि हनुमान ने निःश्वास लेकर शरीर को फुलाकर पहाड़ को उठा लिया था। यह कहानी पुराण की कहानी है किन्तु इस स्वर-विज्ञान का इंगित इस गल्प में है।

इस स्वर-विज्ञान सम्मत भाव से मनुष्य यदि नाचे, यथारीति छन्द में, यथा रीति मुद्रा में तो वह नाच केवल शरीर के लिए उपयोगी होता हो वैसा भी नहीं है, वह नाच एक सुन्दर व्यायाम हो जाएगा। उस नाच को यदि ताल के साथ हर ग्लैंड अर्थात् हर ग्रन्थि को समभाव से प्रभावित करें तो क्या फल होता है? उस समय उन

ग्रन्थियों से ग्रन्थिरस (हार्मोन) यथोपयुक्त रूप में, प्रयोजनीय रूप में निःसृत होता है जो मनुष्य को केवल शारीरिक रूप में ही नहीं वरन् आत्मिक रूप से भी पुष्टि करता है।

मनुष्य के शरीर में पुरुष या नारी के शरीर में अनेक ग्लैंड या ग्रन्थियाँ हैं। इन ग्लैंडों की उपयुक्त परिचर्या होना जरूरी है। केवल खाद्य के द्वारा ही इनकी उपयुक्त परिचर्या सम्भव नहीं हो पाती, इस कारण एक विशेष प्रकार के व्यायाम की जरूरत है। यह व्यायाम शिव द्वारा बताये गए छन्दोबद्ध, नियम बद्ध नृत्य आदि है।

ऐसे ग्लैंड हमारे शरीर में हैं जिनके उपयुक्त व्यायाम न होने पर मनुष्य की विविध सामर्थ्य नष्ट हो सकती है-विशेष तौर पर चिन्तन शीलता और स्मरण करने की क्षमता मन के मुख्यतः दो गुण हैं, सोचना और याद रखना। ये दोनों गुण कम हो जाते हैं। इन दोनों गुणों के लिए कोई विद्या नहीं है। इस कारण समस्त बातों पर

विचार करके समस्त ग्रन्थियों का विचार कर, समस्त छन्द की बात, समस्त मुद्रण की बात सोचकर शिव ने एक अपूर्व अनबध्य नृत्य का प्रवर्तन किया था। जिसका नाम है- 'ताण्डव'। यह एक अपूर्व आविष्कार है, मनुष्य ने अतीत में कभी नहीं सोचा था। भविष्य का मनुष्य भी उसका विकल्प नहीं खोज पाएगा।..... यह शरीर के लिए कल्याणकारी है, मन के लिए उत्कर्ष साधन है एवं आत्मा के लिए भी उन्नति विधायक है।

शिव ने ताण्डव नृत्य का आविष्कार ही करके शांति ग्रहण कर ली हो, ऐसी बात नहीं। पार्वती की सहायता से उन्होंने और भी नाना प्रकार के नृत्यों की उद्भावना की और मानव समाज में उसे फैला दिया। (न.शि.शा.)

संगीत चिकित्सा

किसी भी व्यष्टि सत्ता की संरचना का संरक्षण [विशेषतः] जैवी सत्ता का शारीरिक तरंग, मानसिक तरंग और प्राणाः के बीच सन्तुलन द्वारा सम्पन्न होता है। यह 'सन्तुलन' नष्ट भी हो सकता है, जिसके फलस्वरूप इन घटकों का सम्बन्ध नष्ट हो टूट जाता है। इन घटकों के ह्रास अथवा वृद्धि के परिणामस्वरूप यह सन्तुलन नष्ट होता है। असन्तुलन से मृत्यु भी घटित हो सकती है। इस सन्तुलन को चिकित्सक विभिन्न उपायों से बरकार रखने की व्यवस्था कर सकता है..... दीर्घ जीवन भी प्रदान कर सकता है। विभिन्न शारीरिक तरंगों की तरंग दीर्घता की सम्यक् करके।

सम्यक् सन्तुलन के लिए मानस देह और भौतिक शरीर के बीच भी तालमेल रखना आवश्यक है। उसके लिए प्राणाः के साथ तालमेल बनाना पड़ता है। प्राणाः पाँच अन्तरंग और पांच बहिरंग वायुओं का समूह नाम है। पाँच अन्तरंग वायु हैं-प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। बहिरंग वायु हैं नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त

और धनञ्जय। प्राण का क्षेत्र है 'नाभि' से कंठ तक और इसका कार्य श्वास-प्रश्वास है। अपान मूत्रेन्द्रिय से नाभि तक और उसका कार्य है मूत्र और मल की गति का नियन्त्रण, समान नाभि में रहता और उसका कार्य प्राण और अपान के बीच सन्तुलन रखना, व्यान रक्त संरचरण की व्यवस्था करता है और व्यान वहाँ तथा कर्मवहा नाड़ियों का नियमन करता है। नाग उछलने कूदने की शक्ति, या प्रक्षेपण शक्ति का, कूर्म संकोचन, कृकर जंभाई, देवदत्त भूख और प्यास तथा धनञ्जय निद्रा और तन्द्रा का नियमन करता है। सम्बन्धित अंग की दुर्बलता प्राण और अपान को दुर्बल बना सकते हैं और तब समान प्राण और अपान के बीच सन्तुलन बनाये रखने में असमर्थ हो जाता है। .... इस प्रकार शारीरिक और मानसिक तरंगो में सन्तुलन नहीं रहने के कारण मृत्यु भी हो सकती है।

इसी प्रकार जीवन धारण का भौतिक कारण होता है। भोजन का पाचन रस से मिश्रण और पाचन के परिणामस्वरूप रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र आदि में रूपान्तरण सौन्दर्य और विभिन्न ग्रन्थि रसों का उचित क्षरण सुनिश्चित करता है।..... शुक्र दुर्बलता के फलस्वरूप शक्ति केन्द्रों में दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ पैरों में शुक्र के प्रभाव दुर्बलता के कारण पैरों में श्लीपद (elephantasis) होने की संभावना प्रबल हो जाती है। (आइडिया एण्ड आइडियोलॉजी सारांश)

सदाशिव ही आयुर्वेद, वैद्यक, नृत्य, गीत, वाद्य आदि के प्रवक्ता हैं। गीत नृत्य वाद्य क्यों बनाया? श्वास-प्रश्वास के साथ नृत्य, वाद्य संगीत का सम्बन्ध निर्धारण किया और उन सबको स्वरशास्त्र कहा। गीत नाट्य और नृत्य तीनों का सम्मिलित नाम संगीत हुआ। मैंने पहले भी कहा है और अनेक बार कहा है कि हमलोग एक व्यावहारिक सन्तुलन के माध्यम से मूल कारण की ओर जाते हैं।

सन्तुलन का अर्थ क्या है? सब कुछ को उस ढंग से बनाकर रखना जो स्वीकार करने लायक हो, अधिक कडुवा भी नहीं, तीखा भी नहीं, खट्टा भी नहीं।

सदाशिव ने जब अध्यात्म विद्या का प्रचलन किया तभी उन्हें सोचना पड़ा कि यह धर्मसाधना जो करेंगे उनके व्यावहारिक जीवन में सन्तुलन नहीं रहने पर मन खिंचा रहेगा, मन गन्दा होगा- साधना में मन नहीं लगेगा। व्यावहारिक जीवन की चीजों में से उन्होंने ऐसी तीन चीजों को चुन लिया जो व्यावहारिक जीवन में भी उपयोगी है और आध्यात्मिक जीवन में भी व्यापक रूप से सहायता करती हैं। वह है गीत, नृत्य और वाद्य। तिनो मिलकर होता है संगीत। संगीतका प्रथम भाग का नाम गीत है। गीत एक ऐसी चीज है जो स्थूल जगत के बीच है किन्तु उसकी तरंग बार-बार मानस जगत् के भीतर आ पड़ती है।

मानस जगत् क्या है ? चित्ताणु सृष्ट जगत ectoplasmic world हैं। उसके बीच ठीक उसी प्रकार की भाव तरंगे उठती हैं जो अन्त तक सरल रेखा के रूप में जाकर आत्मा को छूती हैं, आत्मा को स्पर्श करती हैं। आत्मा को स्पर्श करने के लिए जैसे गीत के बीच छन्द रहेगा, सुर होगा, साथ-साथ उसके बीच भाव भी रहेगा। चूँकि भाव वर्जित होने पर गीत का माधुर्य सम्पूर्ण नहीं हो सकता है इसलिए **गीत को भावयुक्त होना होगा।**

इसके साथ उन्होंने दिया वाद्य और नृत्य जो आर्य भारतीय संगीत के नाम से विख्यात है। .....गीत में जैसा भाव होता है उसके साथ छन्द भी रहता है। सुर भी रहता है किन्तु वह भावाश्रयी होता है। वाद्य वैसा भावाश्रयी नहीं होता लेकिन मन को तरंगायित करके सीधे चित्ताणुओं को तरंगायित करेगा और भाव के साथ वह समन्वय रखकर चलेगा। वाद्य का यदि भाव के साथ समन्वय रखने का धर्म समाप्त हो जाय तब वाद्य का मूल्य फिर नहीं रहेगा।

नृत्य क्या है? मानसिक भाव को भाषा की सहायता के बिना अभिव्यक्त करना-छन्द और मुद्रा के माध्यम से।. .. नृत्य का लक्षण अर्थात् नृत्य की मुद्रा सीधे एक्टोप्लाज्मिक (चित्ताणुओं) से सम्बन्धित है। इसलिए प्राच्य नृत्य का वैशिष्ट्य दिखाई पड़ जाता है। यह जो विषयगत सामञ्जस्य objective adjustment है, व्यावहारिक जगत् में हमारे नृत्य, वाद्य गीत इन तीनों को इस तरह चलाने की व्यवस्था कर दी जो एक्टोप्लाज्म को आन्दोलित कर सके और जिससे वह चित्ताणुगत गति ectoplasmic movement एक बिन्दु में आकर आत्मिक बिन्दु का स्पर्श करे।

परमपुरुष सम्बन्धी गीत को कीर्तन का नाम दिया है। जो गीत प्रत्यक्ष रूप से परमपुरुष के बारे में है। किन्तु किसी आइडिया को लेकर नहीं चलता, कई आइडिया में घूम फिरकर एक

आइडिया में आता है, उस तरह का जो ईश्वर विषयक गीत है, उसे 'भजन' कहा जाता है।

मनुष्य के शरीर में किसी भी प्रकार की विकृति लाए बिना ललित मार्मिक नृत्य सन्तुलन रख सकता है। इसलिए कीर्तन में इस नृत्य का विधान दिया हुआ है। 'मार्मिक' का अर्थ है जो मर्म को अर्थात् अन्तस्तल को स्पर्श करता है। इसलिए उसका नाम ललित मार्मिक है। ललित नृत्य की प्रवक्ता पार्वती थीं और शिव ने स्वयं ताण्डव नृत्य की उद्भावना की थी।

मनुष्य को छोटे-मोटे विभिन्न आधिव्याधि रोग रहते ही हैं। इसी कारण साधना में बड़ी नहीं तो छोटी-मोटी बाधायें आती हैं। इसलिए कई वैसी शरीर सम्बन्धी बाधाऐं, छोटी-मोटी व्याधियाँ, लीवररोग आदि साधना में थोड़ी बहुत बाधाऐं लाते हैं। इन बाधाओं के विरुद्ध लड़ाई करने के लिए मैंने छः सितम्बर, 1978

को कौशिकी नृत्य का आविष्कार किया है। यह बाईस रोगों की औषधि है। यह सब है जागतिक सन्तुलन के अन्दर से मनुष्य के मर्म को अर्थात् एक्टोप्लाज्मिक स्टफ को आन्दोलित कर देना, उसे हिला देना और अन्तः उसे एक बिन्दु में पर्यवसित करना, परमपुरुष का स्पर्श करना। (आ.व.4)

कीर्तन के परिवेश में जिस प्रकार परमपुरुष उपलब्ध होते हैं, उसे "गन्धर्व लोक" कहा जाता है। कहीं धान के खेत में देखोगे धूप-छाँव का खेल..... धूप के पास से एक छाया रेखा लगातार चली गयी है। रेखा का पता चलता है किन्तु उनके बीच की रजत रेखा आँकी नहीं जा सकती। इस प्रकार जिस परिवेश में परमपुरुष की उपलब्धि होती है, उस परिवेश को "ब्रह्मलोक" कहते हैं।

गन्धचिकित्साः तुम लोग जानते हो कुछ जीव ऐसे हैं जिनके शरीर से सुगन्ध या दुर्गन्ध निकलती है। यह और कुछ नहीं

है, विशेष विशेष ग्लैंड से विशेष - विशेष ग्रन्थिरस या सुधाक्षरण के परिणाम हैं।

जो लोग अत्यधिक मात्रा में प्याज लहसुन और दुश्पाच्य मांस खाते हैं, उनके शरीर की कई ग्रन्थियों से जो रस क्षरण होता है उसमें दुर्गन्ध रहती है।

जो लोग साधना करते हैं या ज्यादा कीर्तन करते हैं उनके शरीर के अनाहत चक्रं से, विशुद्ध चक्र में और आज्ञाचक्र के विशेष भाग से उस समय जो ग्रन्थिरस क्षरित होता है उसकी गन्ध बहुत कुछ जूही फूल की गन्ध जैसी होती है अथवा पके कटहल की हल्की गन्ध जैसी होती है। (सही-सही तुलना संभव नहीं हैं।) इसलिए भक्त-स्वभाव के लोग या योगाचारी लोग सुगन्ध युक्त हो जाया करते हैं। ईश्वर-प्रेम के जितने लक्षण हैं उनमें एक है "सुरभिस्पन्द"। यहाँ तक कि यदि कोई व्यक्ति एकान्त में बैठकर

कुछ देर के लिए भी परमपुरुष का सान्निध्य प्राप्त करने भी चेष्टा करे, उस समय नाक के पास जो मधुर हवा आती है, असल में वह उसके सुगन्धयुक्त ग्रन्थिरस का नासिकाग्र में एकत्र होना है। यह जीव शरीर विज्ञान से सम्बन्धित चीज है। लेकिन उसे परमपुरुष की कृपा छोड़ और क्या कहा जाय ? (मधु मालंञ्च कलकत्ता 28.08.85)

संगीत चिकित्सा : विशेष सन्दर्भ

संगीत कान के माध्यम से स्नायु कोष (brain) में पहुँचती है। वहाँ से यह तरंग (vibration) शरीर में फैल जाती है। और विशेष चक्र को प्राणवन्त (activise) कर देती है [इसके फलस्वरूप रोग को दूर करने में सहायता मिलती है।] प्रभात संगीत के माध्यम से निम्नलिखित रोगों का उपशमन होता है:- (1) मिर्गी रोग (2) शोक से बहुत अधिक अभिभूत हो जाना अवदमन-प्रदमन गाना, सुनना दोनों ही ऐसे में प्रभावकारी हैं; (3)

हिस्टीरिया; (4) विषादवायु; (5) वातरोग; (6) पीठ की रीढ़ के थोड़ा नीचे दर्द (7) 22-23 वर्षों के बीच मूत्र द्वार के दोनों ओर टपक का दर्द (8) पैर के नीचे या तलवे में टपक का दर्द - सुबह 8 बजे के भीतर अकेला गाना (9) हात का ऊपरी भाग जहाँ से कंधा शुरू होता है वहाँ पर सुबह उठते ही दर्द समवेन संगीत सुनना से नारी को गर्भ-काल में रात को सोते समय प्रभात संगीत सुनाने से स्नायुतंतु, स्नायुकोष दोनों ही को प्राणकशक्ति मिलती है; (8) धातु दौर्बल्य और सुप्तिस्खलन में ताण्डव नृत्य लाभप्रद होता है। रोग भागते-भागते बाल झड़ गए हों विशेषकर देश रागिनी मुलक गीत।

अध्याय-10

खाद्य-अखाद्य-व्यवस्था

पुष्टिकर खाद्य और जन्म नियन्त्रण:

साधारणतः देखा जाता है कि जिनकी आर्थिक अवस्था अच्छी है, विशेषकर जो अच्छा और पुष्टिकर खाद्य ग्रहण करते हैं, उनकी वंशवृद्धि नहीं होती। उनकी वंशवृद्धि का अनुपात आश्चर्यजनक रूप से कम हो जाता है। माँ षष्ठी की कृपा गरीबों के घर में होती है। आर्थिक प्रचुरता के कारण कई विशेष वर्ग के परिवारों में संतानों की संख्या बहुत कम हुआ करती, इसलिए पोष्यपुत्र वे ही ग्रहण करते हैं। पता करने पर ही तुम्हें मालूम होगा कि बड़े-बड़े धनियों, राजे-रजवाड़ों में से अनेक लोग अपुत्रक थे। पोष्य के द्वारा ही उन्हें वंश-परम्परा को बनाए रखना पड़ा था। उन दिनों कायस्थों की स्थिति अच्छी थी, उन दिनों उनमें संख्यावृद्धि बहुत कम हुआ करती थी। वणिकों की संख्यावृद्धि अभी भी बहुत कम ही हुआ करती है। बड़े-बड़े किसानों की भी पुत्र कन्याओं की संख्या कम हुआ करती है। पृथ्वी के ज्ञानी गुणियों-मनीषियों में

साधारणतः सन्तान-संख्या कम ही हुआ करती है। यदि दैवक्रम से सन्तानों की संख्या अधिक हो भी तो उनमें से अधिकतर जीते नहीं।

संख्यावृद्धि उनके यहाँ अधिक होती है जिन्हें पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक भोजन नहीं मिलता। ध्यातव्य है कि मध्यवित्त परिवार के जो लोग पर्याप्त मात्रा में दूध या पुष्टिकर भोजन नहीं पाते जबकि जो बुद्धि जीवी हैं, उनकी सन्तानों में कन्या सन्तानें अधिक होती हैं जो बुद्धिजीवी नहीं है, शारीरिक परिश्रम करते हैं, उनको पुत्र सन्तान अधिक होती हैं। साधारणतः अति मेधावी वंश समाज में बढ़ नहीं पाता। जो पौष्टिक भोजन खाते हैं, वे चाहे मेधावी हों या नहीं, उनका भी वंश बढ़ नहीं पाता। ध्यान देने पर आश्चर्यपूर्वक यह भी पाओगे कि सारे हों या न हों मेधावी वंश अपवाद के रूप में थोड़ा बढ़ा है, उनमें अपुष्टिजनित व्याधि न होते हुए भी वे कम उम्र में मृत्यु के मुख में पतित होते हैं। अंततोगत्वा वह मेधावी वंश

बहुत कम ही बढ़ता है अथवा जैसा था वैसा ही रहता है अथवा सम्पूर्ण रूप से विलुप्त हो जाता है।

बर्त्तमान पृथ्वी पर जिन देशों की आर्थिक अवस्था काफी उन्नत है उनमें संख्यावृद्धि का अनुपात बहुत कम रहता है। कभी देखा जाता है कि किसी देश में दस वर्ष बाद की जनगणना में जनसंख्या बढ़ी ही नहीं बल्कि कुछ घट गयी है। पृथ्वी के उन्नत देशों में आज जनसंख्या का न बढ़ना ही एक समस्या है। उन देशों में संख्यावृद्धि के लिए विशेष आर्थिक भत्ते की व्यवस्था करके भी हो सकता है समस्या का समाधान नहीं हो रहा। किसी-किसी देश में जिस अनुपात में जनसंख्या घटती जा रही है उससे हो सकता है एक पीढ़ी के बाद बूढ़े-बूढ़ियों की भीड़ रहेगी। शिशुओं की किलकारियाँ नहीं सुनाई देंगी।

इसलिए जो लोग देश में जनसंख्या कम करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि परिवार नियोजन के नाम पर अर्थ-व्यय न कर देश के गरीब जनसाधारण के लिए पौष्टिक भोजन की व्यवस्था करें। तब अपने आप जनसंख्या वृद्धि का अनुपात कम हो जाएगा। प्रकृति विरोधी तरीके से शरीर पर कोई अस्त्रोपचार न करके जन-साधारण को भरपेट पुष्टिकर खाद्य देने की व्यवस्था करना उचित है। यही परिवार नियोजन का साधु तथा सत्प्रयोग होगा।

पुष्टिकर खाद्य के साधन

आम/आँब (आम्र> आम्ब> आँब):

फलशाक का तात्पर्य है जिस गाछ पर फूल के बाद फल लगते हैं। कच्चा-पका किसी भी प्रकार का फल शरीर के लिए अच्छा है, क्योंकि फल अपने रस से जीर्ण होते हैं-पाचन के लिए

यकृत की सहायता अधिक नहीं लेनी पड़ती, जबकि फल पर्याप्त शक्ति प्रदान करते हैं।

फलों की तालिका में **तृतीय स्थान आम** का होते हुए भी (**प्रथम दो-जामुन और खीरा**) आम को सबसे ऊपर रखा जाता है, (क्योंकि) यह फल अनेक गुणों का आधार है। आम चाहे खट्टा हो या मीठा, गले से नीचे उतरते ही सभी आम समान हैं। जिस आम का छिलका जितना पतला होता है, वह आम उतना ही उन्नत होता है। पका आम रक्तवर्धक है। शायद दाड़िम्बी (बेदाना-अनार) को छोड़कर और कोई भी फल इतने रक्त की आपूर्ति नहीं करता। **दोपहर बारह बजे से पहले एक उफान के दूध के साथ पके आम का रस पान करने से रोगयुक्त व्यक्ति को शक्ति मिलेगी।** अतिवृद्ध को छोड़कर सभी उम्र के लोग विशेषकर छोटी उम्र के युवक आम-दूध का पान करके प्रभूत शक्ति के अधिकारी होते हैं। लेकिन यह उष्णवीर्य है। इसलिए जिसका पेट बहुत अच्छा

न हो, उसके लिए आम-दूध का पान न करना ही अच्छा है। कैल्शियम पर्याप्त मात्रा में रहने के कारण पेट अच्छा रहने पर यक्ष्मा के रोगी आम-दूध का पान कर विशेषरूप से उपकृत होंगे। **अधिक मात्रा में पीने पर यह (आम-दूध) मधुमेह रोग पैदा करता है और रक्त-संचालन बढ़ा सकता है**। इसलिए थोड़ा परिमित रूप से ही इसका व्यवहार करना उचित है। अन्यथा शरीर के विभिन्न भागों में फोड़े निकल सकते हैं। [पहले दिन रात को आमों को पानी में डुबोये रखकर दूसरे दिन उसका व्यवहार करने पर आम खाने के अनेक अवांछित प्रभावों से बचा जा सकता है।

केला:

यद्यपि साधारण अर्थ में 'कदली' का तात्पर्य सभी केलों से लिया जाता है, फिर भी विशेष अर्थ में कदली के अर्थ में कचकेला और 'रम्भा' का अर्थ पका केला समझा जाता है। यहाँ कचकेला कहने से हमलोग वह केला समझते हैं जिसे कच्ची अवस्था में

तरकारी पकाकर खाया जाता है और पकने पर खाया नहीं जाता। केला सभी ग्रीष्मप्रधान देशों में उगता है। लेकिन केला का आदि निवास है पूर्वी भारतीय द्वीपपुंज- East Indies Archipellago - अर्थात् मलेशिया, इन्डोनेशिया, फिलीपीन्स इत्यादि देश। भारत भी अन्यतम केला उत्पादक देश है। केवल भारत में ही शताधिक प्रजातियों की संख्या डेढ़ हजार के लगभग है। भारत और वहिर्भारत समेत समग्र विश्व में केले की प्रजातियों के केले पाये जाते हैं। बंगाल में सबसे अधिक केले की खेती होती है हुगली जिले में। इसके अलावा हावड़ा, मेदिनीपुर, नदीया, मुर्शिदाबाद, चौबीस परगना, जलपाईगुड़ी और त्रिपुरा में प्रचुर मात्रा में केला उगता है।

केले का कोई भी भाग परित्याज्य नहीं है। केले का छिलका भी पृथ्वी के विभिन्न भागों के लोग विभिन्न रूपों से खाया करते हैं। फलदार केलागाछ के धड़ का भीतरी भाग जिसे

बंगला में 'थोड़' कहा जाता है, वह भी मनुष्य का खाद्य है। थोड़ का अधिक भाग पानी है। लेकिन थोड़ में कुछ मूल्यवान खजिन लवण भी है। उस हिसाब से थोड़ का एक खाद्यमूल्य भी है। जो लोग रक्ताल्पता से ग्रस्त हैं या जिनका चमड़ा कुछ विवर्ण है, थोड़ उनके लिए मोटे तौर पर अच्छा है। केले का पत्ता भोजनपात्र के रूप में व्यवहृत होता है।

केला गाछ को जलाने पर जो क्षार प्राप्त होता है, उससे एक जमाने में कपड़े धोये जाते थे। केलागाछ का क्षार-सोडियम कार्बोनेट है जो कपड़ा धोने के सोडे का मूल उत्पादन है। केलागाछ के सूत से पृथ्वी के अनेक देशों में कपड़े तैयार किए जाते हैं-जिस प्रकार कपड़े तैयार होते हैं अनारस के सूत से दक्षिण-पूर्व एशिया के एक द्वीप के लोगों ने लेखक को उसी सूत से तैयार एक कुर्ता भी उपहार में दिया था।

कदली एक बहुत पुष्टिकर खाद्य है। पारी ज्वर नाम का जो एक प्रकार का ज्वर होता है, एक दो दिन के अन्तर पर उसकी औषधि है कदली। यकृत, अग्न्याशय, किडनी इन तीनों के काम दुरुस्त कदली रखती है। आमाशय रोग की भी बहुत अच्छी दवा कदली है। इसके अलावा कदली मृतवत्सा नारी के लिए बहुत अच्छा खाद्य है।

(पहले ही कहा) खाद्य के रूप में केला बहुत पुष्टिकर है। लेकिन जिन केलों में अम्लीयता अधिक होती है (जैसे चम्पा केला), उन्हें संध्या के बाद खाने पर अम्लदोष हो सकता है। [यद्यपि सभी प्रजातियों के केलों में पौष्टिकता प्रायः एक जैसी है, फिर भी कटहली केले का पुष्टिमूल्य तुलनात्मक रूप से कुछ अधिक है। विशेषकर औषधि के रूप में व्यवहार के मामले में- आमाशय और रक्त-आमाशय में धीमें भुना या दुग्धखीरा के रस के

साथ पका केला-इस मामले में कटहली केले का ही व्यवहार करना उचित है]।

तरबूज (Water melon) :

पृथ्वी पर तरबूज की अनेक प्रजातियाँ हैं। साधारणतः भारतीय तरबूज में ऊपरी भाग सफेद, हरा और काला तीनों ही प्रजातियाँ हैं। साधारणतः भारतीय तरबूज का भीतरी भाग गहरा लाल अथवा फीका लाल हुआ करता है। ग्वालन्द, आमता, तारकेश्वर, वर्द्धमान, भागलपुर और सहारनपुर के तरबूजों की अपनी विशेषता है। आकार में भागलपुरी तरबूज सबसे बड़ा हुआ करता है। जिसका भीतरी भाग पीला होता है वह चीना तरबूज का आकर कुछ छोटा होता है; किन्तु मीठापन बहुत अधिक होता है। वर्तमान में पुश्तैनी जापानी वर्गीय तरबूज दक्षिण बंगाल में समुद्र-सटे अंचल में अच्छा ही उगने लगा है। इसको स्थानीय नाम दिया

गया है सागरश्री। वनस्पति-वैज्ञानिक कहते हैं कि तरबूज का आदि वासस्थान शायद अरब देश है। अनुमान है कि जलपथ से यह तरबूज कलिंग देश (वर्तमान उड़ीसा) में सर्वप्रथम पहुँचा था। इसलिए अच्छी बंगला में तरबूज का नाम है कालिंग (कलिंग+अण्) । तरबूज का एक अच्छा नाम (संस्कृत) 'कालिकाफलम्' है।

तरबूज आज विश्व का एक सुपरिचित और उपादेय फल है। तरबूज के मध्य भाग में शर्करा का अनुपात बहुत अधिक होता है [इसीलिए ग्रीष्मकाल में शरीर से अत्यधिक पसीना निकलने के कारण शरीर की प्राणशक्ति में जो कमी आती है, सरस और मीठा तरबूज उसकी बहुत कुछ पूर्ति कर देता है]। इसलिए तरबूज के रस से एक प्रकार की चीनी तैयार की जा सकती है।

पके तरबूज के सफेद भाग को सुखा कर आटे और मैदे की तरह व्यवहार किया जा सकता है। इसका पुष्टिमूल्य आटे-मैदे से कम होते हुए भी खाद्य के रूप में व्यवहार किया जा सकता है। गरीबों का पेट भरने के काम में भी यह कुछ सहायता करेगा। बंगाल, भारत तथा पृथ्वी के खाद्य-संकटयुक्त देशों में नदी के दोनों तीरों पर की परती जमीन पर तरबूज, खंड़ो, टांड़ खीरा, ककड़ी वर्गीय पौधों की अधिक खेती जरूरी है। उससे विश्व की खाद्य समस्या के समाधान में काफी सहायता मिलेगी।

खरबूजा (Muskmelon) को बंगला में 'खरमूज' कहा जाता है। संस्कृत में 'स्फोटक' या 'स्फोटन' कहा जाता है और फूट या वांगी को स्फुटिका कहा जाता है। इस तरबूज का ही एक स्वगोत्र जो कालक्रम में मूल शाखा से अलग हो गया था, वह 'खेंड़ों' नाम से परिचित है। खेंड़ो अनेक मामलों में तरबूज जैसा ही है। तरबूज कच्चे में खाया नहीं जाता, पकने पर खाया जाता है।

खेंड़ो कच्चे में ही खाया जाता है-लेकिन राँधकर खाया जाता है-पकने पर खाया नहीं जाता। तरबूज एक लतरीला पौधा है।

तरबूज और खंड़ो के बीजों से खाद्य तेल भी पर्याप्त मात्रा में मिल सकता है। वस्तुतः तरबूज, खीरा, ककड़ी, खरबूज, फूट और कोंहुड़े के बीजों से जो कीमती तेल प्राप्त होता है, उसका पुष्टिमूल्य बादाम तेल जैसा ही है और स्वाद किसी-किसी मामले में घी जैसा।

शिम्बीशाक (सेम)

शिम्बीशाक का अर्थ है विभिन्न प्रकार की फलियाँ। जैसे-बोड़ा, सेम, विभिन्न प्रकार के बीन्स, बरबटी इत्यादि। ये सभी पुष्टिकर खाद्य है-प्रोटीन से भरपूर। इनमें से सोयाबीन और अन्य किसी-किसी में गुण दूध से भी अधिक हैं।

सोयाबीनः

सोयाबीन एक प्रचुर स्नेहगुणयुक्त उत्तम खाद्य है। लेकिन इसमें है कुछ जंगली गंध। इसका आदि वास चीन और उत्तर-पूरब एशिया का प्रशांत महासागरीय अंचल है। वैज्ञानिक पद्धति से इसे de-odorised (दुर्गन्धहीन) बना सकने पर इसके जनप्रिय होने के पथ पर कोई बाधा नहीं रहेगी।

सोयाबीन से दूध के सारे उपादान और उपकरण प्राप्त होते हैं। इसलिए इससे दही, छेना, मक्खन, सोयाबीन तेल (घी का विकल्प) तो प्राप्त होते ही हैं, गुण में भी यह दूध से कुछ अधिक है, कम नहीं। दूध के छेने से सोयाबीन के छेने का पुष्टिमूल्य अधिक है। [सोयाबीन तेल छोड़कर इसके अन्य व्यवहार अभी भी भारत में जनप्रिय नहीं हुए हैं। जबकि साधारण लोगों को आसानी से प्राप्त पौष्टिक और प्रोटीन उपकरण के रूप में इसे जनप्रिय बनाना उचित

है। इसकी खेती भी कुछ कठिन नहीं हैं, अन्य दालों की खेती की तरह ही है। सोयाबीन को पहले की रात भिगोए रखकर, दूसरे दिन उसे पत्थर पर कुचल कर किसी भी तरकारी में डाल दिया जाता है (अथवा उसे पत्थर पर अच्छी तरह पीसकर, अन्य सामग्री मिलाकर बड़े तैयार करके तरकारी बनाने पर केवल उपादेय ही नहीं होगा, वह प्रोटीन गुण से समृद्ध एक बहुमूल्य खाद्य बनेगा]

बरवटी :

योगारूढ़ार्थ में' कृष्ण शिम्बी' का तात्पर्य बरवटी है। वर्तमान भारत की अधिकांश प्रजातियों के सेम प्राचीन काल में चीन से आए थे। बरवटी भी एक प्रजाति का सेम है। लेकिन अनेक लोगों के मतानुसार बरवटी इण्डिका ग्रुप का उद्भिद है-अर्थात् इसका आदि वास भारत है। साधारणतः सेम लगाने का समय बरसात है, फलने का समय है शीतकाल, लेकिन बरवटी इसका अपवाद है। इसलिए लगता है-जो लोग कहते हैं कि बरवटी

इण्डिका ग्रुप का उद्भिद है, उन्हीं की बात सही है। लेकिन सफेद रंग की अपेक्षा पतले आकार की बरवटियाँ सम्भवतः बाहर से आयी हैं।

बरवटी एक पुष्टिकर और शरीर के लिए शुभफलदायक सब्जी है। अधिक मात्रा में बरवटी खाने से आमाशय रोग हो सकता है। इसलिए बरवटी रोज नहीं खाकर बीच-बीच में एकाध दिन छोड़कर खाए। पकी बरवटी के दाने दाल के रूप में भी व्यहृत होते हैं। पकी बरवटी के दाने सफेद रंग के होते हैं किन्तु मुँह घने काले रंग का। संभवतः इसलिए इसे कृष्ण शिम्बी नाम दिया गया है। मुँह के पास काले रंग का होता है-इसलिए राढ़ में-विशेषकर वर्धमान अंचल में कच्ची बरवटी को बरवटी कहने पर भी पकी बरवटी के दाने को 'हनुमान कड़ाई' कहा जाता है। हनुमान कड़ाई (बोड़ा) राढ़ के किसी-किसी भाग में अतिप्रिय नाश्ता है। हमलोग बचपन में वर्धमान के गाँव में प्रायः ही फरुही के साथ सिद्ध हनुमान

कड़ाई खाया करते थे। सामान्य तौर पर बरवटी जितनी पुष्टिकर है, हनुमान कड़ाई का पुष्टिमूल्य उससे भी अधिक है। कच्ची बरवटी अवश्य ही विटामिन से समृद्ध है। बरवटी और हनुमान कड़ाई को उत्तर भारत में 'बोड़ा' कहा जाता है। बंगाल में भी कहीं-कहीं 'बोड़ा' कहा जाता है।

बिरि कलाय (दाल):

तुमलोग निश्चय ही जानते होगे कि संस्कृत भाषा में साधारण अर्थ में 'कलाय' का अर्थ किसी भी प्रकार की दाल है। कोलकाता में कथ्य भाषा में 'कड़ाइ' । 'कड़ाइ-भाजा' का अर्थ है कोई भी भूनी हुई दाल। राढ़ में भी कहीं-कहीं मूँग की दाल को मूँग-कलाइ, खेसारी की दाल को खेसारी-कलाइ कहा जाता है। कलाय शब्द विशेषार्थ में काले छिलके की बिरि कलाय (Black grain) के लिए व्यवहृत हुआ करता है। इस बिरि कलाइ को

कोलकाता अंचल में कहा जाता है 'बिउलीर डाल'-इसी के प्रकार भेद को बंगला में माष-कलाय कहते हैं। संस्कृत में कहते हैं 'माष' या माष कलाय। गोर्खाली भाषा में भी 'मार्ष' कहते हैं। पंजाबी में माष या माह कहा जाता है। बड़ी जाति की कलाइ को पंजाबी में राजमाष या राजमहा कहा जाता है। जितनी दालों में जितने गुण हैं केवल बिरि कलाइ में वे सारे हैं। उसके साथ ही सहज लभ्य दालों में यह सबसे पुष्टिकर है। बिरि कलाय आषाढ़ महीने में बोते हैं और आश्विन महीने में काटते हैं।

महुआ, माउल:

'गिरिज' शब्द का एक अर्थ है महुल या मउल (महुआ)। राढ़ में दोनों ही शब्द चलते हैं। संस्कृत मधुक/मधुल-ये दोनों भी चलते हैं। मधुल का अर्थ है जो मधुर है, और जिसने मधु को धारण कर रखा है-मधुल/महुल/मउल । "वाम हाथे जार कमलार फूल,

दाहिने मधुक माला"। राढ़ी बंगला में मउल शब्द व्यापक रूप से चलता है। फिर मधुक का अर्थ है छोटी एक मन को मतवाला करने वाली सत्ता-मधुक > महुअ > महुआ। महुआ को अंग्रेजी में Indian olive कहते हैं।

महुआ गाछ के बहुत सारे गुण हैं। राढ़ बंगाल के लोग महुआ लकड़ी को विभिन्न प्रकार से व्यवहार में लाते हैं। महुआ मधु से भरा होता है। महुआ फूल को सुखाकर उसे सिझाकर, रस निकालकर उस सिझाए महुए को थोड़ा सुखाकर (चूर्ण) करके उससे रोटियाँ बनती हैं। महुआ का रस अर्थात् मधु से तैयार होता है गुड़। बाज़ार में वह गुड़ बेचा जाता है। महुआ के फल को कहा जाता है मउल-कोचरा। यह पुष्टिकर अम्ल स्वादयुक्त मुख रोचक फल है। अनेक लोगों के लिए यह एक प्रिय फल है। महुआ-कोचरा के बीजों से महुआ तेल तैयार होता है। यह तेल देखने में और गुण में लगभग गाय के घी के बराबर होता है। लेकिन गन्ध को लोग

पसंद नहीं करते। औषधीय गुण में महुआ का तेल ऑलिव (जलपाई) तेल के समान उपयोगी है। यदि महुआ के तेल को निर्गन्ध (deodorised) बना लिया जाय तो वह हर तरह के गाय के घी से टक्कर ले सकता है। तब यह तेल हर तरह से गाय के घी के समान होगा-स्वाद में, गुण में, आकर्षण में, पौष्टिकता में।

टोमैटो (टमाटर):

लौकिक संस्कृत में 'कृमीलक' का अर्थ है टोमैटो। इस मौलिक अमेरिका जात सब्जी या फल को आदिनिवासी लोग इसकी जंगली गन्ध के कारण स्वयं नहीं खाते थे-पालतू पशुओं को खिलाते थे। इससे पशु भी हृष्ट-पुष्ट होते, दूध भी देते अधिक। यूरोपियनों ने अमेरिका जाकर इस सब्जी से परिचित होकर इसे मनुष्यों के खाद्य के रूप में ग्रहण किया। खाना शुरू किया लवण के साथ-साथ-फल के रूप में। इसी से तैयार हुए सॉस, मार्मलेड, जेली इत्यादि। इसके रस से तैयार की गई औषधियाँ भी। उन्होंने

पता लगाया कि इसमें कई महत्त्वपूर्ण खनिज लवण और मूल्यवान विटामिन हैं। [टोमैटो को कच्चे सलाद के रूप में या सूप के रूप में अथवा टोमैटो का रस नियमित रूप से खाना चाहिए, क्योंकि यह लीवर और प्रोस्टेट ग्लैण्ड की स्वास्थ्य रक्षा में सहायक है। कर्कट रोग या कैंसर के मामले में भी टोमैटो आहार और औषधि दोनों ही हैं।]

वैज्ञानिकों में अमेरिका की और एक मौलिक फसल-आलू का भी टोमैटो के साथ कलम करके 'पॉमेटों' नामक एक सब्जी का उत्पादन किया। किन्तु यह सब्जी जनप्रिय नहीं हो सकी। समुद्र-पार से आयी थी जिस कारण बंगला में शुरु-शुरु में नाम दिया गया था विलायती बैंगन, क्योंकि इसके बीज देखने में बहुत कुछ बैंगन जैसे थे।

साग (शाक):

लोग जितने सहज लभ्य खाद्य ग्रहण किया करते हैं, उनमें अन्यतम है साग। यह शब्द ही बतलाता है कि साग का अर्थ है वह जो शक्ति प्रदान करता है। तुम लोग जानते होगे कि अधिकांश साग में पर्याप्त मात्रा में लोहा रहता है जो रक्तवृद्धि में सहायक है। केवल साग खाकर भी जीवित रहा जा सकता है। लेकिन साग का पुष्टिमूल्य आयतन की तुलना में कम है। बंगला में 'शाक' शब्द बहुत सीमित अर्थों में चलता है। हमलोग साग से समझते हैं पालक साग, गन्धारी साग, शुशुनी साग इत्यादि। किन्तु असल में Cereal या मुख्य भोजन के पास जो कुछ भी पार्श्वभोज्य (रसोई के प्रकार या रेस्तराँ का मेनु है), सभी शाक के पर्याय में आते हैं। अर्थात् साग का अर्थ केवल 'साग' नहीं है, सभी प्रकार की साग-सब्जियाँ भी शाक हैं। अर्थात् जो वस्तुएँ मोटे तौर पर vegetable के पर्याय भुक्त हैं, संस्कृत में वे साग तो हैं ही, इसके अलावा अंग्रेजी में जो fruit या फल के पर्याय में आते हैं, संस्कृत में वे भी शाक के परिभू के अन्तर्गत है। जो जमीन के नीचे रहता है या कन्द के वर्ग में आता है, साग से वह भी समझा जाता है।

साग के कुछ श्रेणी-विभाजन

(1) कन्द शाकः

जो कन्द मनुष्य के आहार हैं, वे सभी कन्द शाक के अन्तर्गत आते हैं। जैसे-आलू, घुइयाँ, मानकच्चू, खामालू, अरारोट, शटी, मूली, गाजर, अदरक, हल्दी, आमादा, ओल, पानीफल-ये सभी कन्द शाक हैं। अलग-अलग कन्द शाक के अलग-अलग गुण हैं। इनमें से प्रायः सभी का रस लीवर के लिए अच्छा है। सभी भले ना हो, इनमें से बहुत अर्श रोग में उपकारी हैं। ये सभी कब्जियत (Constipation) को दूर करते हैं और मल की मात्रा बढ़ा देते हैं। इनमें से कुछ में पत्र शाक के गुण हैं, किसी में दोष भी हैं। जैसे आलू एक पौष्टिक खाद्य है। लेकिन अधिक मात्रा में खाना **लीवर के लिए क्षतिकर** है, **मधुमेह रोग में अपकारी** है। आलू के पत्ते पाक स्थली को दुर्बल बना देते हैं। कच्चू के साग

में मलवृद्धि को छोड़ और कोई गुण नहीं है, कहा जा सकता है। फिर भी पहले कौर में खाने से कुछ भूख को बढ़ाता है। अदरक का पत्ता उष्णवीर्य है अर्थात् रक्त को कुछ गर्म बना देता है। पेट अच्छा किन्तु रोगी कमजोर उनके लिए **अदरक** के पत्तों का रस कुछ उपकारी है। मूली का साग लीवर के लिए काफी अच्छा है। क्षुधा का भी उद्रेक करता है। **मूली** से भी अधिक गुण मूली के साग में है। ओल के पत्ते में भी कुछ औषधीय गुण है।

(2) पत्र शाकः

हमलोग साधारण बंगला में जिसे 'शाक' कहते हैं असल में उसका नाम पत्र शाक है। जैसे-पालक, गंधारी, पुदीना, बथुआ, पुनर्नवा, ब्राह्मी (भानकुनी), कलमी, मटर-साग, चना-साग, गिमा साग, हेलेन्चा, पोई, बन्दगोभी, लेटिस इत्यादि ।

मटर शाक: जितने भी प्रकार के पत्र शाक हैं, उसकी तालिका में यह पालक और बथुआ के करीब हैं। मटर शाक (संस्कृत में 'कलाय प्रपत्रम्')। मीठे स्वाद का यह साग कब्जियत की महौषधि है। स्नायु में भी मजबूती लाता है।

चना साग: चने का साग (चनक पत्रम्) कैल्शियम से समृद्ध और दन्त रोग और अस्थि रोग की दवा है। जिन शिशुओं के दाँत देर से निकलते हैं अथवा जो दुबले-पतले है, चना साग का सालन उनके लिए अमृततुल्य है।

पोई: वैदिक भाषा में पोई के लिए तीन शब्द चलते हैं- पोतकी, उत्पादक और अमृतवल्लरी। लौकिक संस्कृत में पोई को पुतिका, पोतकी, पोतिकी-तीन नामों से अभिहित किया जाता है। पोई का लार जैसा भाग शरीर का पोषण करता है और आयु को बढ़ाता है। पोई साग अत्यंत बलदायक है। अत्यधिक शक्ति का

आधार होने के कारण ही इसे अमृतवल्लरी कहा जाता है। पोई किसी के भी लिए अति मात्रा में न खाना अच्छा है। लाल पोई तामसिक गुणयुक्त है, इसलिए अभक्ष्य है।

पुष्प शाकः हमारे परिचित पुष्प सागों में विटामिन है, कुछ मात्रा में पुष्पमधु है, लीवर को स्वस्थ रखने का गुण है, अग्न्याशय को स्वस्थ रखने का गुण है। हमारे देश में जनप्रिय पुष्पसागों में अन्यतम हैं सहिजन-फूल, कोहड़ा-फूल, केले का फूल या मोचा, डूमर, फूलगोभी इत्यादि। [इसकी बातें भी विभिन्न प्रसंगो में वर्जित हैं।]

फल शाकः [इसकी भी चर्चा पहले यथा स्थान हो चुकी है।]

दण्डु शाकः [इसकी भी चर्चा पहले यथा स्थान हो चुकी है।]

सेम शाकः [इनकी भी चर्चा पहले इसी अध्याय में हो चुकी है। लगभग सभी प्रकार की दालें सेम शाक पर्यायभुक्त है।]

शस्य शाकः चावल, गेहूँ, जौ इत्यादि Cereal या मौलिक खाद्य इस शस्य-खाद्य के अन्तर्गत हैं। कतिपय पाश्चात्य देशों में मुख्य खाद्य मांस है, शाक गौण खाद्य है। बहुत लोग कहते हैं शस्य शाक परिमित मात्रा में खाने से हानि नहीं है। किन्तु मात्राधिक खाने से बहुत सारी व्याधियाँ होती हैं। अर्थात् भात अधिक न खाकर उस प्रकार का खाद्य (साग-सब्जी) खाना उचित है। लेकिन शरीर की रक्षा के लिए साधारण लोगों को खाद्य (शस्य-शाक) साग पर्याप्त मात्रा में खाना ही पड़ेगा।

दुग्ध (दूध):

दुह् + क्त = दुग्ध अर्थात् जो दोहन करके प्राप्त होता है, वही है दुग्ध। गाय हो चाहे ऊँट-बकरी-भैंस-भेड़ी हो, इनका दूध दोहन करके प्राप्त होता है। प्राचीन काल में जब गायों ने पोस नहीं माना था। तब उन लोगों ने सर्वप्रथम घोड़ों को पालतू बनाया था। घोड़ा द्रुतगामी पशु है। द्रुतगामी पशु दूध बहुत कम देते हैं। मनुष्य उन दिनों उसकी पीठ पर सवार होकर लड़ाई करने के लिए घोड़ा पालते थे।

लोग जब बैलों के सम्पर्क में आए तब उन्होंने बैलों की सहायता से खेती करना भी सीखा। बैल श्लथगामी पशु हैं। इसलिए गाय अधिक दूध देने लगी। 'पयस' शब्द का अर्थ तरल धारा है। इसी कारण प्राचीन वैदिक लोग जल को पयस कहते थे। दूध बहुत कुछ उसी प्रकार की चीज हैं। इसलिए दूध के लिए शुरु-शुरु में पयस या पोरस कहा करते थे। आज की संस्कृत में पयस का अर्थ

दूध, जल दोनों ही है। आज का बंगाल पयस्विनी तो है, लेकिन दूध से पयस्विनी नहीं है-बाढ़ के पानी से पयस्विनी है।

गोरस शब्द संस्कृत में है। भारत की प्राकृत भाषाओं में भी है। भोजपुरी भाषा में अच्छी तरह है। ट्रेन से आरा स्टेशन (बिहार) होकर आते समय पहले से लोगों को मालूम रहने पर स्टेशन पर अनेक लोग गिलास लोटे में भरकर दूध लिए हुए मिलने के लिए आते थे। उनके द्वारा लाए हुए खौलाए-मोटी मलाई युक्त गौरस (गौरस) को थोड़ा पीने के लिए मुझे वे लोग परेशान करने लगते थे। दीर्घ अतीत की वे बातें आज भी मेरे मन पर छाप छोड़ गयी हैं।

कहीं-कहीं दूध को गो-क्षीर भी कहा जाता है। संस्कृत में दूध का और एक जनप्रिय नाम हैं क्षीर। बंगला क्षीर का अर्थ है खोला करके गाढ़ा। बनाया हुआ का व्यवहार बहुत अधिक है।

पुराण की कहानी है कि विष्णु क्षीर सागर पर सोये हुए हैं। नहीं वैसा नहीं है। क्षीर समुद्र का अर्थ एक ध्यान मंत्र में है।

"दिव्य शंख तुषारभं क्षीरोदार्णव सम्भवम" ।। यहाँ क्षीरोदार्णव का अर्थ है दूध का समुद्र। बंगाल का क्षीर दो प्रकार का होता है-नरम क्षीर और खोवा क्षीर। पेटवा या थोड़ा उसी दो प्रकार का होता है-नरम क्षीर और खोवा क्षीर। पेटवा या थोड़ा उसी क्षीर से बनता है। पुलि पीठा में भी हमलोग उसी खोया क्षीर का पूर डालते हैं।

गाय पोसने के बाद ही दुग्ध-दोहन लोगों ने सीखा। पुरुष बड़े-बड़े भारी-भारी काम करते, दुग्ध-दोहन का काम महिलाएँ करतीं। दुहितृ शब्द के प्रथमा के एकवचन में दुहिता का अर्थ दुग्ध दुहिता-दोहन कारिणी है।

लोगों ने गाय के सम्पर्क में आने के प्रायः साथ ही साथ दूध के गुणों को जाना था। एक खाद्य में यदि सर्वाधिक खाद्यगुणों की जरूरत हो तो वह दूध में ही मिलेगा। गाय के दूध के बाद लोग भैंस के दूध के सम्पर्क में आए। ऊँटनी, भेड़ी के सम्पर्क में आकर सभी का दूध पीकर लोगों ने समझा कि गाय के दूध में जो गुण है, भैंस के दूध में भी वह है-बल्कि उस से डेढ़ गुना अधिक परिमाण में हैं। स्नेहजातीय पदार्थ भैंस के दूध में ही सवा गुना अधिक रहता है। इसी कारण भैंस का दूध सोलह से चालीस वर्ष के लोगों के लिए ठीक है। उससे कम या अधिक उम्र के लोगों के लिए ठीक नहीं है। बिहार में जहाँ भैंस का दूध अधिक मात्रा में पाया जाता है, वहाँ भी शिशुओं को, वृद्धों को गाय का दूध पिलाना पड़ता है। भेड़ी के दूध में स्नेहजातीय पदार्थ कम रहता है। इसलिए पुष्टि में सोलहों आना सहायता नहीं करता। उँटनी के दूध में, बकरी के दूध में स्नेहजातीय पदार्थ नहीं के बराबर होता है। इसलिए उसमें पौष्टिकता भी कम होती है। गधी के दूध को लगभग मानवी के दूध के बराबर माना जाता है। इसलिए मातृहीन छोटे शिशु के लिए

गधी का दूध उपयुक्त होने पर भी दो वर्ष से अधिक उम्र के शिशु के लिए गधी का दूध कम पुष्टिदायक है।

भैंस का घी अधिक मात्रा में खाने पर पेट खराब की, आमाशय होने की संभावना रहती है। लेकिन गाय के दूध की घी साधारणतः हानि नहीं करता। इसलिए अरवा चावल के नियमित व्यवहार में जो कब्जियत हो सकती है उससे बचने के लिए प्राचीनकाल में अरवा खानेवाले लोग आतप ओदन (अरवा चावल) के साथ गाय का घी खाया करते थे।

दूध में-विशेषकर गाय के दूध में यह जीवनी शक्ति प्रदान करने की क्षमता है जिस कारण और साथ ही रोगमुक्ति का गुण रहने के कारण उसका एक नाम 'गदाह्व' है।

घृत (घी):

दूध का मंथन करके जो नवनीत या मक्खन (Cream) प्राप्त होता है अथवा दूध की मलाई या दही की मलाई का मंथन करके जो नवनीत या मक्खन अथवा दूध की मलाई या दही की मलाई का मंथन करके जो नवनीत या मक्खन (butter) प्राप्त होता है, उसे एकबार गर्म करके गलाने पर बनता है कच्चा घी या butter। इस कच्चे घी में जलीय भाग बहुत अधिक रहता है, स्वाद में वैसा अच्छा नहीं होता है। यह जमा हुआ कच्चा घी देखने में बहुत कुछ जाड़े के शिरों में जमे हुए नारियल तेल जैसा होता है। इस कच्चे घी से कुछ तलने पर वस्तु में वैसा स्वाद नहीं आता, गंध भी वैसी नहीं रहती। और कोई चीज तलने में कच्चे घी का खर्च भी बहुत अधिक होता है। पके घी की गंध अच्छी होती है, दाने बँधते हैं, जमने पर भी दूर से थोड़ा पीताभ सा लगता हैं। पकाने में व्यवहार करने पर सुगंध-स्वाद दोनों आते हैं। कुछ गुरुपाक होते हुए भी इसका गुण कच्चे घी की तुलना में बहुत

अधिक होता है। गर्म करके घी तैयार हो जाने पर उस घी को छानकर, छानने के समय प्राप्त बाहरी तत्त्व को कहते हैं 'खाँकारी'। वर्द्धमान के गाँवो में इस बाहरी तत्व को कहते हैं 'खाँकारी'। हमलोग बचपन में खाँकारी के साथ फरुही खाया करते थे।

भैंस के दूध में मक्खन की मात्रा बहुत अधिक (सवा गुना से भी अधिक) होती है। मक्खन में घी की तुलना में केवल पानी ही अधिक होता है ऐसी बात नहीं, कुछ बाहरी तत्त्व भी (Foreign element) रहते हैं। भैंस के दूध के घी के समान मूल्य होते हुए भी स्वाद - गंध में गाय का घी श्रेष्ठ होने के कारण उसका मूल्य और माँग अधिक है। लेकिन दही का मामला उल्टा है। गो-दही की अपेक्षा भैंस का दही सभी दृष्टिकोण से अच्छा है। गो-दही में हल्की लाली रहती है जो भैंस के दही में नहीं रहती।

भक्ष्य-अभक्ष्य

सूचीपत्र

लहसुनः

तुमलोगों ने लहसुन का नाम जरूर सुना होगा। यह शब्द रसुन (लहसुन) नहीं है रसोन है। रस+उन; तिक्त, कटु, कषाय, लवण, अम्ल, मधुर ये छः प्रकार के खाद्य रस हैं। तामसिक खाद्य होते हुए भी लहसुन में छः रसों में से पाँच रस हैं-नहीं है केवल अम्ल रस। इसलिए अम्ल रस के साथ लहसुन के मिश्रित होने पर उससे एक ही में सभी छः आ जाते हैं; उन का अर्थ है कम, जिसमें एक कम है- वह है रसोन। उत्तर भारत मे रसोन को 'लहसुन' कहा जाता है।

लहसुन एक दुर्गंध युक्त तामसिक वस्तु है। मनुष्य का शरीर उसे ग्रहण करना नहीं चाहता क्योंकि यह तामासिक वस्तु मनुष्य का भोज्य नहीं है। भोजन के बाद शरीर में कुछ देर रहकर विरूप-

प्रतिक्रिया करके मल, मूत्र और पसीने के मध्यम से लहसुन शरीर से निर्गत होता है। लहसुन के खाने के बाद शरीर उसे बाहर निकाल देने के लिए जोर लगाता रहता है। रस, रक्त, शुक्र, चर्म, मल-मूत्र के माध्यम से शरीर इसीलिए इसे शीघ्र निकाल देता है। शरीर धातु श्वॉस-प्रश्वास के माध्यम से लहसुन के जलीय भाग को और दुर्गंध को शरीर से बाहर कर देता है। रक्त के माध्यम से भी लहसुन के रस-गंध विस्तार, प्राप्त करते हैं और मांस-मज्जा-मेद में परिणत होता है। अंत में रोग के माध्यम से वह क्षय को प्राप्त होता है।

लहसुन के रस और दुर्गंध को बाहर निकालने का अन्यतम उपाय है-रोमकूपों के माध्यम से निकलनेवाला पसीना। लहसुन खानेवालों को प्रचुर मात्रा में पसीना निकलता है। पसीना 45 मिनट से अधिक देर तक किसी जगह जमा रहने पर वह सड़ने लगता है। इसलिए लहसुन खानेवालों के शरीर से अति मात्रा में दुर्गंध

निकलती है जो किसी भी दुर्गंधयुक्त प्राणी की अपेक्षा असहनीय है। इसलिए लहसुन खानेवालों के पास कोई बैठना नहीं चाहता।

हाँ, भला के साथ बुरा भी तो मिला हुआ रहता ही है। पृथ्वी पर कुछ भी अविमिश्र नहीं होता। अनेक दोष रहते हुए भी लहसुन परोक्षरूप से एक उपकार करता है। कुछ रोग शरीर में जमे रहते हैं, फूटकर निकलना नहीं चाहते हैं। उस अवस्था में लहसुन खाने से पसीने के माध्यम से, यहाँ तक, कि कुछ दुरारोग्य व्याधियों का भी कुछ अंश बाहर निकल जाता है। लेकिन अपकार की मात्रा उपकार की मात्रा को व्यापक तौरपर और विपुलरूप से ढँक लेती है। लहसुन एकसाथ अधिक मात्रा में निकलता है मूत्र के माध्यम से। लहसुनभोजी का मूत्र अत्यधिक दुर्गंधयुक्त होता है। इसलिए अनेक इतर श्रेणी के जीवजन्तु भी लहसुनभोजी के मूत्र के आसपास नहीं फटकते। मूत्र में अति मात्रा में दुर्गंध रहने के कारण लहसुनभोजियों को शारीरिक संयम भी कम रहता है।

अति लहसुनभोजी को चर्मरोग होगा ही। शुक्र (lymph) लहसुन के प्रभाव से छिन्न-विछिन्न हो जाता है। अति लहसुन भोजियों की सन्तानें अल्पबुद्धि सम्पन्न्न और कदाकार हुआ करती हैं।

मन के ऊपर लहुसन का प्रभाव काफी क्षतिकर होता है। जो लोग सात्विक भोजन के पक्षपाती हैं, वे लहसुन को और उसी कारण प्याज का भी वर्जन करके चलते हैं। दुर्गन्धयुक्त तामसिक वस्तु होते हुए भी जो लोग भोजन पकाने में लहसुन के पक्षपाती हैं, उनके लिए यह गंध संभवतः स्वर्गीय सुख प्रदान करती है।

पुआल छत्रकः

तुममें से बहुत लोगों ने निश्चय ही पुआल छत्रक (कुकुरमुत्ता) देखा होगा-बहुत ने खाया भी होगा। राढ़ में यह एक जनप्रिय खाद्य है। पुआल छत्रक को कहीं-कहीं भूईफोड़ भी कहा जाता है। अंग्रेजी में कहा जाता है mushroom I ग्रीष्म-प्रधान-शीतप्रधान सहित विश्व के प्रायः सभी देशों में यह छत्रक वर्गीय मांस के विकल्प के रूप में व्यवहार की जाती है। संस्कृत में इसका आहार नाम 'कवक' हैं। यह निरामिष होते हुए भी मांस-गुणसम्पत्र है। इसलिए सात्विक आहार जो लोग करते हैं- उनके लिए इसे खाना निषिद्ध है। पकाने पर स्वाद भी मांस जैसा होता है। पृथ्वी पर कहीं-कहीं बिना जाने ही इस चीज को मांस के विकल्प के रूप में व्यवहार किया जाता है।

लकड़ी, पुआल, कुछ सड़े हुए उद्भिदों के ऊपर यह अपने आप उगता है। सभी छत्रकों का स्वभाव यही है। ये पुआल पर उगते हैं इसलिए इन्हें पुआल छत्रक कहते हैं। विचाली (अनाज के

पौधे) बड़े होकर, पककर सूख जाते है तब उसे बीच-बीच में थोड़ा खाली रखकर बिछाकर सड़ने दिया जाता है। तब उसी के ऊपर ये छत्रक या कवक उगते हैं। उसे कहते हैं पुआल छत्रक। गोबर के सड़ने से उस पर ये छत्रक उगते हैं। उसे गोबर छत्रक कहते हैं। गोबर छत्रक अभक्ष्य है। कुछ जहरीली चीजों के ऊपर ये छत्रक उगते हैं। वह छत्रक भी अभक्ष्य है। मानव शरीर में उसकी विषक्रिया होती है। जो छत्रक कमजोर और छोटे होते हैं अंगुलियों से पकड़ते ही गल जाते हैं, वे भी अभक्ष्य हैं। कथ्य बंगला में कहते हैं 'बेंगेर छातु' । हाथ-पैरों में इसके अधिक लगने से गरल घाव (eczema) होने की संभावना रहती है। आश्विन में दुर्गापूजा के प्राक्काल में आधे सड़े उद्भिदों के ऊपर जो विशेष प्रकार के छत्रक देखे जाते हैं, वर्द्धमान के गाँवों में उन्हें 'दुर्गा छातु' कहते हैं। दुर्गा छातु (कवक) कुछ लोग खाते हैं; कुछ नहीं खाते हैं। जो खाते हैं वे थोड़े इमली-जल में सिझाकर पानी को फेंक देते हैं और उसे पकाते हैं और पकाते के समय झाल (कडुवा) कुछ अधिक डालते हैं। बरसात के

अंत में दीमकों के टीले पर जो कवक उगते हैं, हुगली-वर्द्धमान में उसे 'रुई छातु' कहा जाता है।

हाँ, अन्त में फिर कह देता हूँ छत्रक जातीय सभी खाद्य (कवक, पुआल छत्रक) खाद्य के रूप में पुष्टिकर होते हुए भी, हर तरह से मांस के गुण-सम्पन्न और मांस के दोषसम्पन्न हैं। इसलिए जो सात्त्विक आहार लेना चाहते हैं या सत्त्वगुण का अनुधावन करना चाहते हैं, उनके लिए कवक या पुआल छत्रक नहीं खाना ही अच्छा है। यदि किसी गृहस्थ को कवक के प्रति अत्यधिक आकर्षण हो, तो दिन के समय आकाश में जबतक सूरज हो, कवक खा सकते हैं। सूर्यास्त के बाद कभी भी नहीं खायेंगे। सूर्यास्त के बाद कवक खाने से गलित कुष्ठ होता है-प्राचीनकाल में आयुर्वेद के ऋषियों की यही धारणा थी।

सरसो साग :

साधारण तौर पर व्यवहृत पत्र सागों में से सरसों साग दस्तावर है-जिसे खाने से वायु ऊपर की ओर उठती है, उसके बाद पेट, छाती-गले में थोड़ी बहुत जलन का अनुभव होता है। जबकि सरसों साग के साथ निकट रूप सें सम्बन्धित मूलक पत्र या मूली साग स्वास्थ्य के लिए एक बहुत अच्छी चीज है। इसलिए सरसों साग का व्यवहार न करना ही अच्छा है।

[परिमित मात्रा में सरसों के बीजों से तैयार सरसों तेल भोजन पकाने के काम में व्यवहृत होने पर वह सात्विक है। लेकिन सरसों साग तामसिक है। इसलिए उसका वर्जन करना उचित है। उसी प्रकार तामसिक है सफेद बैगन, खेसारी की दाल, लाल पोई साग, पोई साग।]

खाद्याखाद्य विचार :

(प्रत्येक जीव को) धरित्री के प्रपंच से अन्न-रस (भोजन सामग्री) का संग्रह होता है। इस आहृति के द्वारा ही अन्नमय कोष (देह) संरक्षित होता है। पेड़-पौधे, लता-गुल्म, पशु-पक्षी अपनी रुचि और अपने संस्कारों के अनुसार जो कुछ भी क्यों न खाएँ, सभी में है जीवपंकीय सत्ता। इस जीव पंकीय घर के समान से बहु विचित्र अन्नमय कौशिक सत्ता जीव के साथ है। उनके गुण कर्मों की विस्तृति के अनुसार सीढ़ी दर सीढ़ी प्रतिपालित है। खाद्य ग्रहण करना चाहिए अवश्य ही जीवपंकीय सत्ता से (from protoplasmic cells - animal or vegetation)। जिस प्रकार की जीवपंकीय सत्ता तुम्हारे आहार में आहरित हो रही है, उन्हीं के समाहार से तुम्हारी जीव पंकीय सत्ता संरचित होती जा रही है। इसलिए- 'गोपाल बड़ा सुबोध है। वह जो मिले वही खाता है, और जो पाता है वही पहनता है'- कहने से नहीं चलेगा। खायेंगे विचार करके। पहनेंगे भी उसी प्रकार विचार करके। अपनी पसन्द और रुचि के साथ ही सामाजिक दृष्टिकोण का ध्यान रखकर जिस प्रकार पहनेंगे, खायेंगे भी, उसी प्रकार उन्हीं सत्ताओं में से चुनकर जो

जैविक-मानवीय सत्ता को प्रोज्वल बना दे, अधिरोहण के हर स्तर पर (उसे) भास्वर से भास्वरतर बना दे। 'सूअर क्या नहीं खाता'- यह बात सूअर के लिए कहने पर भी मनुष्य के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। मनुष्य सभी कुछ नहीं खाता - वह पहचानकर चुनकर खाता है।

यह अन्नमय कोष जीव का स्थूलतम विषय है या कर्म वैपरीत्य है, उसके भी ऊपर है काममय कोष और एक सूक्ष्मतर आधार है मनोमय कोष। (इससे) उन्नततर है अंतिमानस कोष। इससे भी उन्नततर है विज्ञानमय कोष और भी उन्नततर है हिरण्मय कोष। [इसी रूप में अन्नमय कोष सहित प्रत्येक कोष परस्पर सम्पर्कित है] इस प्रकार देखते हो कि उपयुक्त खाद्य के द्वारा अन्नमय कोष का भीतरी भाग चमकदार, चटकदार, परिष्कृत और साफ-सुथरा रहता है.... और विभिन्न वस्तुओं की सहायता से,

वाह्य प्रक्रिया के द्वारा शरीर का बाहरी भाग भी चमकदार चटकदार रहता है।

(कलिकाता, 21.12.86)

तृणभोजी जीव, मांसाहारी जीव, मनुष्य :

तुमलोग जानते हो कि जीव जन्तु मुख्यतः तृणभोजी (graminivorous) और मांसभोजी (Carnivorous) इन दो शाखाओं में विभाजित हैं। तृणभोजियों के दाँत होते हैं मोती जैसे चमकदार सफेद और सजे हुए। जो मांसभोजी जीव हैं, उनके दाँत होते हैं नुकीले, थोड़े पीले अथवा लाली युक्त पीले। मुँह में दोनों बगल रहते हैं मांस काटने के कर्त्तन दन्त (Canine teeth)। तृणभोजी जीवों में से जो प्राचीनकाल में अनिश्चित अवस्था में निवास करते थे, अर्थात् कभी खाद्य मिलता, कभी नहीं मिलता उनमें से जेबू और बाइसन वर्गीय जीवों की पाकस्थली के

परिशिष्टांग में खाद्य मौजूद रखने की एक व्यवस्था रहती थी। यह व्यवस्था वानरों में, मनुष्यों में, बकरियों में पूरी मात्रा में थी। गाय, भैंसों में तो थी ही, आज भी है। जीवन जितना निश्चित होने लगता है, उतना ही उनके इस परिशिष्टांग का प्रयोजन समाप्त होता रहता है। जिस प्रकार समारत होता जा रहा है मनुष्य का, वानर का और अन्यान्य जीवजन्तुओं का। इस परिशिष्टांग या appendix से खाली समय में कुछ खाद्य निकालकर जीव उसे लार की सहायता से पाचन के उपयोगी बना लेते हैं (मनुष्य के मामले में इसका प्रयोजन न रहने के कारण वह यज्ञ डूमर जैसे आकार में छोटी आँत और बड़ी आँत के संयोगस्थल पर अव्यवहृत अवस्था में रहता है)। यह मांस तेजी से सड़ जाता है और अधिकतर दुर्गंधयुक्त होता है, उससे जुगाली नहीं की जा सकती। मनुष्य (मौलिक रूप से) अन्तरपरिशिष्टांगयुक्त निरामिषभोजी जीव है [मनुष्य के कर्तनदन्त भी नहीं होते। इसलिए मांसाहार उसके शरीर में एपेण्डिसाइटिस रोग को बुला ला सकता है और बुला लाता भी है। मांस भक्षण

मनुष्य के लिए अप्राकृतिक व्यवस्था है, जिसका फल अच्छा नहीं होता।

अत्याधिक आमिष भोजन : जो लोग अत्यधिक मांस या तामसिक भोज्य खाते हैं उनका मल नेड्य (न+ईञ्च) नाम से जाना जाता है। इस नेड्य से बंगला में 'न्याड़' शब्द आया है। जिनका मल साधारणतः नेड्य पर्याय में आता है, वे कभी अधिक गुरुपाक भोजन करने पर सहज ही मलबद्धता रोग से आक्रान्त होते हैं। अन्य लोगों की तुलना में उन्हें अर्श, भगंदर रोगों का प्रकोप अधिक होता है। अत्यधिक आमिषभोजी लोग मलत्याग के समय यदि अत्यधिक कूँथ दें तो उसके फलस्वरुप उनके अण्डकोष की शिराएँ स्फीत होकर कोषवृद्धि या एकशिरा रोग हुआ करता है। निरामिषभोजी लोगों को एकशिरा या कोषवृद्धि होती हैं यदि खड़े होकर स्नान करना उनके स्वभाव में परिणत हो जाय। ईलीस मछली, शार्क इत्यादि अत्यधिक सड़े मांसप्रिय मछलियाँ

कोष्ठबद्धता व्याधि से मृत्यु के मुख में पतित होती हैं और अत्यधिक आमिष भोजन और साथ ही अति मात्रा में कोष्ठबद्धता के कारण इनके मांस में अर्थात् ईलीस मछली और शार्क के मांस और तेल में अत्यधिक मात्रा में दुर्गंध रहती है। इसलिए ईलीस मछली खाकर व्यक्ति जिस गिलास से पानी पीता है, वह गिलास जिस चिथड़े से साफ किया जाता है, उस चिथड़े से अन्य गिलास साफ करने पर, उस गिलास से पानी पीने के समय ईलीस की सड़ी दुर्गंध नाक के पास दौड़ी आती है। रोगग्रस्त पशु या पक्षी का मांस खाने में भी विपत्ति दिखायी पड़ती है। ऐसे तो सामान्यतया पशु-पक्षियों का मांस खाने से लोगों के शरीर में नाना प्रकार की जटिलताएँ आ जाती हैं। रोगग्रस्त पशु-पक्षियों का मांस उस जटिलता को और बढ़ा देता है। इसलिए जो लोग अतिलोभ के कारण मांस-भक्षण से विरत रहने में असमर्थ हैं, उनके लिए उचित है कि कसाईखाना में (Slaughterhouse) जिस पशु या पक्षी का वध किया जाता है, हत्या के पूर्व उस पशु का स्वास्थ्य अच्छी तरह जाँच करके देख लिया जाना चाहिए, वैसे मामले में देख

लिया जाय कि सूचिकाभरण से जिस पशु की मृत्यु हुई, वह विषवाहक है या नहीं क्योंकि वह विष मनुष्य के शरीर में संक्रमित हो सकता है। [आमिष भोजन का दोष दूर करने के लिए भोजनान्त में जौंगी हर्रे (चार भाग में एक भाग) मुखशुद्धि के रूप में खाने पर उपकार मिलता है।]

झींगा: बहुत लोग झींगा को गलती से मछली कहा करते हैं। मछली के साथ झींगा का कोई सम्बन्ध नहीं है। झींगा एक जलज कीट है। सड़े पानी में इनकी संख्यावृद्धि होती है। राढ़ के किसी-किसी अंचल में और अवशिष्ट बंगाल में कहीं-कहीं इसे इंचा मछली कहा जाता है। अंग्रेजी में lobster कहा जाता है। यह दुष्पाच्य है और खानेवाले को कई उपसर्ग भोगने पड़ते हैं। उनकी एक प्रजाति समुद्री लाल झींगा है। तुमलोग दीघा से बाखरगंज सीमान्त के सरणखोला तक के स्थान के समुद्र में यह लाल झींगा देख सकोगे। इस लाल झींगा को. खाकर अनेक लोग तापस्फोट

रोग (allergy) से ग्रस्त होते हैं। इसलिए बहुत लोग इस लाल झींगा को नहीं खाते।

(कलिकाता 7.12.89)

भ्रूणवर्जित अंडा : स्तनपायी जीवों में भ्रूणोत्पत्ति के पूर्व मातृगर्भ में डिम्ब (ovan) स्पष्ट होता है। स्वाभाविक अवस्था में यह डिम्ब प्रसूत नहीं होता, प्रसूत होता है भ्रूणावस्था में अंडज प्राणियों के जगत् में, विशेषकर पक्षी-जगत् में लेकिन इसका अपवाद है। उनमें भ्रूणवर्जित डिम्ब प्रसूत होता है। विशेषकर कई प्रजातियों के हंस प्रायः ही इस प्रकार के भ्रूणवजित डिम्ब प्रसूत होता है। विशेषकर कई प्रजातियों के हंसों द्वारा प्रायः ही इस प्रकार के भ्रूणवर्जित अंडे देने पर उनसे संतानोत्पत्ति नहीं होती। साधारणतः ऐसे अंडे सड़कर नष्ट होने में कुछ अधिक समय लेते हैं। जिन्हें अंडे के प्रति दुर्बलता है और वे भ्रूण हत्या करना नहीं चाहते, उनमें से बहुत लोग इस प्रकार का अभ्रूण अंडा खाने के

पक्षधर हैं। कहते हैं-इससे तो भ्रूण हत्या नहीं हुई यह सही है। किन्तु इस प्रकार के अंडे में अवश्य ही आमिष भक्षण के दोष निहित रहते हैं।

(कलिकाता, 8.9.85)

नशा का दुष्प्रभाव:

नशा के त्रिदोष : नशे की चीज हम लोग उसे कहते हैं जिसके तीन लक्षण हैं- (1) नियमित समय पर नशे की चीज न मिलने पर मन कुलबुलाने लगता है, किसी काम में मन नहीं लगता। (2) नशे का जोर जबतक रहता है तबतक वह बुद्धिभ्रष्ट अवस्था में रहता है और स्थायी रूप से नशा करते रहने पर बुद्धिभ्रष्टता स्थायी हो जाती है। (3) नशे का तृतीय दोष है यकृत,

कंठ, किडनी अवश्य ही उससे आकान्त होते हैं। अधिकांश क्षेत्रों में कोष्ठबद्धता रोग भी देखा जाता है।

हर नशा खराब है, लेकिन मदिरा, अफीम, गाँजा (Canabis Indica) अत्यन्त खराब हैं। गाँजे का दम लेते समय आँखे कोटरों में घुस जाती हैं। गले के बीच का भाग इतना ऊँचा हो जाता है कि लगता है जैसे कि माउण्ट एवरेस्ट को भी चैलेंज कर रहा हो। नशाग्रस्त अवस्था में साधारण बुद्धि भी काम नहीं करती। उद्भट कल्पनाएँ उसके मन को सोलहों आने अपने ग्रास में ले लेती हैं।

(कलिकत्ता 07.02.88)

मदिरा के कुफल:

बहुत पुराने जमाने में लोगों ने जब मदिरा का व्यवहार शुरु किया था, जैसे तैयार एक विशेष प्रकार की से किण्वित मदिरा जिसमें सोमलता का अर्क मिलाया रहता था। तब वह मदिरा योद्धाओं को चुवाई हुई (distilled wine) मदिरा नहीं थी; वह (fermented) मदिरा किण्वित। वैदिक युग के द्वितीयाँश में आर्यों ने मदिरा की चुआई सीखी। योद्धाओं को रणोन्मत करके रखने के लिए युद्धकाल में सर्वप्रथम चुआई की हुई मदिरा का व्यवहार करना शुरु हुआ था। (स्थानीय अधिवासियों के बीच) मद्य के दोषों को जानकर (परवर्तीकाल) ज्ञानियों ने समाज में मद्यपान को निषिद्ध कर दिया (केवल युद्धकाल में क्षत्रियों को छोड़कर)।

मदिरा एक ऐसी खतरनाक चीज है कि कुछ दिन पान करने के बाद कोई भी व्यक्ति पीने का आदी हो उठता है।

मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पदा है- उसकी बौद्धिकता, उसका वैदुष्य। मदिरा इस बुद्धि-वैदुष्य को नष्ट कर देती है। उससे दूर रहना ही मनुष्य के लिए सर्वतोभावेन उचित है। मदिरा एक अति उत्तेजक वस्तु है। कोई यदि अत्यधिक परिमाण में मदिरा निगल ले, तो उसका यकृत जख्मी हो जाता है।

हमारे देश की सबसे सस्ती मदिरा धानी मदिरा है। धानी मदिरा ने बंगाल के ग्रामीण जीवन को काफी क्षति पहुँचायी है। आदिवासी और अनुन्नत समाज के लोग इस धानी मदिरा के नशे से ही कई बार बर्बाद हो जाते हैं, घर में झगड़ा-झंझट करते हैं, पारिवारिक शान्ति नष्ट करते हैं। अंततोगत्वा स्वयं भी बेकार बैठ जाते हैं। इसलिए मदिरा तैयार करने या मद्यपान पर केवल राष्ट्रीय नियन्त्रण से ही काम नहीं चलेगा कठोर नियन्त्रण समाज का भो प्रयोजन है। राष्ट्र और समाज को एक दूसरे से हाथ मिलाकर काम करना होगा। जिस छात्र के अन्दर जितना भविष्य छुपा हुआ था,

मद्यपान से उसमें बीस प्रतिशत के लगभग नष्ट हो जाता है। अति चांचल्य के परिणामस्वरूप ही जड़ता आती है, कम उम्र में पौरुष, तेजस्विता कम हो जाती है। स्नायुकोषों (brain) को पूरापूरी काम में लगाया नहीं जा सकता।

धर्म के नाम पर हो अथवा अन्य किसी बहाने से हो, मद्य का व्यवहार सीमित होना चाहिए। औषधार्थ चिकित्सा को छोड़कर और चिकित्सक की अनुमति के बिना किसी को मद्यपान करना उचित नहीं है। चिकित्सक को भी उचित है कि अन्य किसी (वरिष्ठ) चिकित्सक की लिखितं अनुमति के आधार पर काम करना। पूजा के अंग के रूप में जो लोग मद्य का व्यवहार करते हैं, उनसे भी अनुरोध करूँगा कि अन्य कोई स्वीकृत वैकल्पिक व्यवस्था यदि हो तो वे उसका आश्रय लें। जैसे काँसे की कटोरी में पके नारियल का पानी बहुत देर तक रखकर बाद में उसका व्यवहार करना। मनुष्य साधना करता है बुद्धि को, बोधि को

प्रखरतर बनाने के लिए, व्याप्ति घटित कराने के लिए मदिरा इनका ध्वंस कर डालती है। इसलिए मदिरा मनुष्य की सर्वविध उन्नति के विपरीत है। मदिरा का एक भाग शरीर के अंदर के स्नायुकोषों, स्नायुतन्तुओं और ग्रंथियों-उपग्रंथियों को क्षतिग्रस्त करने के काम करता है, एक भाग पसीने के साथ निकल जाता है, एक भाग मल के साथ निकलता है और अवशिष्ट भाग पेशाब के साथ वहिर्गत होता है। स्टार्च जातीय कोई भी वस्तु विशेष परिवेश और विशेष परिस्थिति में किण्वित हो जाने पर वह किण्वित (fermented) मदिरा में बदल जाती है जैसे ताड़ का रस, खजूर का रस किण्वित होकर ताड़ी बनती है। बासी भात भी विशेष परिस्थिति में किण्वित हो जाने पर मदिरा बनता है और वह चुआई धानी मदिरा अफीम, गाँजा व भाँग के कुफल बनता है।

मादक द्रव्यों में कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो स्नायुकोषों को शिथिल कर देती हैं और दीर्घकाल तक इस शिथिलता का क्रम

जारी रहने से अंत में स्नायुकोष निष्क्रिय हो जाते हैं। स्नायु फिर काम नहीं करती.. तब वह विह्वल दृष्टि से चकित होकर देखता रहता है। सोचने की प्रखरता तो रहती ही नहीं, सोचने की क्षमता भी समाप्त हो जाती है। ऐसी घटना घटती है दीर्घकाल तक अत्यधिक मात्रा में भांग, गांजा, अफीम, चरस और चंडूखाने पर। (मार्फिन) मर्फिया जन्य घटित वस्तुओं में यह जघन्य गुण है। स्नायुकोष जिसमें रोगग्रस्त न हों, इसीलिए गाँजाखोर और अफीमची लोग अधिक मात्रा में दुग्धपान किया करते हैं। फिर भी संभालना मुश्किल होता है। अंततोगत्वा व्यक्ति जड़ बन जाता है। मद्यपान से व्यक्ति जड़ नहीं होता अत्यधिक उत्तेजना जगती है। मदिरा एक अति उत्तेजक वस्तु है। अफीम, गाँजा, चंडू, चरस-ये उत्तेजना के बदले अवसन्नता लाते हैं। यह शिथिलता अंततोगत्वा व्यक्ति को जड़त्व में पर्यवसित करती है। एक गलत धारणा है कि अफीम खाने से शायद पेट के रोग दूर होते हैं। यह बात सफेद झूठ है। अफीमखोर नशे की खुमारी में सोचता है कि इससे शायद उसकी पेट की बीमारी ठीक हो रही है। अफीम से रोग दूर होता है,

यह केवल एक मानसिक कल्पना मात्र है। अफीम के नशे की अपेक्षा शिथिलता प्राप्त करने की चाह ही नशा है। इस प्रकार अफीम (opium) नष्ट कर देती है कर्मशक्ति को। व्यक्ति तब बैठे-बैठे झूमना पसन्द करता है। भाँग (hemp) नष्ट कर देती है बुद्धि और बोधिशक्ति को। इसलिए इनमें से कोई भी चीज अच्छी नहीं है। एक समय इस अफीम से ग्रस्त होकर चीन नष्ट हो चला था..... एक समय अफीम के नशे में असम भी बर्बाद हो चला था। इसलिए अफीम के नशे से सावधान रहना आवश्यक है।

अफीम का विष साँप के विष जैसा ही हानिकारक है। साँप के विष से एलोपैथी, होमियोपैथी और आयुर्वेद की औषधियाँ तैयार होती है। उसी प्रकार अफीम से मार्फिन या मार्फिन के इंजेक्शन भी तैयार होते हैं, औषधियाँ तैयार होती हैं, इसीलिए नशे के झोंक में रहने की आशा से कोई मार्फिया का इंजेक्शन ले, इसका तो समर्थन नहीं किया जा सकता। अहिफेन का अर्थ है साँप

का फेन -दाफेना (विष)। अहिफेन से अहिफाम शब्द आया है और अहिफाम से अंग्रेजी (opium) शब्द आया है। ओपियम पॉपी की ढ़ेढ़ी को चीर देने, उससे रस या गोंद निकलता है। वही कच्ची अफीम है। कच्ची अफीम-शोधनागार (opium refinary) में लाकर (मूलतः) औषधि के लिए शोधित किया जाता है।

धूम्रपानः धूम्रपान का कुफल तम्बाकू के निकोटिन-विष की कार्यप्रणाली बहुत कुछ मदिरा जैसी ही है। वह भी शरीर को क्षति पहुँचाकर शरीर से निकलता है। इसलिए उस प्रकार के नशाग्रस्त लोगों के मल-मूत्र-पसीना नशे की वस्तु की दुर्गंध से दूषित होते हैं। कोई मद्यप या निकोटिन-विष व्यवहारकारी व्यक्ति के कक्ष में प्रवेश करते ही समझ में आ जाता है कि व्यक्ति नशे के वश में है। जो लोग हुक्के से तम्बाकू पीते हैं उस हुक्के के पानी में तम्बाकू के धुएँ का एक भाग मिल जाता है। इसलिए बाकी धुआँ शरीर को कुछ कम क्षति पहुँचाता है। लेकिन कुछ कम करता है

का अर्थ एकदम नहीं करता, वैसी बात तो नहीं हैं। तुम लोगों ने हुक्के का पानी देखा है न, किस तरह काला-पीला हुआ रहता है।

जो लोग बीड़ी-सिगरेट पीते हैं विशेषकर सिगरेट पीते हैं, उनके शरीर के भीतरी भागों में सिगरेट के धुएँ से उसी प्रकार लाल-पीले दाग बन जाते हैं। कई मामलों में फेफड़े कार्बोनेटेड हो जाते हैं। अर्थात् फुसफुस में उसी रंग के दाग पड़ जाते हैं। स्वाभाविक नियमानुसार इस प्रकार के फुसफुस में कर्कट रोग (cancer) के आक्रमण की संभावना रहती है। जर्दा, खैनी में विशेषकर खैनी में, तम्बाकू का पत्ता जब जीभ में पड़ता है तब जीभ में एक विरूप प्रतिक्रिया होती है। इसलिए लोग तब बार-बार थूकते रहते हैं। इसी से समझा जाता है कि यह चीज स्वास्थ्यविज्ञान विरोधी है। पान के साथ जो दोक्ता-जर्दा (सुगन्धित तम्बाकू) खाया जाता है वह तम्बाकू-पत्ते का ही बहु प्रसारित रूप है।

लोग नशामुक्त रहें, शरीर से-मन से, सर्वतोभावेन, सर्वतोप्रयासेन ऊर्ध्वलोक की ओर अग्रसर हों- यही वांछनीय है।

चाय, कॉफी, कोको से नशा : चाय, कॉफी, कोको में नशे की मात्रा बहुत ही कम है। ये अल्पमात्रा में उत्तेजक हैं। इसलिए ये बड़े किस्म की क्षति नहीं पहुँचा सकते। लेकिन स्नायुओं में सामयिक उत्तेजना बढ़ जाने से उन वस्तुओं का पान या ग्रहण करने पर अग्निमांद्य पैदा होता है। इनमें से कोको में कुछ पुष्टिमूल्य भी है। चाय का पुष्टिमुल्य कम है। सामयिक उत्तेजना लाती है, लेकिन नींद में कमी लाती है, पाचन शक्ति को घटाती है। कॉफी भी सामायिक उद्दीपन लाती है, नींद कम करती है पाचन शक्ति को घटाती है। इसमें नशे की मात्रा चाय की अपेक्षा अधिक है, पुष्टिमूल्य चाय की अपेक्षा थोड़ा सा अधिक है। अति मात्रा में चाय पीने का फल विषवत् है। तैयार चाय को द्वितीय बार खौलाने

पर या गर्म करने पर उसका फल भी अतिमात्रा में विषवत् है। चाय के विष का नाम टैनिक एसिड है।

(कलिकाता, 29.7.90)

स्वमूत्र पान : मूत्र चिकित्सा में देखें।

खाद्यान्न :

अन्न : अद्+क्त करके बनता है- अन्न शब्द। अन्न का अर्थ है भोजन की थाली में प्रधान खाद्य के रूप में जिस खाद्य को व्यवहार किया जाता है। अद् धातु का अर्थ है पेट भरकर खाना या मुख्य खाद्य (staple food) खाना। इसलिए अन्न का अर्थ है प्रधान खाद्य। कोई यदि सुबह थोड़ा सा चूड़ा या कुछ बिस्कुट या थोड़ी फरुही खाया, उसे अन्न नहीं कहा जायेगा। दोपहर या रात को जब उसने पेटभरकर भात खाया, उस भात को अन्न कहा

जायेगा। पंजाब अंचल में प्रधान खाद्य है गोधूम अर्थात् गेहूँ (पंजाब में कनक)। इसलिए वहाँ दोपहर या रात को जो पेटभरकर रोटी या तन्दूरी खायेगा, वो ही होगा अन्न। स्कॉटलैण्ड का प्रधान खाद्य है oats या जई। वहाँ के लोग दोपहर या रात को जई की रोटी या हलुआ (पॉरिज) खाने पर वही होगा उनका अन्न। उसी प्रकार आयरलैण्ड का अन्न आलू है। किसी-किसी की गलत धारणा है कि अन्न का अर्थ है भात। नहीं; वैसा नहीं है। बंगाल और बंगाली के लिए अन्न का अर्थ भात है। सभी के लिए या सर्वत्र अन्न का अर्थ भात नहीं है। अन्न के साथ आनुषंगिक जो खाद्य है उसे उपान्न कहा जाता है। इस 'उपान्न' के लिए अन्य एक शब्द 'पद' है। जैसे-दाल, तरकारी, भुजिया, चटनी, सब्जी, सालन, अम्ल, झाल, झोल, दही इत्यादि।

अवस्थागत विचार से अन्न जो दो प्रकार के हुआ करते हैं, उनमें से एक का नाम हैं प्रीत्यन्न, अपर का नाम है आपदन्न। कोई

यदि तुम्हें आदर के साथ खिलावे और खिलाना चाहे अत्यन्त आन्तरिकता के साथ, यह बात उसके हाव भाव से -आचार-आचरण से, वाक् अभिव्यक्ति से अच्छी तरह फूट पड़े, वह तुम्हें खिलाकर आनन्दित होगा, तुम ना खाओ तो वह व्यथित होगा, ऐसी स्थिति में तुम यदि किसी के यहाँ साग-सत्तू भी खाओ, तो वह होगा तुम्हारे लिये प्रीत्यन्न। और कोई तुम्हें प्रीति के कारण नहीं खिला रहा है, किन्तु खाद्याभाव के कारण तुम्हारा जीवन विपन्न है, न खाने पर तुम और अधिक देर तक जीवित नहीं रह सकोगे- ऐसी अवस्था में पात्रापात्र का विचार न करके, पापार्जित है या पुण्यार्जित - विचार न करके तुम यदि किसी के यहाँ अन्न ग्रहण करके प्राणों की रक्षा करो, तुम्हारे लिए वह अन्न आपदन्न है। गृही के मामले में कहा जाता है- "आपदन्ने दोष नास्ति"। लेकिन संन्यासी आपदन्न ग्रहण नहीं करेंगे। उनके लिए आपदन्न ग्रहण करने की अपेक्षा मरण ही श्रेय है।

उपार्जनगत विचार से भी अन्न दो प्रकार के हैं- अशुद्धान्न या गदभींन्न और शुद्धान्न या शुद्धोदन। पाप से अर्जित अर्थ से जो अन्न खरीदा गया है अथवा पाप के माध्यम से जो अन्न संगृहीत हुआ है, वही गदभीन्न या अशुद्धान्न या पापान्न है। सत्प्रयास के द्वारा संचित अर्थ से संगृहीत हुआ है, वो ही शुद्धोदन या शुद्धान्न (भगवान बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन है।) गृही और संयासी कोई भी अशुद्धान्न या पापान्न या गदभींन्न ग्रहण नहीं करेंगें और गृही-संन्यासी सभी, जब जैसा प्रयोजन हो, शुद्धोदन अवश्य ही ग्रहण करेंगे।

अपरिच्छन्न रूप से तैयार किया खाद्य भी अशुद्धोदन है। रास्ते पर बेचा जाने वाला कटा फल, धूल की आँधी के बीच बैठकर बेचा गया तेल से छने चॉप-फुलौरी-ये कुछ भी शुद्धोदन नहीं हैं। समाजबद्ध रूप से या समाजसत्ता की सहायता से तुमलोग

इस प्रकार के अशुद्धान्न या गदर्भीन्न की बिक्री बन्द करने की चेष्टा करोगे। इससे मानव समाज को बहुत लाभ होगा।

(कलिकाता, 21-1, 87, 19-2-89, 7-5-89)

खाद्य रस:

खाद्यरस साधारणतः छः प्रकार के हैं। ये षडरस हैं- तिक्त, कटु, कषाय, लवण, अम्ल और मधुर। तन्त्र-भारतीय भेषजविज्ञान इसी हिसाब का अनुसरण करता है। प्रथम ग्रास में खाना चाहिए तिक्त (जैसे पलता, शुक्ता, नीम-बैगन, शिउलि पत्तों का झोल इत्यादि)। द्वितीय ग्रास में खाना चाहिए कटु अर्थात् झाल (जैसे थोड़ी अधिक मिर्च या गोलमिर्च या पीपल डालकर पकाया भोजन-आलू-मिर्च, निरामिष झाल, बरी का झाल)। तृतीय पाली में खाना चाहिए कषाय चीजें (जैसे डूमर, मोचा, थोड़, कचकेला, इत्यादि) । चतुर्थ पाली में खाना चाहिए लवणयुक्त चीजें (जैसे अचार, पापड़, नमकीन पोलाव, निमकी, सिंघाड़ा इत्यादि)। पंचम

स्तर पर खाना चाहिए अम्ल-रसयुक्त खाद्य (अम्ल, चटनी, खट्टा, इमली, आमड़ा, जलपाइ, करमचा, कामरांगा, कच्चे आम का झोल, दही इत्यादि)। षष्ठ स्तर पर खाना चाहिए मीठी वस्तुएँ (बंगाल की खाद्य तालिका में मीठी चीजें कहने से अधिकतर समझा जाता है पायस चावल का पायस, चूड़ा का पायस, चषि का पायस, कदू का पायस, सेवई का पायस इत्यादि)। खाद्य तालिका को बड़ी नहीं बनाया; क्योंकि तब अनुमान है तुमलोग घर जाकर उत्पात शुरु कर दोगे।

इन विभिन्न रसयुक्त खाद्यों को ग्रहण करने की सीढ़ियाँ भी निर्धारित कर दी गयी हैं- निर्धारित कर दी गई है विधि भी। ये सीढ़ियाँ हुईं तिक्त, कटु, कषाय, लवण, और मधुर। प्रथम स्तर पर तीता खाना चाहिए नीम-बैगन, करेली की भुजिया या शुक्ता। तीता पहले खाना चाहिए क्योंकि तीता लालास्रावी होता है। वही लाला (saliva) परवर्ती खाद्यों को पचाने में सहायता करता है। अंतिम

स्तर पर खाना चाहिए मीठी चीजें क्योंकि मीठा बिल्कुल ही लालास्रावी नहीं है। इसलिए मीठा पहले ग्रहण करके बाद में अन्य खाद्य ग्रहण करने पर उससे पाचन में असुविधा हो सकती है। लवण के बाद अम्ल खाद्य ग्रहण करना चाहिए क्योंकि लवण अम्ल खाद्य की एसिडिटी (acidity) दोष को संतुलित (neutralise) कर देता है। इसलिए "दधिलवणेन सहभक्षयेत्" कहा जाता है।

इन रसों में से मनुष्य को, विशेषकर शिशुओं को खाने में सबसे कम तिक्तरस अच्छा लगता है। फिर भी प्रथम स्तर पर खाने से उसे कुछ यथायोग्य माना जा सकता है, लेकिन बाद में वैसा नहीं किया जा सकता। शीत के अंत में नीम के कोमल पत्ते प्रथम दौर में खराब नहीं लगते। किन्तु साधारणतौर पर व्यक्ति तीता से कन्नी काटता है। जीभ के द्वारा तीता रस गृहीत होने पर जिस प्रकार की एक प्रतिकूल वेदना कई बार अनुभूत होती है, किसी व्यक्ति को

अन्य किसी भी व्यक्ति के सम्पर्क में आने पर मनोजगत में वैसी ही प्रतिकूल वेदना अनुभूत हो, तब उस व्यक्ति को तिक्त व्यक्ति कहते हैं। फिर भी हमलोग जानते है कि तिक्त वस्तु का प्रयोजन शरीर को होता है।

कटु या झाल जैसी चीज की भी जरूरत शरीर के लिए है। किन्तु इसके लिए किसी को मुट्ठी की मुट्ठी धानी मिर्च खाने के लिए नहीं कहा जा रहा है। लेकिन थोड़ी-बहुत हरी मिर्च खाने में बुराई क्या है! [जैसे झालमूढ़ी में] थोड़ी मात्रा में तीखा सरसों का तेल झाल या तीखापन के कारण सरसों तेल का संस्कृत नाम है कुट तैल, इसी से उत्तर भारत में कडुआ तैल और कच्ची मिर्च न हो तो खाने में घास जैसा लगता है कि नहीं! तुम लोगों का क्या कहना है जी !

प्राचीन भारत में तीखापन (झाल) के लिए दो उपादान थे- गोलमिर्च (कटुबीज में) (2) पिप्पल (पिप्पली)। मिर्च हम लोगों के देश में आयी बहुत बाद में.... मुगल युग के अंतिम दिनों में। लाया था पोर्तुगीज लोगों ने इसलिए मिर्च का कोई पुराना नाम नहीं है। विदेश से मिर्च [मरिच (बंगला) शब्द फारसी के मिर्च से आया है] आयी थी जिसकारण उसे नाम दिया गया लंका मिर्च। कालक्रम में मिर्च शब्द के हट जाने से रह गया लंका शब्द (राढ़ी बंगला में 'सागरपारिया' उनसे सोपरे')। मिर्च तो आयी। उसने लोगों की जीभ से लार निकाली, तीखेपन से लोगों की आँखों में पानी भी ला दिया। उस तीखेपन के माधुर्य से लोग मोहित हो गए। आज हम लोगों का राँधा बाँटा, गृहस्थी, हाँड़ी-पींड़ा, चूल्हे की छोंक-मिर्च के बिना अचल है। पिप्पल ने ससम्मान उसका रास्ता छोड़ दिया। हम लोगों के देश में मुगल शासनकाल के मध्य तक पिप्पल का एकछत्र आधिपत्य चला था। बात-बात पर महिलाएँ सिल-लोढ़े से पिप्पल पीसती थीं, इमामदस्ते में पिप्पल चूरती थीं, अचार में पिप्पल की बुकनी डालती थीं। पिप्पल से आयुर्वेद की अनेक

औषधियाँ तैयार होती थीं। तुम लोगों में से जो आयुर्वेद से थोड़ा परिचित हो, जानते होगे कि गुड़पिप्पली आयुर्वेद की एक औषधि है।

जिस देश की जलवायु अधिक आई है, उस देश में मिर्च खाने का प्रयोजन अनुभूत होता है, अन्यथा वातरोग होने की संभावना रहती है। निश्चय ही अधिक मिर्च खाना भी अच्छा नहीं है। [कच्ची मिर्च में कैंसर प्रतिरोध के गुण हैं। इसलिए परिमित मात्रा में कच्ची मिर्च खाना अच्छा है; परन्तु सूखी मिर्च से परेशानी होती है।]

भोजन के अनुक्रम में सबसे अंत में रहता है मीठा.... "मधुरेन समापयेत्"। भोजन-रसिक लोगों का कहना है आहार-विज्ञान के मतानुसार मिष्ठान्न को अन्त में रखा गया है, यह सही हो सकता है, लेकिन इससे भी ज्यादा सही है कि अन्य चीजों को कम

खाकर अन्तिम अनुक्रम में मिष्ठान्न के लिए जगह बनाने में सुविधा होती है और शायद मिष्ठान्न के बाद पाँच रस खाने में जीभ को वैसा रुचता नहीं।

मनुष्य का खाद्य प्रधानतः पाँच अंगों की समष्टि हैः- (1) भात, रोटी, आलू, ओट इत्यादि प्रधान खाद्य (2) प्रोटीन खाद्य जैसे दाल, दूध, छेना, सोयाबीन (3) भोजन में खाद्य तेल या स्नेहजातीय वस्तुएँ (4) मसाले वगैरह (5) साग-सब्जी, फलमूल (मीठा सहित), गोलमिर्च। दारुचीनी।

(कलिकाता-16-11-86,18-9-87, 6-3-88)

तेल सुक्ता : तेल सालन :

तेल सुक्ता है- अधिक तेल देकर कड़ा-गाढ़ा बनाया हुआ सुकता विशेष। इसमें तीता देना ही होगा, ऐसी कोई बात नहीं है।

लेकिन बरी-कचकेला डालना अच्छा है। तेलसुक्ता में तेल की मात्रा कुछ अधिक रहती है और इच्छा हो तो उसमें मूंग की दाल फुलाकर-भूनकर ऊपर में फैला दी जा सकती है। सुक्ता में साधारणतः वैसा नहीं किया जाता।

तेल सालन कुछ गाढ़ा करके बनाया जाता है। अधिक तेल पड़ने के कारण पहले अनुक्रम में खाना खराब नहीं है। खोला सालन या छिलका-सालन शब्द आज भी प्रचलित है। जैसे लौकी छिलका, बेसन मिलाकर तला हुआ आलू, चना इत्यादि की सहायता से सालन या शोरबा किस्म की चीज तैयार करना, पिसी सरसों डालकर तैयार किया गया लौकी की कलगियों का सालन भी।

आलू-मिर्च: आलू जिन्हें बर्दाश्त नहीं होता, उनके लिए सिझाए आलू को घी में भूनकर थोड़े नमक के साथ गोलमिर्च का

झोल खौलाकर उस वस्तु को गाढ़ा रहते चूल्हे से उतारकर जो आलू-मिर्च तैयार होता है, वह आलू के हजम करने में सहायता करता है। मधुमेह के रोगी को छोड़कर अन्य सभी के लिए यह एक उपादेय खाद्य है।

पपीता-मिर्च : आलू-मिर्च की तरह पपीता मिर्च भी बनता है। पपीते को काटकर सिझाने के बाद पानी को रखना पड़ता है। उसके बाद सरसों तेल या घी कड़ाही में डालकर पिसा अदरक, पिसा जीरा, कच्ची मिर्च और सिझाया पपीता सब एक साथ उसमें डालकर गाढ़ा बनाकर अन्त में वही पानी डालकर जो उपादेय वस्तु तैयार होती है, वही है पपीता मिर्च। यह पपीता मिर्च लीवर के लिए बहुत अच्छा होता है।

अचार: अचार और आचार में अन्तर को समझ लेना जरूरी है। आचार एक

संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ आचरण है। लेकिन अचार विदेशी शब्द है, जिसे 450 वर्ष पूर्व पोर्तुगीज लेकर आए थे। उन्हीं से इस देश के लोगों ने अचार बनाना सीखा था और इसके अधिक्षेत्र को बढ़ाया था। आम, कटहल, पातीनीबू, गोभी, मूली, बाँस के अंकुर, बोड़ी, करमचा, बेर, कामरांगा, आमड़ा, ओल, बड़ी मिर्च, आँवला-अचार, किससे नहीं बनता है। जिस नीबू का रस किसी वस्तु पर व्यवहार करने पर उसे कहते हैं जारक नीबू और पर्याप्त मात्रा में नमक और आवश्यक हो तो अल्प मात्रा में तेल अथवा तेल न डालकर जिस नीबू को जारित किया गया, वही नीबू फिर से पेट में जाकर अन्य खाद्य को जारित कर देता है... पचा देता है। जो नीबू अपने गुण से अन्य खाद्य को हजम कराता है, जिस नीबू को जारित करने के बाद वह अन्य को हजम कराता है, उसे जारित नीबू और जारक नीबू दोनों ही कहा जा सकता है। सुपक्व अनारस

और पका जामुन जारक वस्तुएँ हैं। अचार परिपाक शक्ति में सहायता करता है और साथ ही मुखरोचक भी है।

चटनी: अम्ल जब गाढ़ा हो अर्थात् रस कम हो और शर्करामिश्रित हो, उसे चटनी कहते हैं। अन्य खाद्य खाने के समय जिसे स्वाद को ठीक रखने के लिए बीच-बीच में चाट लिया जाता है, वही है चटनी। चटनी का उद्भव उत्तर भारत में है। मीठा डाले बिना या हल्का मीठा डालकर, कुछ झोल रखकर जो तैयार होता है उसे अम्ल कहते हैं। आम की चटनी बनती है, अम्ल भी बनता है। भात के साथ चटनी खाने में यथा योग्य नहीं क्षमता; भात के साथ यथा योग्यता होती है अम्ल की रोटी के साथ चटनी की। किसी फल को बहुत पानी में खौलाकर अम्ल तैयार किया जाता है, यदि मीठा मिलाकर वैसा किया जाए तो उसे झोल (खट्टा) कहते हैं।

मालपुआ: मल्लपूधा > मालपूआ मालपो (बंगला) / कलकत्ते की कथ्य भाषा में हम लोग 'मालपो' कहते हैं, ग्रामांचल की भाषा में 'मालपुआ' शब्द चलता है। 'मल्लपूधा' शब्द का भावारुढ़ार्थ है जिस मालपुआ को खाकर मल्ल अर्थात् पहलवान की तरह शक्तिशाली बनते हैं। मालपूआ कई प्रकार के होते हैं- अच्छी तरह गोलमिर्च, इलाइची देकर, मैदे को दूध में घोलकर, कम आँच में छानकर चीनी के पतले रस में डालकर थोड़ी देर में जब वह मालपूआ रस से सराबोर हो जाता है- तब वह बनता है एक उपादेय खाद्य। यह असली मल्लपूधा हुआ... मालपूआ या मालपो (बंगला)। हम लोग साधारणतः इसे 'ढाकाई मालपो' कहते हैं। मालपुए को यदि रस में न डालकर चीनी के साथ घोला जाए, वह उत्तर भारत का 'पूआ', बंगाल में 'पोआ' हुआ।

मैदे के बदले यदि आटे में घोला जाए और दूध के बदले हो पानी, तब गोलमिर्च-इलाइची उसमें कुछ रहेगा, भूना जाएगा

करछी से अंगुलियों से घी छिड़ककर, वह हुआ वैष्णवी मालपूआ या वोष्टमी मालपूआ। गृहस्थों के घर में प्रतिदिन के जलपान के रूप में यह बुरा नहीं है। इसे चीनी के साथ घोला जाता है। आटे को यदि पानी में घोला जाए और उसके साथ हो ताजा सुनहरा ईख गुड़, करछी से अंगुलियों से खाँटी सरसों तेल छिड़ककर भूना जाए और गरम रहते खाया जाए, उसे कहते हैं आखड़ाइ मालपो (रंगभूमि मालपुआ)। कोई-कोई घी में भी भूनते हैं। यह आखड़ाइ मालपूआ खाने में खराब नहीं होता। जलपान के रूप में चल सकता है। और बहुत कुछ आखड़ाइ मालपुआ जैसा ही, किन्तु उसके साथ अधिक पका हुआ केला यदि मिला दिया जाए और उसके बाद करछी से गरम-गरम खाँटी सरसों के तेल में भूना जाए और आटे के घोल में सुनहरा ईख गुड़ व्यवहार किया जाए, तो जो विशेष प्रकार का मालपुआ बना, उसे कहते हैं केला-मालपूआ, केला-बड़ा या असुर मालपूआ या असुर बड़ा। इसे खाने से शायद असुर जैसी शक्ति आती है।

आशका पीठा : साधारण चावल के आटे से तैयार इस आशका पीठा का संस्कृत नाम 'आशिका' है। 'आशिका' शब्द का अर्थ है वांछित अर्थात् नया धान कटने के बाद बंगाल के साधारण लोगों के लिए जो पीठा बहुत ही वांछित है। इस आशिका शब्द से हम लोग आशके बंगला शब्द को पाते हैं।

बंगाल में कहीं-कहीं आशका पीठा भांड़ (मिट्टी का तवा) पर बनाया जाता है जिस कारण आशका पीठा को उन अंचलों में महिलाएँ सरा-पीठा कहा करती हैं। नदिया जिले के गाँवों में 'सरापीठा' शब्द सुना है। और डाका जिले (ढाका) में लोग उस पीठा को चितुई पीठा कहा करते हैं।

खाद्यगत गुण के विचार से भात में जो गुण है, आशका में उसकी अपेक्षा कुछ अधिक गुण है। कारण यह है कि भात का मांड़

आशका के भीतर जज्ब होकर रह जाता है। ताजा ईख गुड़ का गुण शर्करा जातीय अन्य किसी भी चीज से अधिक है। इसलिए गुड़ के साथ आशका पीठा खाने में चाहे जैसा भी हो, खाद्यगुण के विचार से यह उपादेय वस्तु है। ताजे ईख गुड़ में डुबोया थोड़ा बासी आशका खाद्य के रूप में बहुत मूल्यवान है। थोड़ा बासी कहने का मेरा तात्पर्य है 7/8 घंटे पहले तैयार पीठा। उस समय आशका का जज्ब मांड़ कुछ किण्वित हो जाता है। सड़ने में समय लगता है उससे बहुत अधिक। इसके अलावा बनता ज्यादातर शीतकाल में। इसलिए 7/8 घंटे में सड़ने का प्रश्न नहीं उठता। इसलिए थोड़ा किण्वित आशका का खाद्यमूल्य बढ़ता है और पाचन भी जल्दी होता है। खाने में हो सकता है गरमागरम आशका अच्छा है।

हाँ, तुमलोग जानते हो क्या ? एक प्रकार का पारम्परिक आशका पीठा होता है। मज्जा पका केला.... मज्जा किसे कहते हैं, जानते हो न ? केला अधिक पक जाने पर उसका ऊपर का

छिलका जब काला पड़ जाता है और भीतर अधिक पककर नरम हो जाता है जबकि वह तब भी सड़ा नहीं होता, उस प्रकार पके केले को मज्जा केला कहा जाता है। अधिकांश फलों की चार अवस्था होती हैं कच्चा, गद्दर, पका और मज्जा। हाँ, आशका पीठा तैयार करने के समय चावल के आटे के साथ मज्जा केला यदि सान लो तो उससे उसमें आकर्षण बढ़ेगा। पुष्टिगत मूल्य में उबले अंडे के आमलेट को भी पीछे छोड़ देगा।

गुड़पीठा : गुड़पीठा खजूर गुड़, ताड़ गुड़, ईख गुड़ सभी से बनता है। लेकिन जमेगा अच्छा यदि सुनहरे रंग के ईख-गुड़ से बने और गरम-गरम अवस्था में भोजन की नली में पहुँच जाय।

गुड़पीठा अरवा चावल का हो तो ज्यादा अच्छा है। लेकिन जो लोग गुड़पीठा बनाते हैं वे उतना चुन-बीन नहीं करते। उसना (सिद्ध) चावल से भी बहुत लोग गुड़पीठा बनाया करते हैं। वैदिक

संस्कृत में 'पुरोडाश' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। उनमें से एक का अर्थ है-जौ से बना गुड़पीटा। इसप्रकार देखा न, आज से लगभग 15000 वर्ष पहले हमलोगों के पूर्वजों ने गुड़पीठा खाया था। सूर्योदय से पहले गुड़पीठा खाने से पर वह रोचक, पुष्टिकर और बलवर्धक है। सूर्यास्त के बाद खाने पर उससे थोड़ा अम्लदोष आता है। लेकिन गुड़पीठा खाने के थोड़ी देर बाद कम नमकीन कोई चीज खाने पर वह दोष दूर हो जाया करता है।

लवण का प्रयोजन :

'लवण' शब्द का अर्थ है जो सौन्दर्य और लावण्य को लाता है। प्रयोजनानुसार लवण शरीर में गृहीत न होने पर शरीर का सौकुमार्य और कमनीयता नष्ट हो जाती है। इसी अर्थ में लवण शब्द तैयार हुआ है। 'लवण' का अर्थ लव्णप्राण (रक्तप्राण) है।

प्रागैतिहासिक युग में किसी प्लूटोनिक भूकम्प के कारण समुद्र मध्य स्थित भूमि ऊपर उठ गयी थी, वहाँ उस भूमि पर स्थित अति लवणयुक्त पानी का स्तर धीरे-धीरे चूहकर ऊपर के बालू या बलुआही मिट्टी या दोआँस मिट्टी के नीचे कठोर भू-स्तर से ऊपर जाकर अटक गया था। कालक्रम में वही अति नमकीन पानी जम जाने के कारण भू-निम्नस्थ नमक के पहाड़ के रूप में परिणत हुआ। सिन्धु अर्थात् समुद्र के जल के नीचे जैसे पहाड़ उद्भूत हुए थे जिस कारण इन्हें सैन्धव पहाड़ कहा जाता है और नमक को सैन्धव लवण कहा जाता था। गहरे समुद्र के जल से प्राप्त इस नमक में इसलिए कैल्शियम और आयोडीन की मात्रा अधिक रहना ही स्वाभाविक है। नमक का रंग भी इसीलिए कुछ लाल हो गया था।

समुद्र के जल को निकालकर वाष्पीभूत करके हम लोग कृत्रिम उपाय से जो लवण तैयार किया करते हैं, उसे साधारणतः कर्कच नमक कहा जाता है। देश के उपकूल भाग में प्राचीनकाल से

ही यह कर्कच नमक तैयार होता आ रहा है। दक्षिण-चौबीस परगना के स्थानीय नमकीन जल और नमकीन मिट्टी से एक प्रकार का माटी-लवण तैयार होता था। उसे जंगली नमक कहा जाता था। इस नमक का रंग भी मटमैला हुआ करता था। अर्थात् इसके साथ कुछ-कुछ मृत्तिकाजात रासायनिक नमक भी हुआ करता था। कर्कच नमक से जो समझा जाता है, यह नमक ठीक वैसा ही नहीं था। गुणगत विचार से सामुद्रिक कर्कच नमक की अपेक्षा यह जंगली नमक यद्यपि देखने में अच्छा नहीं था परन्तु बहुत अधिक स्वास्थ्यप्रद था। इस जंगली नमक की अपेक्षा सैन्धव लवण प्रायः ढाई गुना अधिक स्वास्थ्यप्रद है। सैन्धव लवण के व्यवहार से शरीर के अस्थि-मज्जा मजबूत बनते हैं। आयुर्वेद के मत से गलक्षत और गलगण्ड रोगों के आक्रमण का भय नहीं रहता। रक्त संचालन की गति को बढ़ाकर प्राणशक्ति को स्फूर्त करने का गुण सामुद्रिक लवण या कर्कच नमक की अपेक्षा सैन्धव लवण में (सन्दक नमक-उत्तर भारत में 'सेंधा नमक') अधिक है।

तुम लोगों ने कभी-कभी देखा होगा कि पेड़ के ऊपर या चहारदीवारी के ऊपर बैठकर बन्दर एक दूसरे के शरीर से मानो कुछ चुन-चुन कर खाते रहते हैं। हम लोग समझते है कि शायद इस तरह ढीलों-लीखों को चुन-चुन कर खाते रहते हैं। लेकिन असल में ढ़ीलो-लीखों को नहीं खाते जैव लवण चुन चुनकर खाते रहते हैं। बन्दर बहुत अधिक उछल-कूद करते रहते हैं। उनके लिम्फौटिक ग्लैण्ड्स अतिसक्रिय होने के कारण जैव लवण भी इसीलिए काफी निकल जाता हैं। इसलिए एक दूसरे का जैव लवण खाकर वे लावणिक दुर्बलता के हाथ से छुटकारा पाने की चेष्टा करते हैं।

पसीना और जैव लवण का निकलना: पसीने से कपड़े लत्ते भीग जाने पर मनुष्य मात्र को ही एक शारीरिक हानि होती है और उसके फलस्वरूप एक मानसिक ग्लानि भी पैदा होती है। **इसलिए पसीने से भीगी अवस्था में अधिक देर तक नहीं**

रहना चाहिए। कपड़े बदल लेना चाहिए, शरीर को धो-पोंछ लेना चाहिए। अत्यधिक पसीने के फलस्वरूप शरीर से निकले मूल्यवान जैव लवण के अधिक देर तक तरल पसीने के सम्पर्क में रहने से उसमें सड़ने के लक्षण दिखायी पड़ते हैं जो स्वास्थ्य के लिए क्षतिकर है। उस जैव लवण से भीगे कपड़े-लत्ते बाद में सूखने पर उन पर लवण फूट पड़ता है, विशेषकर यदि कमीज काले रंग की या खाकी रंग की या काले जैसी किसी रंग की हो। बहुत अधिक आमिष खाद्य, प्याज, लहसुन या उस प्रकार का कोई उग्र गंधयुक्त खाद्य अधिक ग्रहण करने पर यह जैव लवण अधिक मात्रा में दुर्गधयुक्त हो उठता है। जो लोग बहुत अधिक तम्बाकू खाते हैं उनके पसीने में तम्बाकू का रंग और गंध रहती है जो अन्य लोगों के लिए विशेष पीड़ादायक होती है। यदि कोई ऐसी वस्तु का परिधान करें जो जल-निरोधक या वाष्प-निरोधक हो (जैसे नायलोन की कमीज-मोजे) तो वैसी स्थिति में वह पसीना निकलने या वाष्पीकृत होने का मौका नहीं मिलता। इसके फलस्वरूप स्वाभाविक रूप से उस वस्त्र के भीतरी भाग के पसीने को सड़ने का

मौका अधिक मिलता है। उस तरह का मोजा यदि कोई पहन ले, वह जब उस मोजे को खोलता है, तब दुर्गंध से एक बड़ा कमरा भी दूषित हो जाता है। इससे स्पष्ट पता चलता है कि इस प्रकार के वस्त्र स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते हैं।

अधिक जैव लवण के निकल जाने से व्यक्ति दुर्बल हो जाता है। इसी हेतु लवण जलपान करना चीनी के साथ या लवण-वाटिका का व्यवहार करना जैसी प्रथा प्रचलित है। जैव लवण रक्त-संचालन क्रिया को बनाए रखता है। इसलिए शरीर में पसीना अधिक आने पर लवण का अधिक निकल जाना अच्छा नहीं है, उसी प्रकार शरीर में लवण-भाग का अधिक बढ़ जाना भी अच्छा नहीं है। उससे रक्तचाप-वृद्धि का वेग (arterial hypertension) दिखायी पड़ता है। इसलिए उच्च रक्तचाप के रोगी को लवण का व्यवहार कम करना चाहिए। उन्हें सतर्क रहना चाहिए ताकि अत्यधिक पसीना न हो। लेकिन स्वाभाविक नियमानुसार रक्तचाप

का रोग जिनको है, उन्हें पसीना कुछ अधिक होता है। ग्रामीण लोग कहते हैं- "दुर्बलेर धुम, बलिष्ठेर धाम" । (साग सब्जी, फल-मूल में प्राकृतिक नियम से ही लवण अधिक रहता है। पकी तरकारी में भी लवण रहता ही है। इसलिए एक उम्र के बाद नमक खाने के अभ्यास का वर्णन करना ही उचित है।)

'खण्डलवण' की तात्पर्य काला नमक या **बीट नमक** है। सुप्रसिद्ध पाचक औषधि 'लवण भास्कर' बीट नमक से बनी आयुर्वेदिक औषधि है। हकीम साहेब की यूनानी चिकित्सा में 'नमक सुलेमानी' यही खण्ड लवण संजात है।

मरुभूमि की गर्मी साधारणतः सूखी गरमी होती है। कलकत्ता की अपेक्षा जोधपुर में गर्मी अधिक है। किन्तु कलकत्ता की हवा में पसीना अधिक आता है। पसीने के साथ अधिक लवण निकल जाता है। शरीर कमजोर पड़ जाता है, परिश्रम करने की

सामर्थ्य कम हो जाती है। कलकत्ता की अपेक्षा पूर्वी बंगाल और उत्तर बंगाल में उमस और भी अधिक है। इसलिए पूर्वाद्र नीति (East Wet Theory) के अनुसार गढ़ लोगों की अपेक्षा पूर्वी बंगाल व उत्तर बंगाल के लोग कम परिश्रम कर सकते हैं। और पूर्वी बंगाल और उत्तर बंगाल के लोगों की अपेक्षा असम में उमस और भी अधिक रहती है। इसलिए असम के लोग और भी कम परिश्रम कर सकते हैं। जोधपुर में गर्मी कलकत्ता की अपेक्षा अधिक पड़ने पर भी हवा में जलवाष्प नहीं के बराबर होता है। इसलिए वहाँ पसीना कम होता है..... थकावट भी कम आती है।

अध्याय-11

आहार विहार

विविध विधान

स्नान विधि

स्नान को प्रधानतः तीन स्तरों में विभाजित किया जाता है: (1) छेद्य धारा, (2) अच्छेद्य धारा, (3) अवगाहन।

(1) छेद्य धारा : छेद्य धारा है बाल्टी में लोटा डूबोया, लोटे का पानी माथे पर डाला। इससे से लगातार स्नान नहीं हो रहा है। एक बार लोटे का पानी माथे पर कुछ समय छूट जाता है जब लोटे को बाल्टी में डुबाते हैं। स्नानों में यह अधम स्नान है। [कुएँ के पानी

से स्नान करना भी इसी अधम स्नान के अन्तर्गत आता है] स्नान पानी से करने के समय शरीर का सर्वांश एक साथ नहीं भीगता। कभी माथे पर पानी पड़ता.... कभी नहीं पड़ता। श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया स्वाभाविक नहीं रहती। इसी कारण उम्र कुछ बढ़ने पर अर्थात् रक्त का जोर कुछ कम होते ही दमा से आक्रान्त होते हैं। इस प्रकार पानी से स्नान करने से ऊर्ध्वांक्ष जितना भीगता हैं, नाभि का निम्नांश उतना नहीं भीगता। जिसके फलस्वरुप हाइड्रोसिल रोग की प्रवणता देखी जाती है।

(2) अच्छेद्य धारा : द्वितीयोक्त स्नान में माथे पर पानी पड़ता है, उसकी धारा में विराम नहीं है। जैसे बैठकर स्नान कर रहा हूँ [माथे को नल के नीचे रखकर और नल का पानी लगातार पड़ता जा रहा है], अथवा फव्वारे से स्नान कर रहा हूँ, झरने में स्नान कर रहा हूँ यह सभी अच्छेद्य धाराएँ हैं यह मध्यम श्रेणी का स्नान है।

(3) अवगाहन : उत्तम श्रेणी का स्नान है अवगाहन। बाथटब में, नदी-नाले-गढ़ों-नदियों में जो स्नान है जिसमें माथा डुबोकर स्नान किया जाता है, उसे अवगाहन कहते हैं। अव-गाह्+ल्युट अवगाहन ।

तुम लोगों को जब कभी मौका मिले अवगाहन स्नान कर लोगे। और अवगाहन का मौका न मिलने पर अच्छेद्य धारा में स्नान करोगे। उसका भी सुअवसर न मिलने पर ही इस छेद्य धारा में स्नान करोगे क्योंकि छेद्य धारा से स्नान के अनेक गुण ही अप्राप्त रहते हैं।

[सबसे अच्छी स्नान-विधि है] पहले नाभि पर पानी डालो। उसके बाद नाभि के निम्नस्थ जगहों को सामने की ओर से भिगो दो। उसके बाद नाभि के पीछे पानी डालोगे। उसके बाद ब्राह्मरंध्र में

(ब्रह्मतालु में) इस ढंग से पानी डालोगे ताकि वह पानी पीछे के मेरूदण्ड से होकर नीचे की ओर गिरे। पूर्ण स्नान करने के लिए पहले कमर में, नाभिमूल में और उसके नीचे की जगहों पर उपर्युक्त प्रकार से पानी दोगे और बाद में डुबकी लगाकर स्नान करोगे।

जिस रोगी को ठंडक भाव हो, वह गर्म पानी से और घिरे स्थान पर स्नान करेगा। रौद्रपक्व जल भी अच्छा है। अत्यधिक शीतप्रधान आबोहवा में उष्ण जल का व्यवहार करोगे। जो लोग अवगाहन स्नान नहीं करते, उन्हें बैठकर स्नान करना उचित है। खड़े-खड़े स्नान न करना ही अच्छा है।

आधी रात को स्नान निषेध है। कोई भी व्यक्ति आधी रात की संध्या को स्नान नहीं करेगा। बाकी तीन संध्याओं (प्रथम संध्या, दोपहर संध्या और सायं संध्या) के बीच किसी एक में सभी को स्नान करना होगा। अवशिष्ट दो में से अपनी शारीरिक अवस्था

और आबोहवा की अवस्था देखकर किसी एक में या दो में स्नान कर सकते हो।

(मधुमालञ्च, कलिकता, 26-6-88

और मधुकोरक, कलिकाता, 26-9-89

आनन्दमार्ग चर्याचर्य तीसरा खण्ड)

गात्रेत्सादन : गात्र + उत्-सद्+निच+ल्युट्। इस शब्द का अर्थ हुआ शरीर की सफाई करना। ऊपर-ऊपर साबुन लगाने से वह चमड़े की गहराई में प्रवेश नहीं करता। रोमकूप के छिद्र बन्द हो जाते हैं। इसलिए पहले साधारण जल से एकबार स्नान करके, उसके बाद साबुन लगाकर, उसके बाद गर्म जल द्वारा सिर से पैर तक अच्छी तरह धोकर, फिर थोड़ा ठहर कर साधारण जल से स्नान करना चर्म के लिए सबसे अच्छा है। जो लोग तेल मलते है। उनके लिए तेल की मालिश करना उचित है स्नान के अन्त में। **स्नान के लिए (पीने के लिए भी) सबसे हितकर है शरीर के**

ताप के बराबर तापयुक्त (Water body temperature) [शरीर की सफाई के लिए ग्रामीण बंगाल में बहुत आसानी से उपलब्ध नेनुआ का रेशा या गात्रमार्जनी का व्यवहार करना उचित है।]

आतप स्नान विधि:

निम्नलिखित प्रक्रिया केवल विशेष रोगावस्था में करणीय है। इसलिए यह प्रक्रिया करने के लिए आचार्य का परामर्श लोगे। निश्चय ही कोई भी सर्वांग में आतप स्नान कर सकता है- अधिक ठंडे देश के लोग बसन्त-ग्रीष्म में वैसा करते भी हैं।

आतपस्नान: आतपस्नान का अर्थ धूप सेंकना है। सूर्य का तेज सभी देशों में और सभी ऋतुओं में समान नहीं होता। लेकिन वर्तमान काल में बिहार की समतल भूमि पर ग्रीष्मकाल में सुबह दस बजे तक और जाड़े में दोपहर दो बजे तक आतप स्नान किया जा सकता है।

स्नानकाल में रोगग्रस्त अंग को धूप में रखकर, शरीर के बाकी भाग को छाया में रखना उचित है। लगातार 15/20 मिनट धूप में रखने के बाद रोगग्रस्त भाग गर्म हो जाने पर उसे छाया में लाना उचित है और निम्नलिखित पद्धति का अनुसरण करना उचित है।

(क) रोगग्रस्त अंग वातरोग युक्त होने पर उसपर परामर्शानुसार 4/5 मिनट उत्तम तरीके से मालिश करके-

(ख) रोगग्रस्त अंग चर्मरोगग्रस्त होने पर उस पर नीम तेल 4/5 मिनट मर्दन करके-

(ग) रोगग्रस्त अंग अन्य किसी व्याधि से ग्रस्त होने पर उस पर भीगा (ठंडा) गमछा या तौलिया निचोड़कर उससे पोछकर, उस अंग का उत्ताप स्वाभाविक हो जाने के बाद उसे पुनः धूप में रखा जा सकता है और उसी प्रकार 15/20 मिनट धूप में रखकर पुनः पूर्वलिखित विधि के अनुसार तेल या गमछे द्वारा मर्दन करके ठंड़ा कर लेना होगा। इसीप्रकार बार-बार धूप लगाया और मर्दन क्रिया कर ली जा सकती है। लेकिन मर्दन के अंतिम बार तैलादि कुछ भी मालिश न करके चर्मरोग को छोड़कर बाकी सभी रोगों में गीले गमछे या तौलिए से पोछ लेना वाञ्छनीय है।

स्वस्थ व्यक्ति या रोगी चाहे तो सर्वांग में आतप स्नान कर सकता है। तब आतप स्नान के बाद पूरे शरीर को ही गीले गमछे या तौलिए से पोंछ डालना होगा।

समस्त देह में आतपस्नान करने के लिए बिना वस्त्र के ही या बहुत मामूली वस्त्र पहनकर सूर्य की ओर पीठ करके धूप लगानी होगी। धूप यदि शरीर के सामने की ओर अर्थात् मुँह, छाती, पेट इत्यादि किसी जगह हो तब केवल सम्बन्धित भाग को अनावृत रखकर बाकी शरीर को आवृत रखना होगा। याद रहे 'आगुन' खाबे पेटे, रौद्र खाबे पीठे-अर्थात् जरूरत पड़ने पर यदि कभी आग तापना हो तो आग को पीठ की ओर नहीं, पेट की ओर रखना होगा।

अधिक ठंडा के समय उत्तर भारत के लोग (कश्मीर) पेट के पास एक पात्र में जलता काठ-कोयला लिए रहते हैं। उससे शरीर गर्म रहता है। इस अग्निपात्र को 'बोरसी' कहा जाता है। स्मरण रहना चाहिए कि यह बोरसी पेट की ओर रखी जाती है- पीठ की ओर नहीं। क्योंकि पीठ की ओर अग्नि-सेवन करने पर उससे

स्नायविक विकार पैदा हो सकते हैं। सूर्य की ओर पीठ करके धूप तापना चाहिए।

(कलिकाता-29-6-86)

(आनन्दमार्ग चर्यायर्च - तीसरा खण्ड)

मृत्तिका प्रलेपः

मिट्टी में भी अपरिसीम रोग निवारणी शक्ति है। कटा, खरोंच का घाव, फोड़ा इत्यादि में सही तरीके से मृत्तिका-प्रलेप दे सकने पर रोग निरामय तथा विष के निष्कासन में विशेष सहायता मिलती है। मिट्टी का लेप देने के बाद चटचट का अनुभव होने लगने पर मिट्टी के सूखने के लगभग तीन घंटे बाद अथवा मिट्टी के बासी हो जाने पर उसे हटाकर उत्तम तरीके से किसी विष निरोधक

वस्तु की सहायता से क्षत-स्थान को धोकर और क्षत की जगह आतप स्नान कराकर फिर से नयी मिट्टी का व्यवहार करना होगा।

स्वस्थ व्यक्ति या चर्मरोगी स्नान के पहले सर्वांग में पीले रंग की मिट्टी का प्रलेप लगाकर और उसके बाद मर्दन करके नदी या पुष्करिणी में अवगाहन स्नान करने पर अवश्य ही उत्तम फल प्राप्त किया करते हैं। स्नान काल में बीच-बीच में इसी प्रकार मिट्टी का मर्दन करना प्रत्येक के लिए वा ञ्छनीय है। कुष्ठ, गरल इत्यादि दूषित छाव के रोग से जो पीड़ित है उन के लिए इसी प्रकार मिट्टी का मर्दन करने के बाद स्नान रोज अवश्य करणीय है।

(यौगिक चिकित्सा और द्रव्यगुण)

जलपान विधि:

'आपश्च विश्वभेषजी' अर्थात् जल सभी रोगों की दवा है। वास्तविक क्षेत्र में उचित तरीके से व्यवहार कर सकने पर केवल जल की ही सहायता से सभी रोग दूर हो सकते हैं। मनुष्य देह की आभ्यन्तरिक कार्यधारा को अटूट रखने के लिए तथा तरलता की रक्षा के लिए प्रत्येक को रोज पर्याप्त मात्रा में जल पीना उचित है। स्वस्थ व्यक्ति रोज 3/4 सेर, अस्वस्थ व्यक्तिं 4/5 सेर और चर्मरोग ग्रस्त व्यक्ति 5/6 सेर पानी पी सकता है। यह पानी रोग निवारण में बहुत अधिक सहायता किया करता है।

पानी के साथ थोड़ा नीबू का रस और उसके साथ सामान्य मात्रा में लवण का व्यवहार करने पर और भी अच्छा होता है। पानी पीना अच्छा है, लेकिन एक साथ बहुत सारा पानी पीना हानिकारक है, विशेषकर दिल के मरीज के लिए वह अत्यन्त हानिकारक है।

(यौगिक चिकित्सा और द्रव्यगुण)

सूचीपत्र

वायुसेवन विधि :

विशुद्ध वायु में भी रोग दूर करने की शक्ति है। वायु-सेवन काल में जहाँ तक संभव हो पूर्ण श्वास ग्रहण करना वांछनीय है, क्योंकि उससे व्यापकरूप से वायु फुसफुस के अन्दर प्रविष्ट होने का सुयोग पाती है। वायुसेवन गाड़ी पर चढ़कर न करके पैदल चलते हुए करना उचित है। शरीर से पर्याप्त मात्रा में पसीना न निकलने पर समझना है कि वायुसेवन उचित तरीके से नहीं हुआ।

(आनन्दमार्ग चर्याचर्य - तीसरा खण्ड)

ठंडा-गरम सेंक की पद्धति

चित लेटकर रोगग्रस्त स्थान के ऊपर बर्फ अथवा खूब शीतल जल की सेंक लगातार 15/20 मिनट तक देनी होगी। उस स्थान का चमड़ा काफी ठंडा हो जाने पर 1/2 मिनट उस स्थान पर

हल्के गर्म फ्लानेल की सेंक देकर उस स्थान के चमड़े को फिर से कुछ गर्म कर लेना होगा। फिर से 15/20 मिनट ठंडी सेंक देकर पुनः थोड़ी देर के लिए गर्म सेंक देनी होगी। रात को सोने के पहले भी इसी प्रकार कई बार ठंडी-गरम सेंक देनी होगी। अन्तिम बार ठंडी सेंक के बाद फिर गरम सेंक नहीं देनी चाहिए अर्थात् सेंक बन्द करते समय से रोगग्रस्त स्थान जिसमें ठंडा रहे।

(यौगिक चिकित्सा और द्रव्यगुण)

आहार-विधि :

आहार के पूर्व शीतल जल से या अति शीत के समय हल्के गर्म जल से अच्छी तरह **व्यापक शौच क्रिया** कर लोगे। नियम यह है कि मुँह, हाथ, पैर, गर्दन और उपस्थ धो लेना और आँखों को खुली रखकर एक मुँह जल लेकर दोनों आँखों पर कम से कम बारह (12) बार जल के छींटे लगाना।

भोजन के लिए बैठने से पहले तुम्हारे आसपास जो हैं, उन्हें भी अन्न का हिस्सा दोगे। उनके आहार करना न चाहने पर पता लगाओगे कि उनके साथ उपयुक्त मात्रा में आहार्य है या नहीं।

भोजन के समय अपनी सुविधा के आसन पर बैठोगे। अकेले भोजन करने की अपेक्षा एक साथ भोजन अधिकतर वांछनीय है। क्रुद्ध या हीन प्रवृत्तिग्रस्त अवस्था में भोजन पर नहीं बैठोगे।

अनेक लोग मिलकर एक ही पात्र में भोजन ग्रहण करने के समय अस्वस्थ व्यक्ति जिसमें उसमें भाग न लें, क्योंकि उससे स्वस्थ देह में रोग का विस्तार हो सकता है। संक्रामक व्याधि जिनको नहीं है, वे एक पात्र में भोजन ग्रहण करें तो कोई दोष नहीं है। बल्कि वह अच्छा ही दिखता है।

खाद्यग्रहणः दक्षिणा नासा के प्रवाहकाल में करना अच्छा होता है और आहार के बाद भी कुछ देर दक्षिणा नासा प्रवाहित होती रहे तो अच्छा है, क्योंकि उस समय पाचन क्रिया की सहायक ग्रंथियों से यथेष्ट परिमाण मे रस निकलता रहता है।

बगैर भूख के, थोड़ी भूख में आहार लेना, दिन पर दिन गुरुपाक खाद्य-ग्रहण, स्वादिष्ट खाद्य वस्तु मिलने पर लोभवश मात्राधिक खा लेना, आहार के बाद बिना विश्राम किए ही कार्यालय की ओर दौड़ना, सम्पूर्ण पेट भरकर खाना शरीर के लिए क्षतिकारक है।

आधा भाग भोजन, एक चौथाई भाग जल और एक चौथाई भाग वायु गमनागमन के लिए खाली रखना उचित है।

रात के भोजन के बाद थोड़ी देर भ्रमण करना विशेष हितकर है।

(आनन्दमार्ग चर्याचर्य - तीसरा खण्ड)

भोजन के पूर्व जल पान : व्यक्ति जब खाने के लिए बैठता है तब कई बारउसका गला सूखा रहता है। मुँह में हमेशा पर्याप्त मात्रा में लार नहीं रहती। इससे केवल पाचन में ही असुविधा होती है, ऐसी बात नहीं है, गला सूखा रहने के कारण कई बार सूखा खाद्य गले में अटक जाने से संकट ला सकता है। इसीलिए प्राचीनकाल में लोग एक हाथ में जितना जल आता है उतना जल मुँह से खींच या चूस लिया करते थे। इसलिए एक हाथ में जितना जल आता है, उतने को कहा जाता है एक 'गण्डुष'। इससे मुख और अन्न नली भीग जाते थे। फलस्वरूप खाद्य - विशेषकर सूखे खाद्य के अटकने की संभावना नहीं रहती थी।

[अभी भी अनेक लोगों ने खाने के पूर्व एक-दो घूँट पानी पीने के अभ्यास को बनाए रखा है। यह स्वास्थ्यसम्मत है। ऐसा करने में कोई हानि तो है ही नहीं, लाभ ही है। इसके साथ धर्माचरण का कोई सम्बन्ध नहीं है। भोजन करते समय बहुत लोगों को अभ्यास रहता है बार-बार पानी पीने का। सूखा भोजन मुँह में अटक जाने पर वैसा किया जा सकता है। किन्तु बार-बार पानी पीने से पेट के अंदर विभिन्न पाचक रस पतले हो जाते हैं। इसलिए भोजन करने के कम से कम आधा घंटा बाद ही पूरा पानी पीना उचित है]।

कतिपय यौगिक प्रक्रियाएँ :

निम्नलिखित प्रक्रियाएँ चाहे तो कोई भी कर सकता है :

(1) **उत्क्षेपमुद्रा** : नींद टूटने के साथ ही साथ बिछावन पर लेटे हुए ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। चित लेटकर दोनों घुटनों और दोनों हाथों को मोड़कर छाती के ऊपर लाओ और तुरन्त फिर सीधा कर दो। इसी प्रकार 3/4 बार करके बिछावन से उठकर बासी-ठंडा एक गिलास या एक लोटा पानी दाँतो से सटाए बिना पी लो। इसके बाद नाभि को खुली रखकर ताकि नाभि पर ठंडी हवा लगे- उस रूप में कुछ देर खुली हवा में टहलो।

(2) वस्तिमुद्रा : पाखाने के समय मूत्रद्वार को ऊपर उठाकर बाएँ हाथ की मध्यमा के मूलभाग द्वारा लिंगमूल का दबाकर रखना होगा। यह मानो ठीक लंगोट पहनने जैसी स्थिति है। पेशाब करते समय हाथ हटा लोगे।

(3) मूलशोधन : पाखाने के बाद शौच के समय बाएँ हाथ की मध्यमा को मलद्वार के भीतर जितना दूर संभव हो, प्रवेश कराकर परिष्कार कर लोगे।

(4) नासापान : नाक के द्वारा साफ पानी खींचकर मुँह के द्वारा उस पानी को निकाल दो। बाहर निकाल देना ही ज्यादा अच्छा है।

(5) धौति : नासापान के तुरत बाद ही खाली पेट में मुँह धोने के समय दाहिने हाथ की मध्यमा को गले के अन्दर जहाँ तक संभव हो घुसाकर गले को साफ करना।

(आनन्दमार्ग चर्याचर्य - तृतीय खण्ड)

दीर्घ जीवन लाभ के गुप्त संकेत :

1.उपयुक्त शारीरिक परिश्रम

2.भूख लगते ही भोजन करना

3.नींद का अनुभव होते ही तुरन्त सो जाना

4.नियमित आह्निक (साधना)

5.बीच-बीच में उपवास

6.आहार, शयन और आह्निक के पूर्व व्यापक शौचक्रिया

7.दही या अनग्निपक्व खाद्य

8.ब्रह्ममुहूर्त में शैय्या-त्याग

9.षोडश विधि-पालन

(आनन्दमार्ग चर्याचर्य – तृतीय खण्ड)

अध्याय-12

परिवेश और स्वास्थ्य

परिवेश विज्ञान (Ecology) :

परिवेश विज्ञान (Ecology) की लोग स्वार्थवश हर कदम पर उपेक्षा करते जा रहे हैं। हमें याद रखना चाहिए कि आकाश-वायु-पक्षी-पहाड़-वन्यजन्तु-सरीसृप-कीट-पतंग-मछलियाँ-जलज जीव-जलज उद्भिद-समुद्र सबके साथ सभी का अच्छा सम्बन्ध हैं। मनुष्य अभिन्न महासमाज का एक अंश मात्र है। किसी को छोड़कर कोई टिक नहीं सकता, मनुष्य भी टिक नहीं सकेगा। निर्बोध की तरह जंगलों को नष्ट करके, जंगली पशुओं की हत्या करके, मत्स्यकुल और पक्षीकुल को निर्मूल करके मनुष्य का कोई

भी स्वार्थ साधित नहीं होगा। इस पृथ्वी पर जो आता है, वह जाता है। केवल प्रकृति निर्दिष्ट एक समय तक इस पृथ्वी पर जीवित रहता है। मनुष्य की इस निर्बुद्धिता के कारण बहुत कुछ प्रकृति - निर्दिष्ट समय तक नहीं बचेगा। उसके पहले ही काल के अंधकार में खो जाएगा। मनुष्य ने अपनी निर्बुद्धिता से बहुत कुछ को ध्वस्त किया है और वैसा करके वह अपनी ही चिता सजाता जा रहा है। यह निर्बुद्धिता असहनीय है। अभी से ही लोगों को सतर्क होना होगा और परिवेश विज्ञान सम्मत रूप से सभी विचारों, कर्मों और परिकल्पनाओं को ढालकर सजाना होगा। अन्य कोई पथ नहीं है।

(मधुमालञ्च, कलिकाता, 17 जून, 1989)

जलवायु की विशुद्धता :

लोगों को उचित है कि पानी और हवा की विशुद्धता की ओर विशेष ध्यान दें। मिट्टी की विशुद्धता की भी बात भूलना नहीं

चाहिए। जल और वायु के प्रदूषण के फलस्वरूप आजकल रोग बीजाणुओं की प्रजातियों की संख्या बढ़ती जा रही है। यह संख्यावृद्धि मनुष्य के नियंत्रण से बाहर चली जा रही है। कृमि-निषेधक और कृमिध्नों की संख्या औषधियों का व्यवहार चाहे कितनी भी क्यों न बढ़े, मूल में गलती रहने पर अर्थात् मृत्तिका में, जल में, वायु में विदूषण-क्रिया जिस मात्रा में बढ़ती जा रही है, उसी मात्रा में जारी रहने पर यह प्रदूषित मिट्टी, जल और हवा ही मनुष्यों की सामूहिक मृत्यु का कारण बन सकती है।

(मधुमालञ्च, कलिकाता, 18.1.87)

जाड़े के दिनों में जहाँ कल-कारखानों से अधिक चिमनियों द्वारा धुआँ उद्गीर्ण हो रहा हो, वैसी जगहों पर धुआँ अधिक ऊपर नहीं उठ सकता, नीचे ही रह जाता है। जाड़े में प्रातः कुहासे के साथ वह धुआँ मिलकर और भी कष्टकर और स्वास्थ्यहानिकर बन जाता है, साँस लेना कष्टकर हो जाता है। हवा में ओजोन

(ozone) लेशमात्र भी नहीं रहता। यह धुआँ मिला कुहासा (smog) वर्तमान सभ्यता का एक अभिशाप है। इस धुआँ के आवर्त्त में जो जनपद पड़ते हैं, वहाँ माइक्रोवाइटम (Negative microvitum-Virus) सम्बन्धी व्याधियाँ उल्कावेग से फैल जाती हैं। वर्तमान विश्व में फ्लू-वर्गीय इन्फ्लुएंजा और कंजंक्टिवाइटिस वर्गीय आँखों के रोग जब होते हैं तो वे बेतहासा बढ़ जाते हैं वह मुख्यतः इस धुआँ से के कारण ही होता है। नागरिक स्वास्थ्य को पुनः वापस लाने के लिए इस धुँआसे के विरुद्ध संग्राम करना ही होगा।

(मधुमालञ्च, कलिकाता, 2.8.87)

जल की विशुद्धता :

जलम्, नीरम्, तोयम्, उदकम्, कम्बलम्, पानीयम् जल के ये कतिपय पर्यायवाची शब्द हैं। जल शब्द का तत्सम रूप में ही बंगला में व्यवहार करते हैं जिसका अर्थ हैं - any kind of

water (किसी भी प्रकार का पानी)। 'नीर' का अर्थ है वह जल जो दूसरे को दिया जाता है; 'तोय का अर्थ है जो जल उपट पड़ता है, 'उदक' का अर्थ है जो जल खोदकर निकाला जाता है, 'कम्बल' का मतलब है जो जल ऊपर से गिरता है; 'पानीय' [पानी] का माने है जो जल पान करने के योग्य है; गड्ढों नदी-नालों का जल नहीं। बंगला भाषा में 'जल' और 'पानी' दोनों ही शब्द चलते हैं। 'जल' शब्द तत्सम है और 'पानी' शब्द 'पानीयम्' का तद्भव रूप है। 'जल' का अर्थ है कोई भी जल-ड्रेन का जल, पोखरे का जल, फिल्टर किया हुआ कल का जल-सभी। लेकिन (drinking water) कहने पर उसके लिए बंगला में पानीय जल या पानी होगा। याद रखोगे, किसी भी जल को पानी नहीं कहो पानी केवल उसी जल को कहोगे जो पान करने के योग्य हो। नाले-गड्ढे के दूषित जल या कल-कारखानों की गन्दगी से विदूषित नदी का जल पानी के पर्यायभुक्त नहीं है।

कुछ लोग गंगा की महिमा में बहुत उत्तेजित रहते हैं। यहाँ तक कि गंगा के माहात्म्य के बखान में अनियंत्रित होकर कुछ लोग यह भी कह दिया करते हैं कि अन्य सभी जल सड़ जाते हैं..... अन्य सभी जल में कीड़े पड़ते हैं; लेकिन गंगाजल में वैसा नहीं होता। यह बात बिल्कुल सही नहीं है। जैसे और जल हैं, गंगाजल भी वैसा ही है। आजकल अनेक नदियों का जल जिस प्रकार प्रदूषित हो रहा है, गंगाजल भी उसी प्रकार प्रदूषित हो रहा है। कलकता की गंगा, विशेषकर आदिगंगा का जल केवल पीने के ही अनुपयुक्त है, ऐसी बात नहीं है, स्नान के भी अनुपयुक्त हैं। लेकिन हाँ, अनेक नदियों का जल पर्वतविधौत है। इसलिए उसमें नाना खनिज सम्पदाओं का मिश्रण रहता है।

उस तुलना में साधारण कुएँ का जल या कल के जल की अपेक्षा नदी के जल में गुण अधिक रहते हैं। नदी का जल यदि साफ-सुथरा हो, तो स्नान के लिए [यहाँ तक कि कुछ मामलों में

पीने के लिए भी] बहुत अच्छा होता है। दीर्घपथ की पदयात्री गंगा अनेक उपनदियों के, अनेक खनिज विधौत जल से सम्पन्न है। इसलिए गंगा के जल में या गंगा की शाखानदियों के जल में कुछ अतिरिक्त गुण हो भी सकते हैं। लेकिन [वास्तविक अवस्था के परिप्रेक्ष्य में] किसी नदी के जल के सम्बन्ध में पाखण्ड न करना ही अच्छा है। [वैसा न करके आन्तरिक मनोभाव लेकर गंगाजल विदूषण परिकल्पना को-केवल कागज-कलम में न रखकर सही तरीके से रूपायित करना होगा। तभी देश का और लोगों का वास्तविक कल्याण होगा]।

वर्षा के ताजे पानी में हाइड्रोजन मोनोक्साइड को छोड़ अन्य कोई भी घातक या खनिज वस्तु नहीं के बराबर कहा जा सकता है। और उसी कारण वह पेय या पानीय के रूप में अनुपयुक्त है। यह जल शरीर के रक्त संचालन में और पाचन क्रिया में वैसी कोई सहायता नहीं कर सकता। वही जल रक्त-संचालन में और

पाचन क्रिया में अधिक सहायता करता है जो मित्र-धातव या मित्र-खनिज सम्पदा से समृद्ध है। बाँकुड़ा और पुरुलिया जिलों में मुख्यतः और गौणतः पश्चिम राढ़ में सर्वत्र कूप का जल, नदी का बालू-निम्नस्थ जल (चुँइयाँ) खनिज-समृद्ध रहने के कारण उस जल का स्वाद भी अच्छा है। अच्छे जल के वर्णन में कभी-कभी कहा जाता है जो जल वर्णहीन, गंधहीन, स्वादहीन होता है, वही जल अच्छा जल है। किन्तु यह बात सही नहीं है। जिस जल में खनिज सम्पदा है, उसमें थोड़ा वर्ण तो आ ही सकता है, स्वाद तो आएगा ही, कभी-कभार कोई खनिज गंध भी रह सकती है।

असल में अच्छा जल कहने का तात्पर्य उससे है जो रोगबीजाणु-मुक्त हो और उसमें नेगेटिव माइक्रोवाइटा नहीं के बराबर हो। बाँकुड़ा जिले का खातड़ा का दूधिया झरना का जल थोड़ा सफेद है और वह जल खनिज सम्पदा से पूर्ण है। राढ़ (बंगाल) का यह एक अच्छे स्तर का जल है। पुरुलिया जिले के

झालदा-जयपुर-आड़सा-बागमुण्ड़ी थानों के जल के गुण की तुलना नहीं है। लेकिन वे स्वयं वर्णहीन-स्वादहीन-गंधहीन नहीं हैं। वीरभूमि के पश्चिमांश से दक्षिण-पूर्व में नान्नूर थाना तक भू-गर्भ के शिलास्तर पर संचित गंधक है, उसके फलस्वरूप उस अंचल के जल का स्तर बहुत अच्छा है। कूपों से कहीं-कहीं गर्म जल निकल आता है। जल में थोड़ा-बहुत गंधक की गंध भी है-जबकि वह जल पानीय के रूप में अच्छा है और चर्मरोगों का प्रतिषेधक है। किन्तु यह जो वर्षा का जल है जो बहुत से अच्छे अच्छे कामों में (जैसे खेतीबारी वगैरह) और औषधार्थ व्यवहृत होता है। लेकिन पीने के उपयुक्त नहीं है। [वर्षा के जल से पुष्ट नदी का जल या जलागार में संचित वर्षा के जल में चूँकि खनिज सम्पदा के मिश्रित होने का मौका मिलता है, इसलिए उन मामलों में यह बात प्रयोज्य नहीं है]

(मधुकोरक, कलिकाता, 21-2-87)

जिस जल में धातव या खनिज वस्तुएँ हैं उसे वकमंत्र (distilling retort) के द्वारा चुआई करने पर (distillation) हम लोग जो डिस्टिल्ड वाटर पाते हैं, वह भी औषधि के रूप में उत्तम तरीके से व्यवहार किया जा सकता है और किया जाता भी है। लेकिन पेय के रूप में यह जल बिल्कुल अनुपयुक्त है.... वर्षा के जल से भी अनुपयुक्त।

जलसम्पदा का संरक्षण :

निकट भविष्य में पृथ्वी के अनेक भागों में तीव्र जल संकट दिखायी देगा। पृथ्वी के अधिकांश स्थानों में भूगर्भस्थ जल के अत्यधिक व्यवहार के फलस्वरूप मरुभूमि तैयार होने जैसी परिस्थिति बन गयी है। भूगर्भस्थ जल के नीचे चले जाने का अर्थ ही है भूपृष्ठ के आसपास की मिट्टी का सूख जाना जिसके फलस्वरूप पेड़-पौधे भी सूखकर मर जाते हैं। राजस्थान के अनेक भागों में ठीक ऐसा ही हुआ है। लोगों ने अतीत में जल अकाल

और सूखे के कवल में पड़कर बहुत कष्टभोग किया है और भविष्य में यदि उस मामले में उपयुक्त व्यवस्था न ग्रहण की जाय तो और भोगेंगे। इस परिणति से बचने का एकमात्र उपाय है- अविलम्ब जल सम्पदा के संरक्षण के लिए एक विकेन्द्रित परिकल्पना को रूपायित करना।

एक साधारण नियम मानकर चलना होगा कि भूगर्भस्थ जल की तुलना में भूपृष्ठ के जल के व्यवहार को अधिक प्राधान्य देना। [नजर रखनी होगी ताकि] भू-पृष्ठस्थ जल के परिमाण को अविलम्ब बढ़ाकर दो गुना किया जाय। लेकिन सबसे अच्छा हो यदि दस गुना बढ़ाया जाय। बरसात की जलधारा का संचय करके रखने की व्यवस्था करनी होगी। [वर्षा की जलधारा का प्रधान अंश ही नदीवाहित होकर समुद्र में गिरकर नष्ट हो जाता है]। प्रथम पदक्षेप होगा वैसे पोखर, नाले, बाँध, सायर, नदी और बड़े जलागार - जो वर्तमान में जलसंचय के लिए व्यवहृत होते हैं

उनकी गहराई को बढ़ाना। द्वितीय पदक्षेप है - इस स्टोरेज (जलभंडार) के सुविधा प्राप्त इलाके को बढ़ाना। (इसके साथ ही पूरे देश में) अनेक छोटे-छोटे पोखर, बाँध (Check dam), नाले, सायर और जलागार तैयार करने होंगे। तृतीय पदक्षेप (नदी, नाला, पोखर, बाँध-इनकी) चारों ओर तथा अन्य जगहों पर गाछों की संख्या पर्यायक्रम से बढ़ाते जाना। [इसलिए जल संरक्षण व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण पक्ष है व्यापक रूप से वन-सर्जन करना]'

(मधुमालञ्च, कलिकाता, 25-3-89)

अरण्य-रचना :

सुन्दरवन अंचल के अधिकांश गाछ सस्ती प्रजाति के हैं। अच्छे और कीमती गाछ हैं ही नहीं - ऐसी बात नहीं है, लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है। जलपाईगुड़ी के वनांचल में अधिकांश गाछ अच्छी प्रजाति के हैं। लेकिन काफी सस्ते गाछ भी हैं। किन्तु बाँकुड़ा और पश्चिम राढ़ के वनांचल के अधिकांश गाछ साल या

साल वर्गीय हैं। ये सभी बहुत कीमती गाछ हैं। इसलिए सुन्दरवन इलाके के एक वर्ग कि०मी० इलाके से जो आय होती है, जलपाईगुड़ी के वनांचल से उससे 8 से 10 गुनी अधिक आय होती है। इधर जलपाईगुड़ी वनांचल के 1 वर्ग कि०मी० से जो सालाना आय होती है, राढ़ के वनांचल से आय होती है उससे भी ड़ेढ़ से दो गुनी अधिक। (पहले) जंगल सुविन्यस्त और सुरक्षित थे। (आज) राढ़ के ... केवल राढ़ के ही नहीं, पूरे बंगाल में सरकारी अरण्य समाप्त होते जा रहे हैं। इसके फलस्वरूप -

1) देश में वर्षा कम होती जा रही है।

2) बाढ़ में इजाफा हो रहा है।

3) भूमिक्षय बढ़ रहा है।

4) वन सम्पदा का ह्रास होता जा रहा है।

5) पशु-पक्षियों की संख्या कम हो जाने के कारण उद्भिद, जंगली जीव और मनुष्यों का पारिस्थितिक सामंजस्य नष्ट हो चला है।

6) वायु प्रदूषित हो रही है।

7) वायुमंडल में ऑक्सीजन का अनुपात भी कम होता जा रहा है।

8) वातावरण में विषाक्तता बढ़ती जा रही है।

9) कर्कट रोग बढ़ रहा है।

10) मस्तिष्क रोग हृदयरोग और चक्षुरोग बढ़ रहा है।

11) जल का स्तर नीचे जा रहा है।

12) वापी, कूप, तड़ागादि की जलधारण क्षमता ह्रास को प्राप्त हो रही है।

13) लोगों की चित्तभूमि में सरसता और भावमाधुर्य क्रमशः अपसृटत होते जा रहे हैं।

14) मानसिकता में रूक्षता द्रुतगति से बढ़ रही है।

[ये बातें समस्त पृथ्वी के लिए प्रयोज्य हैं]

लोगों के प्रयोजन को मिटाने के लिए, खेती की जमीन बढ़ाने के लिए कल कारखानों के विस्तार के लिए क्या किया जाता है? तो बड़े-बड़े जंगलो को काट डाला जाता है। किन्तु उन जंगलों के जीव, जंगली जीव कहाँ जायेंगे यह सोचा नहीं जाता। अतः हाथी, बाघ इत्यादि शहर, गाँव में आकर जमा हो जाते हैं। लोगों को मारते हैं, घर-द्वार नष्ट करते हैं। क्यों करते हैं? बचने के तकाजे से करते हैं। उनके वासस्थानों अरण्यों को बरबाद कर दिया है, वे जायेंगें कहाँ? थोड़ा सोचकर यह नहीं देखा कि उनके वासस्थान की वैकल्पिक व्यवस्था करनी होगी नहीं वैसा नहीं सोचते। जंगलों को काटकर समाप्त कर देते हैं। सोचते नहीं कि जंगलों को काटने के फलस्वरूप जीवजगत्, उद्भिद जगत और मनुष्य जगत के बीच संतुलन नष्ट हो रहा है। और यह भी नहीं

सोचते कि इस जीवजगत् और उिद्भद जगत को ध्वस्त करके लोगों को लाभ नहीं; हानि ही होगी।

(कलिकाता 22-3-82)

मनुष्य को यदि बचना है, जीवजगत् को यदि बचाना है, बाह्य सौम्यश्री को यदि अव्याहत रखना है, तो जंगलों को बचाना ही होगा। जंगल जितने मूल्यवान सम्पदा से आकीर्ण रहते हैं, मनुष्यों, पशु-पक्षियों को वैयक्तिक लाभ उतना ही अधिक होता है। वनों की रचना की किसी भी विज्ञानसम्मत परियोजना में दो पहलुओं का रहना उचित है- निविड़ वन-सर्जन और विस्तृत रूप से वन-सर्जन। [गाछ काटने के लिए नियम होने चाहिए।] पूर्णता पर पहुँचने के बाद ही चुन-चुन कर गाछों को काटना उचित है और उन्हें बेचना उचित है (अथवा अन्य कामों में लगाना उचित है)।

(कलिकाता 14-09-82 और 25.03.89)

प्राणीसम्पदा का संरक्षण:- गैंड़े क्या अवलुप्ति के पथ पर हैं? सुप्राचीनकाल के जो जीव मरणोन्मुख होकर आज भी किसीतरह टिके हुए हैं उनमें अन्यतम हैं गैंड़े। वर्तमान पृथ्वी के जीवित प्राणियों में से इसका चमड़ा सबसे मोटा और खुरदरा होता है। चमड़ा खुरदुरा होने के कारण इसे गैड़ा कहा जाता है। यह प्राचीन जीव आइनोसोस, बुटोसोरस के समकालीन न होने पर भी प्लायोसिन युग के कुछ पूर्व ही यह जीव पृथ्वी पर आया था। प्राचीनकाल के गैंड़ों का आकार था अति वृहत्। सींग थे दो। प्राचीनकाल के गैंड़ों की विभिन्न प्रजातियाँ रहते हुए भी आधुनिक काल में इनकी तीन प्रजातियाँ हैं- एक श्रृंगी गैड़े, दो श्रृंगी और क्षुद्राकृति गैंड़े।

एक समय उत्तर-पूर्व भारत के वृष्टिवहुल विस्तीर्ण अंचल में इन गैंड़ों का वास था। बंगालीस्तान में प्राय सभी जगह ये गैंड़ें लाखों लाख न सही, हजारों हजार चरते-फिरते थे। जलपाईगुड़ी के

दुआर अंचल में जब मनुष्यों का बसना नहीं हुआ था, उस समय यहीं पर थे सर्वाधिक संख्या में गैंड़े, विशेषकर इस जिले के हाँसीमारा अंचल में उसके बाद पूर्वी रंगपुर और रंगपुर में रंगपुर जिले के नीलफामरी इलाके में आज से सवा सौ वर्ष पहले प्रचुर संख्या में गैंड़े थे-एक श्रृंगी और दो श्रृंगी दोनों ही थे। क्या केवल उत्तर बंगाल ? - राढ़ के साहेबगंज जिले, वीरभूमि जिले, दुमका जिले के राजमहल पहाड़ में आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले सबाई घास के जंगल में प्रचुर संख्यक अति वृहत् अजगर और लाखों लाख मैने। आज उस अजगर-मैनों के दल के साथ गैंड़ों का दल गया कहाँ! अजगरों को मारकर उनकी चर्बी को घी के साथ मिलावट कर दी। मैनों को पकड़कर मनमाने तौर पर पिंजड़ो में बन्दकरके उनकी संख्यावृद्धि को रोक दिया है। गैंड़ों की हत्या करके उसके कठिन और कठोर चर्म के आवरण के कोमल मांस का भक्षण कर लिया।

गैंड़े शक्तिशाली जीव होते हुए भी आँखों से बहुत कम देखते हैं। इसलिए गैंड़ों की हत्या करना आसान है। देखने में भीषण होते हुए भी गैंड़े नरम मन वाले जीव हैं। किसी भी जन्तु-शिशु को, विशेषकर मानव शिशु को गैंड़े बहुत प्यार करते हैं। लेकिन विकट दर्शन होने के कारण व्यर्थ ही डरकर लोगों ने उसकी हत्या की है। आज से एक सौ वर्ष पहले सुन्दरवन में क्षुद्राकार गैंड़े थे। लोगों ने उन्हें खाकर समाप्त कर दिया है। अभिजात परिवार के कायस्थ लोग अतिथियों को गैंड़े का मांस परोसना एक श्लाघा की चीज मानते थे। गैंड़े का मांस था उनदिनों के बंगालियों का एक प्रिय खाद्य। सुनने और सोचने से आश्चर्य लगता है कि लोगों ने केवल सींग और चमड़े के लोभ से ही गैंड़ों का वध नहीं किया, मांस के लोभ से भी किया है। लोग खा खाकर ही बंगाल के गैंड़ों को लगभग समाप्त कर चले हैं।

लोगों की धारणा थी (शायद आज भी है) कि गैंड़े की श्रृंगजात औषधि व्यक्ति को पुर्नयौवन प्रदान करती है। गैंड़े का सींग नपुंसकता की दवा है। लोगों की एक धारणा है कि गैंड़े के खड्ग पत्थर के पात्र पर या शिला पर रगड़ने से जो चन्दन जैसी चीज प्राप्त होती है वह पुरुषत्वहीनता (impotency) रोग की दवा है। इस धारण के वशीभूत होकर आज भी अनेक लोग चोरी-छिपे (Poachers) गैंड़ों की हत्या करते हैं। गैंड़ो के निर्भय कानन (Sanctuary) के अधिकारियों को इसके लिए काफी असुविधाओं में पड़ना पड़ता है। गैंड़े के सींग का औषधीय गुण कोई प्रमाणित सत्य नहीं है या तथ्य नहीं है। एक गलत धारणा के वशीभूत होकर किसी निरीह प्राणी को समाप्त कर देना वीभत्स चीज नहीं है क्या !

हालत ऐसी हो गयी है कि कुछेक जो एक श्रृंगी गैंड़े हैं वे कभी भी धरापृष्ठ से लुप्त हो जायेंगे। असम के कांजीरांगा

अभयारण्य में उनकी संख्या कुछ बढ़ने पर भी साधारण वनभूमि पर उन्हें खास देखा नहीं जाता। गैड़ों की संख्या घटकर आज अंततोगत्वा वे असम, उत्तर-बंगाल और नेपाल में सीमित हो गए हैं। अनुमान है कि ठीक वर्तमान में इनकी संख्या तीन सौ के लगभग है। उनमें से आधे असम में, लगभग एक चौथाई भाग नेपाल की तराई में और करीब एक चौथाई भूटान और जलपाईगुड़ी में हैं। आज बंगाल में गैंड़ों की संख्या यदि एक सौ हो तो कहना होगा कि वह बहुत अधिक है। गोरुमारा, जलदापाड़ा के बाहर और कितने गैंड़े बचे हुए हैं, हो! हो सकता है वे भी अंतिम घड़ियाँ गिन रहे हों। भारत और नेपाल के इन थोड़े कतिपय संख्यक गैंड़ो को छोड़कर एशिया में और कहीं भी गैंड़े नहीं हैं।

जिन जीवों का वर्तमान में उपयोग मूल्य है, लोग उन्हें जिलाए रखते हैं। जैसे गोरू (गाय-बैल) को जिलाए रखते हैं। आज घोड़े का उपयोग मूल्य समाप्त हो गया है। इसलिए आज घाट-बाट

में घोड़े दिखायी नहीं पड़ते। [कुछ घोड़े दिखायी पड़ते हैं रेस के मैदान में और कुछ को जिलाए रखा जाता है उनके शरीर के माध्यम से विशेष प्रक्रिया द्वारा मनुष्य के प्रयोजन की औषधि-इन्सुलिन तैयार करने के लिए। कुछ दिन बाद संभवतः ये प्रयोजन भी समाप्त हो जायेंगे। कुछ दिनों के बाद केवल चिड़ियाघरों में जाकर घोड़ों को देखना होगा। अन्यत्र घोड़े नहीं मिलेंगे। वह लोगों के प्रयोजन नहीं मिटा रहा है, मनुष्य के लिए उसका उपयोग मूल्य समाप्त हो गया है। इसीलिए लोग उसे अब जिला नहीं रहे हैं। जब रासायनिक पद्धति से सिन्थेटिक दूध का लोग आविष्कार करेंगे तब वे गौ-पालन छोड़ देंगे। उस दिन लोग गायों को हो सकता खिलाए बिना ही मार देंगे अथवा खुद ही उन्हें खा लेंगे। हालत यही है। मनुष्य के लिए उपयोग मूल्य जिसका नहीं है, उसे जीने का अधिकार नहीं है-यह बात कौन कहता है, यह बात बोलने का नैतिक अधिकार किसी को नहीं है। जीने का अधिकार केवल मनुष्य को है, अन्य मनुष्येतर जीवों को नहीं; ऐसी बात कभी भी नहीं कही जा सकती। यहाँ तक कि जिसकी उपयोग मूल्य की बात

तो कौन कहे, नेगेटिव यूटिलिटि वैल्यू (ऋणात्मक उपयोग मूल्य) है, उनके लिए भी विनाश न करके उपयुक्त परिवेश में उन्हें जिलाने की चेष्टा करनी होगी ताकि वे मनुष्यों के बीच हानिकारक न बन जाएँ, उसके लिए उपयुक्त सुरक्षा व्यवस्था रखनी होगी। [यह मनुष्यों का ही दायित्व है]।

(कलिकाता-22-3-82)

अध्याय-13

माइक्रोवाइटा (अणु जीवत)

सिद्धान्त पक्ष

अणु जीवत-भूमा भौतिक धातु का रहस्यजनक उत्सारण। मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवणता यह है कि वह जिस वस्तु को नहीं जानता उस विषय के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर देता है या कहता है कि यह एक विमूर्त भाव मात्र विषय है। केवल उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जो कुछ इन्द्रिय ग्राह्य या प्रत्यक्ष है।

मैं जिन सत्ताओं के विषय में बता रहा हूँ वह मानसिक और भौतिक दोनों स्तरों की ही वस्तु में हैं। भौतिक स्तर पर वे अणु विद्युत अणु या इलेक्ट्रोन से भी सूक्ष्मतर हैं। उसी तरह मानसिक स्तर पर भी वे चित्ताणुओं से भी सूक्ष्मतर हैं। इन सत्ताओं को ही मैंने माइक्रोवाइटम या अणुजीवत् नाम दिया है।

इनकी संरचना प्रणाली जीव पंकीय के अनुरूप नहीं है। इस कारण इनके साथ जिन अंगाराणु (कार्बन मॉलेक्यूल्स) या अंगार परमाणु (कार्बन ऐटम्स) को प्राण की प्राथमिक अवस्था कह कर

गिना जाता है उन अंगाराणुओं या अंगारपरमाणुओं के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं है। अवस्थिति के विचार से इस माइक्रोवाइटम का अधिष्ठान चित्राणु (एक्टोपलाज्म) और विद्युत-अणु के मध्य स्थान में है। असल में वह चित्ताणु भी नहीं है और विद्युतअणु भी नहीं है। मनुष्य जब यह जानता है कि "कुछ है" पर उसकी मौलिक विशिष्टता या अन्यान्य आनुषंगी तथ्य आदि के बारे में जानकारी नहीं रखता तब वह उसे रहस्यजनक कहकर अभिहित करता है। इस तरह माइक्रोवाइटम को भी रहस्यमय कहकर पुकार सकते हैं।

माइक्रोवाइटम में सबका घनत्व या सूक्ष्मत्व की मात्रा बराबर नहीं है। इनमें कुछ-कुछ बहुत ही अधिक उन्नतमान के अणुवीक्षण यन्त्र के अन्दर आ जाते हैं और कुछ नहीं आते परन्तु उनकी क्रियागत अभिव्यक्ति इतनी सूक्ष्म है कि वे सीधे मनुष्य की इन्द्रियानुभूति के घेरे में नहीं आते हैं। केवल एक विशेष प्रकार की

इन्द्रियानुभूति की परिधि में आ सकते हैं। जो असल में सीमित क्षेत्र में मानासानुभूति का इन्द्रियानुभूमिगत प्रतिफलन है।

विशेष कोटि की इन्द्रियानुभूति के केवल वे ही अधिकारी हैं जो मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर बहुत उन्नत अवस्था को प्राप्त हैं। माइक्रोवाइटम में जो कुछ स्थूल हैं और अणुवीक्षण की परिधि में आ पाते हैं मनुष्य उन्हें वाइरस कहते हैं। यह वाइरस एक अस्पष्ट शब्द है माइक्रोवाइटम - वाइरस नहीं।

यह माइक्रोवाइटम एक ज्योतिष्क से दूसरे ज्योतिष्क अर्थात् विश्वब्रह्माण्ड में सर्वत्र अबाध गति से विचरण करते रहते हैं। ग्रह से ग्रहान्तर में, कहा जा सकता है, ग्रह उपग्रह, नीहारिका, छायापथ नक्षत्र उल्काओं का अतिक्रमण कर, वे अबाध रूप से गतिमान रहते हैं। अन्यान्य प्राणीन और भाव सत्ताओं की तरह

इनकी भी कुछ मौलिक विशेषतायें हैं। जैसे अस्तित्व रक्षा, संख्यावृद्धि और मृत्यु।

हर एक सत्ता को चलने-फिरने के लिए एक माध्यम की जरूरत पड़ती है। वस्तुतः चलमानता या गतिशीलता का अर्थ ही किसी माध्यम से चलमानता है। किसी-किसी क्षेत्र में चलमानता के लिए एकाधिक माध्यम भी हो सकते हैं। ये माइक्रोवाइटम भी एकाधिक माध्यमों की सहायता लेते हैं। शब्द के माध्यम से, स्पर्शगत तन्मात्रा द्वारा, नाना प्रकार के आकार व आकृति के माध्यम से, गन्ध के माध्यम से और उससे सूक्ष्मतर माइक्रोवाइटम तो केवल आइडिया या भावतंरगों के माध्यम से फैल जाते हैं। कोई एक निर्दिष्ट आइडिया उन्नत धारणा वाले व्यष्टि के माध्यम से एक निर्दिष्ट ग्रह में तीव्रतर गति या वर्द्धित गति से फैल सकता है। "प्राण" का उत्स यह माइक्रोवाइटम है। इस माइक्रोवाइटम की व्यापक गवेषणा की जरूरत है। यह कार्य अवश्य ही बड़ा है। फिर

भी मैं यही कहूँगा कि अविलम्ब इस विषय की लेकर गवेषणा की जरूरत नहीं है तो आज के समाज की अनेक प्रकार की समस्याओं का समाधान नहीं हो पायेगा।

हम मनुष्यगण बौद्धिक शक्ति के बहुत कुछ अधिकारी हैं। मैं सोचता हूँ, बल्कि मैं तो इस विषय पर स्थिर निश्चयी हूँ कि वह दिन और अधिक दूर नहीं जब मनुष्य इस माइक्रोवाइटम पर पूरी तरह से नियन्त्रण पा सकेगा।

अतीतकाल में इन माइक्रोवाइटम की सामूहिक संरचना के विषय में ऋषि मुनियों ने कहा था कि ये सात भागों में विभक्त हैं- यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर, किन्नर, प्रकृतिलीन, विदेहलीन और सिद्ध। उन्हें आपेक्षिक सूक्ष्मता व स्थूलता की मात्रा के विचार को ध्यान में रखकर विभाजित किया गया था। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक साधना के द्वारा हमारा मन सर्वतोभाव में सर्वस्तर पर

ही होगा और उस विकशित मन में व्यापक और गम्भीर धारण क्षमता का भी जागरण होगा, उसी के उन्नतर धारणा क्षमता के द्वारा मनुष्य माइक्रोवाइटम के सम्बन्ध में सर्वविधि रहस्य को जान लेंगे।

(रेनेसांप्रवचन - 31 दिसम्बर 1986)

जो अणुवीक्षण के द्वारा पकड़े नहीं जाते परन्तु तन्मात्राओं से अनुभूत होते हैं उनकी एक गोष्ठी का समादृत रूप यक्षों का है। इसका अधिक्षेत्र मानव मन है। ये मनुष्य के मन में धनसञ्चय की आकुति जगा देते हैं। संचय की वृत्ति की कुछ दैशिक और पात्रिक प्रयोजन है पर अधिकांश में यह एक मानसिक व्याधि है।

गन्धर्व वे माइक्रोवाइटम हैं जो मनुष्य के मन में ललित कला के प्रति स्पन्दन जगाते है। स्थूल जगत को भावजगत में समाहित कर देते हैं। इस कारण ललित कला को गन्धर्व विद्या

कहा जाता है। जब मनुष्य नाच-गान में उन्मत होते हैं तब उनकी चित्तभूमि पर ये गन्धर्व अपना दखल जमा लेते हैं। ये ही स्थूल जगत् के तारों को चेतना लोक के बेतार से संयुक्त कर देते हैं।

किन्नर वे माइक्रोवाइटम हैं जो मनुष्य के मन में सौंदर्य की अभीप्सा जगाते हैं, ये भी माइक्रोवाइटम के एक प्रकार के समाहार हैं। ये किन्नर यदि मनुष्य के मन को चेतन स्तर की ओर न ले जा कर जड़ की ओर ले जाते हैं तब वे शत्रु माइक्रोवाइटम हैं और यदि मनुष्य के मन को सुन्दर से चिर सुन्दर के चरणों में समाहित करते हैं तो वे मित्र हैं।

जो माइक्रोवाइटम गुण संग्रह की आकुति जगा देते हैं उनका सम्मिलित रूप 'विद्याधर' है। इन गुणसंग्रहों को आकुति सत्कार्य या परमपुरुष के गुण कीर्तन में व्यय किया जाय तब वे मनुष्य के कल्याण की प्रेरणा के कारण बन जाते हैं। तब वे मित्र हैं।

यदि वे प्रतिष्ठा की लिप्सा से प्रेषित होते हैं तो वे शत्रु माइक्रोवाइटम कहलाते हैं।

यदि कोई मनुष्य जड़भोग की तरफ दौड़ा चलता है तब समझना होगा कि इसके एक विशेष प्रकार के माइक्रोवाइटम कार्य कर रहे हैं जिनका नाम प्रकृतिलीन है। यदि मनुष्य सत्संग नहीं करता है, सद्ग्रन्थों का पाठ नहीं करता, परानुरक्ति में अभिषिक्त नहीं होता तब उसके मन में ये प्रकृतिलीन माइक्रोवाइटम अपना घर बना लेतें हैं जो मनुष्य के शत्रु रूप हैं और ये मनुष्य की समग्र सत्ता को ही जड़ता में रूपान्तरित कर देते हैं।

"विदेहलीन मनुष्य के मन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर दौड़ा लिए जाते हैं। परमपुरुष से उन्हें बहुत दूर ले जाते हैं। ये मनुष्य के मन में चांचल्य की सृष्टि करते है। उन्हें दिशाभ्रष्ट करते हैं और दिग्भ्रान्त बना डालते हैं।

सप्तम प्रकार के माइक्रोवाइटम "सिद्ध" हैं। ये सिद्ध साधना सन्द्वप्ति का मिलित नाम है। यह मनुष्य की जड़ता के ऊपर मानसिक और मानसिकता को चिति सत्ता की ओर प्रेषित करते हैं। जिनके मत में थोड़े परिणाम में भी चितिसत्ता की एषणा है ये उसकी एषणा को और भी बढ़ा देते हैं।

(रा.च.)

देखोगे कि चढ़ती उम्र का लड़का क्रिकेट खेलते-खेलते न जाने उसके मन में क्या कुछ हुआ कि उसने सब कुछ छोड़ दिया और निकल पड़ा। राजा का बेटा सुख सुविधाओं को छोड़कर हठात मनुष्य के दुःखों का कारण खोजने के लिए बैरागी बन जाता है। यह सब उन सिद्धों की अनलस कर्मचेतना की फलश्रुति है।

कृमि निर्दिष्ट पंचभूतों द्वारा और माइक्रोवाइटम हैं। इस कारण स्वाभाविक अवस्था में मनुष्य के लिए उचित है कि वह पानी और हवा की विशुद्धि की ओर विशेष ध्यान दे। मिट्टी की विशुद्धि की तरफ भी ध्यान देना जरूरी है। वायु और जल के विदूषण के कारण आजकल ये कृमि विशेषकर रोग बीजाणु क्रमशः बढ़ते जा रहे हैं और ये संख्यावृद्धि मनुष्य की नियन्त्रण शक्ति से बाहर चली जा रही है।

सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम प्रजाति के माइक्रोवाइटम स्थूल मानस भूमि पर (काममय जगत् में) कार्य करते रहेंगे। सामूहिक शुभचिन्ता उनकी गति में अवरोध उत्पन्न कर सकती है। इस कारण सामूहिक जीवन में मनुष्य की उन्नत मानसिकता तथा आध्यात्मिकता की चर्चा अनिवार्य मालूम पड़ रही है। तीक्ष्ण धी और उन्नत आत्मायुक्त मनुष्य अपनी शुभभावना के माध्यम से अराति माइक्रोवाइटम को ध्वंस और प्रतिहत कर सकते हैं। पर

पापविद्ध मनुष्य यदि अपनी चिन्ताभूमि पर नित्य नूतन माइक्रोवाइटम (शुरु) तैयार करते रहें तो सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम प्रगति के माइक्रोवाइटम के उत्पति की संभावना रह ही नहीं जाएगी। इस चिन्ता के माइक्रोवाइटम मनुष्य की मानसिक मृत्यु लाकर केवल ग्रह के स्तर पर ही नहीं विश्व ब्रह्माण्ड के स्तर पर भी अनर्थ ला सकते हैं।

(श०च० 10/180)

अंगारात्मक और नान कार्बोनिक आभोग के मध्य यदि एक सुन्दर सामञ्जस्य या सन्तुलित सामञ्जस्य लाया जाय तो धूल भरी धरती पर स्वर्ग की सुषमा उतर आएगी। नव्यनीति चेतना के रास्ते पर मनुष्य तीव्रगति से साधिकार आध्यात्मिक उन्नति करेगा। नान कार्बोनिक आभोग की सहायता से मनुष्य अणु और परमाणु के अभ्यन्तर भाग में भी तीक्ष्ण धी शक्ति के सम्प्रयोग के द्वारा बहुत कुछ आविष्कार कर पाएगा। मित्र माइक्रोवाइटम की

सहायता से वह उनके चित्ताणुओं को तोड़ सकेगा और चिद् धातु में रूपान्तरित कर सकेगा।

आज का मनुष्य माइक्रोवाइटम को काम में लगाने का कौशल नहीं जानता। परमपुरुष किसी एक स्थान से अजस्र माइक्रोवाइटम का व्यवहार करते चले आ रहे हैं, विभिन्न ज्योतिष्कों में विभिन्न प्रकार से वैयष्टिक तथा सामूहिक सत्ताओं की प्रगति बढ़ाने के लिए। वह परमसत्ता ही है, जो माइक्रोवाइटम को काम में लगाने का कौशल जानते हैं और आध्यात्मिक साधकों को वह काम में लगाने की शिक्षा भी दे सकते हैं। वही परम गुरु हैं। वे सबके साथ सम्पर्क रखते आ रहे हैं और माइक्रोवाइटम में सहायता से सबको आध्यात्मिक सम्प्राप्ति में सहायता प्रदान करते हैं।

(26.03.80)

अध्याय-14

माइक्रोवाइटा (अणुजीवन) क्रियापक्ष

[जैसा कि पूर्व प्रसंगों में स्पष्ट हुआ है, मनुष्य का स्वास्थ्य शरीर, मन, प्राण और आत्मा के सम्यक् सन्तुलन पर ही निर्भर है। यह सन्तुलन भौतिक चिकित्सा से, मानसिक और आत्मिक (आध्यात्मिक) साधना से और समन्वित चिकित्सा विधान के अनुसार इन सभी पद्धतियों के समन्वित स्वरूप से पूर्णतः बनाये रखा जा सकता है। यह माइक्रोवाइटा (अणुजीवत्) चिकित्सा व्यवस्था से ही संभव है। माइक्रोवाइटा तन्मात्राओं के माध्यम से कार्यरत होते हैं जो रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श आदि के रूप

में मानव सत्ता से सदा सम्पर्कित रहते हैं। अज्ञात कारणों से अज्ञात व्याधियाँ जिस तेजी से आ रही हैं, उससे ऐसी चिकित्सा व्यवस्था की प्रबल आवश्यकता प्रतीत हो रही है जिससे सम्पूर्ण आधि-व्याधि समूह का प्रतिषेध निषेध और निवारण किया जा सके। भविष्य द्रष्टा श्री प्रभातरंजन सरकार ने इसीलिए माइक्रोवाइटा के सिद्धान्त और उपयोग की व्यापक व्यवस्था प्रस्तुत की है। इस प्रसंग में यह अध्याय उनके एतद्सम्बन्धी प्रवचनों का सारभूत संक्षिप्त अंश के रूप में प्रस्तुत है।

मानव अस्तित्त्व किंवा कोई भी जैविक अस्तित्त्व मुद्रा नैसर्गिक मानसिक प्रवृत्ति पर आधृत होता है। मन अधिकृत शरीर का उपयोग करने के लिए अधिकृत है। इसीलिए वह सोचता है 'मेरा' शरीर। आत्मा मन के इस सोचने समझने का द्रष्टा है। किन्तु आत्मा यदि यह देखना बन्द कर दे तो मन निष्क्रिय हो जाएगा। मनुष्य की दस इन्द्रियाँ हैं और एक अन्तःकरण। अन्तःकरण मन

का ही अविच्छेद्य अंग है और शरीर से भी सम्पृक्त है। इसके माध्यम से ही मन क्षुधा, तृष्णा आदि का अनुभव करता है। इस अन्तः करण का ही दूसरा भाग बहिःकरण है जो इन्द्रियों के माध्यम से कार्यरत होता है।

प्रकृतिस्फुरण अन्तःकरण से होता है। यह अन्तःकरण चेतन और उपचेतन के समन्वय से बनता है। जिससे चिन्तन स्मृति आदि जुड़ा हुआ रहता है। जब अन्तःकरण कुछ करता है तो यह शरीर भी सक्रिय होता है। शरीर का रूपान्तरण भी इसी तरह होता है। इस प्रकार यह जैव मशीन (शरीर) प्रवृत्तिगत उत्प्रेरणा से परिचालित होती है।

ये प्रवृत्तियाँ अन्तर्निहित संस्कारों के अनुरूप निर्मित होती हैं और उन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति अथवा नियन्त्रण विभिन्न चक्रों (glands) से होता है। चक्रों के तरंगायित होने से ग्रन्थिरस

(harmones) क्षरण होता है। वृत्तियों की स्वाभाविक अस्वाभाविक अभिव्यक्ति (आन्तरिक या वाह्य) चक्रों के स्वाभाविक (सन्तुलित) अस्वाभाविक (असन्तुलित) रस क्षरण पर निर्भर करता है। वृत्तियों की गति से ही मानव मन की जीवन्तता प्रमाणित होती है। वृत्तियों का नष्ट होना मन के नष्ट होने का प्रमाण है।

मानव देह में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा नामक छः चक्र हैं।

थायरायिड और पैराथायोरायड क्रमशः बृहस्पति ग्रन्थि और उपग्रन्थि कहा जाता है। पीट्यूटरी ग्रन्थि माया योगिनी ग्रन्थि और पीनियल ग्रन्थि सहस्त्रार नाम से जाना जाता है। सभी चक्रों से सम्बन्धित ग्रन्थियाँ ओर उपग्रन्थियाँ हैं और वे विभिन्न वृत्तियों के नियामक हैं। ये वृत्तियाँ एक हजार हैं।

ग्रह गोचर आये जो ज्योतिष्क सत्तायें हैं उनका सम्बन्ध इन चक्रों के माध्यम से स्थापित होता है और विशेषतः अनाहत चक्र से। ये पूरा क्षेत्र सौरचक्र सौर मंडल कहा जाता है। इसी चक्र से धनात्मक (मित्र) माइक्रोवाइटा से सम्बन्ध स्थापित होता है। ऋणात्मक (शत्रु) माइक्रोवाइटा का प्रभाव यहाँ गौण रूप में ही होता है। ज्योतिष्क सत्ताओं के प्रकाश किरणों के माध्यम से माइक्रोवाइटा इस पर प्रभाव विस्तार करते हैं। यह अनाहत चक्र आग्नेय चक्र (मणिपुर) से ऊपर होता है। मणिपुर चक्र राजस शक्ति और अनाहत चक्र सात्विक शक्ति से सम्बन्धित हैं। अच्छे लोग, आध्यात्मिक लोग (साधक-साधिकाएँ) धनात्मक (मित्र) माइक्रोवाइटा प्राप्त करते हैं और उनकी प्रवृत्ति धनात्मक की ओर होती है, उनकी प्रवृत्ति धनात्मकता (अर्थात् मित्र माइक्रोवाइटा) से सम्बन्धित होते हैं। जब अधिकाधिक व्यक्ति इस धनात्मक माइक्रोवाइटा से जुड़ेंगे तो बहुसंख्यक लोगों में धनात्मक

माइक्रोवाइटा स्थापित होंगी तब उनका स्वयं का शुभ होगा और सम्पूर्ण विश्व का कल्याण होगा।

अनेकानेक ज्योतिष्क पुंज हैं जो इन ग्रन्थियों-उपग्रन्थियों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रभावित करते हैं किन्तु सर्वाधिक प्रभाव सूर्य का होता है जो अठारह प्रकाश तरंगों (सात रंगो के माध्यम से) और मंडल को प्रभावित करते हैं। इन अठारह में से दो प्रकाश तरंगे चन्द्रमा के माध्यम से आती हैं।

किसी अस्तित्व गति या कार्य में ध्वनि निर्गत होती है, और उसकी मूल ध्वनि को (एकाउस्टिक रुट) कहते हैं। इन ज्योतिष्कपुंजों की मूल ध्वनि है 'ह' अनन्त आकाशीय ध्वनि नियंत्रण बीजध्वनि । उनका प्रभाव 'क्ष' से निर्गत होता है। माइक्रोवाइटा तन्मात्राओं का उपयोग माध्यम के रूप में करते हैं।

इन सभी आकाशीय ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव को जानने की सामर्थ्य ज्योतिष आदि किन्हीं विद्याओं में नहीं है। [इन सभी प्रभावों का जानना और उनका उपयोग करना माइक्रोवाइटा विज्ञान के आधार पर ही संभव है। अतः यह एक नया विज्ञान है।

[सार संक्षेप सन्दर्भ-10-जनवरी-1999 योगा साइकोलॉजी]

अध्याय-15

परिशिष्ट

---

(1) Ear, Ache, Mumps etc.

कर्णशूल/कण्ठमाला आदि

कर्णशूल/कर्णपूर्व-कर्णशूल, Mumps कर्णपूर्व, कण्ठमाला आदि (कान का दर्द), Parotites (inflamation of the Parotid gland) कान के पास की ग्रन्थि, जिसे कर्णपूर्व ग्रन्थि कहते हैं का सूजन कहते हैं।

उपचार – कुछ परिपक्व, ताजा उजले आकन्द या (अकवन) के पत्ते लेकर शुद्ध गाय के घी में धीरे-धीरे पकावें जैसे पराठा पकाया जाता है। उसके बाद उन पकाये पत्तों से रस निकाल लें। उसमें गर्म घी मिलावें, तीन बूँद उस मिश्रण को प्रभावित कान में दिन में तीन बार डालें-सुबह शाम और सोने के पहले। जब तक रोग पूर्णरूप से छूट न जाय तक तक इसका लगातार व्यवहार करें। यह उपचार, कर्णपूर्व ग्रन्थि शोथ या कान में पीव बन जाने पर किया जा सकता है।

(2) (Eosinophilia (Polypus)

इस्नोफिलिया/पोलिपस

इस्नोफिल-यह एक कणिकीय श्वेत रक्त कोशिका है, जिसमें दो खण्डवाला एक नाभिकेन्द्र होता है, दोनों खण्ड क्रोयैटिन के एक धागे से जुड़े होते हैं। इस्नोफिलिया-रक्त में अत्यधिक संख्या में इस्नोफिलों का पाया जाना एक व्याधि है।

उपचार - थोड़ा कपूर लें और थोड़ा उड़द, इन्हें शुद्ध सरसों के तेल में कम आँच में (कम तापमान) में धीरे-धीरे, एक पतले पीतल के बर्तन में उबालें। यदि पीतल का बर्तन उपलब्ध न हो, तो लोहे, ताँबे, या चाँदी का बर्तन का व्यवहार करें। जब यह पदार्थ तैयार हो जाय तो उस उबले तेल और उड़द को एक शीशे के बोतल में रख दें, उसका कॉर्क खूब कड़ा लगायें, जिससे एकाध महीने तक रखा जा सके। यह ध्यान में रखने का है कि कॉर्क

अवश्य ही मजबूत और कड़ा लगने वाला होना चाहिये, नहीं तो कपूर उड़ जायेगा।

अब, बरगद के हरे पत्ते का एक पैकेट दोना बनायें और इस मिश्रण को उस पत्ते के पैकेट में डालें। अब एक सरसों के तेल वाला दिया (दीप) जलायें और उस बरगद के पत्तों का पैकेट दीप की अग्निशिखा पर रखें। जब वह पैकेट खूब गर्म हो जाय और उसमें रखे द्रव्य चूने लगें तब उस मिक्सचर (मिश्रण) को एक बर्तन में रख लें। अब थोड़ा गर्म पानी तैयार रखें।

जब हाथ सहने लायक तेल हो जाय तो अपने छोटी ऊँगली उस तेल में डालें, उस ऊँगली को, दोनों नासा पुटों में (दानों नाकों में) जितना भीतर जा सकें, घुसाएँ और थोड़ा मलें। ठीक से दोनों नाकों पुटों के अन्दर मलने के बाद थोड़ा गर्म पानी लें। (उतना गर्म जितना सह सकते हों) और उस पानी को दोनों नाक से खीचें

और मुँह से निकाल दें। इस पानी का व्यवहार तीन बार दोनों नाकों से करें। बदल-बदलकर, तेल और गर्म पानी का व्यवहार छः बार करें। दोनों नाकों में, तीन-तीन बार जब पानी मुँह से फेंक रहे हो तो गले में मध्यमा ऊँगली डालें। उस गर्म पानी से एक मुट्ठी भर पानी से आँखों पर छींटा कई बार डालें। इसके बाद अपना प्रातः कालीन व्यापक शौच करें।

जब तक रोग न छूटें, तब तक इस उपचार का उपरोक्त रूप में व्यवहार दिन में तीन बार सुबह, शाम, रात में सोने के पहले करें।

यदि (नाक में दर्द हो), यदि नाक, गला, फेफड़े, कमजोर हों, तो भी यह उपचार सुफल देगा।

यदि नाशाशूल (नाक के दर्द) में, नाक, गले, फेफड़े, में विशेष मांस उत्पन्न हो गये हों, जो लोग नस का बराबर व्यवहार करते हैं, उन्हें ये रोग हो जाता है। यह ठीक है कि इस रोग से रोगी मरते नहीं है। परन्तु इस रोग से कष्ट बहुत होता है। जब यह रोग दीर्घकालीन हो जाता है, तो रोगी नासागी से ग्रस्त हो जाता है।

जो लोग बीड़ी, सिगरेट पीते है, उन्हें कैंसर रोग हो जाता है। कैंसर में भी यह उपचार लाभप्रद है। परन्तु इस औषधि के उपयोग के पहले इन रोगियों को बीड़ी-सिगरेट पीना तथा नस लेना छोड़ देना चाहिये।

(3) Tonsillities टौन्सिल या गलतुण्डिका या तालूतुण्डिको का शोथ

चिकित्सा - सर्वप्रथम पाँच मिनट तक शवासन का अभ्यास करें। इसके बाद मत्स्य मुद्रा पाँच मिनट, उसके बाद,

मत्स्येद्रासन प्रतिबार एक मिनट करें। तीनों आसनों का अभ्यास एक खेप कहलायेगा।

तीन बार अभ्यास करें। उसके बाद आसनों के बाद जो मालिश करते हैं करें। फिर शवासन कम से कम 100 सेकण्ड करें। फिर थोड़ी देर टहलें और टहलने के दस मिनट के बाद थोड़ा गर्म पानी पीयें। पेशाब की नली अर्थात मूत्रेन्द्रिय से दो ऊँगली ऊपर दहिने या बाएँ जोर से दबाने पर दर्द मालूम पड़े तो हल्का गर्म पानी आधा गिलास एक चम्मच भुनी लौंग का चूर्ण मिलाकर पीयें।

(4) Boils रोम कूप शोथ/बलतोड़

उपचार - प्रायः देखा जाता है कि यद्यपि बलतोड़ का घाव पक गया है, परन्तु उसका मुँह नजर नहीं आता। उस अवस्था में तो कबूतर का ताजा विष्ठा (पाखाना), घाव पर लगाया जाय, तो वह फूट जायेगा और उसके बहने का मुँह कुछ घंटे में नजर आयेगा।

(5) Spasmodic Fits ठन के साथ दौरा/मूच्छ्र्ा

लक्षण-बच्चों में बुखार होना तथा आँख का उलट जाना। फलतः उनका मर जाना।

कुछ उपचार

1. **नागदोना के पौधे** (जो प्रायः दो फीट ऊँचा होता है, उसमें काँटे होते हैं, और बहुत कड़ा गन्ध होता है) एक बेहतरीन दवा है, स्नायु (नसों) के लिये। जब कोई बच्चा (स्पैस्मैडिक) मूच्छ्र्ा का शिकार हो तो, इस पौधे के पत्तों को पीस कर लुगदी बना लें, और उस लुगदी को बच्चे को सुँघा दें तो बच्चे की मूच्छ्र्ा का दौरा ठीक हो जायेगा। इस रोग के लिये दूसरी कोई दवा नहीं है।

2. बज्रपात से कोई बेहोश हो तो भी नागदोना के पौधे उससे बचाते हैं। (उपचार क्रम वैसा ही)

3. यदि रोगी का चेहरा, हाथ, पाँव उस पानी से धो दिया जाय, जिसमें आलू उबाला गया हो, तो उससे मूच्र्छा रुकेगी।

(6) Gout Elephantiasis and Hydrocele

Gout जोड़ों के दर्द और सूजन

Elephantiasis &श्लीपद फिल पाँव, हाथी पाँव।

Hydrocele - अण्डकोष का फूलना

उपचार - कदम के कुछ पत्ते या उजले आकन्द (अकवन) के पके पीले पत्ते (अकवन के पत्ते जब पक जाते हैं तो पीले हो जाते हैं) लिया जाय, फिर आग पर उन्हें गर्म किया जाय, और उन्हें

रोग स्थान पर लगा दिया जाय, सेंक के लिये। बाद में पत्तों के ऊपर गर्म कपड़े बाँध दें। यह रोग को दूर करेगा।

(7) Epilepsy अपस्मार मिर्गी

चिकित्सा - शलभासन, भुजङ्गासन, मत्स्यमुद्रा, सर्वांगासन, मयूरासन, व्यापक स्नान दिन में दो बार पथ्य- तेल और घी में बने भोजन एकदम मना है। सभी उबले खाद्य पदार्थ खाना उचित है। विशेषकर अनेक प्रकार की हरी सब्जियाँ जैसे पालक, बथुआ, नटे, चौला, मटर, हेलेग्ञ्चा।

चर्य-अचर्य - प्रत्येक सुबह शाम टहलना या शक्ति के अनुसार दौड़ना। यदि जरूरत हो तो किसी को साथ ले सकते हैं।

(8) Low Blood Sugar निम्न रक्त शर्करा ।

चिकित्सा - मत्स्येन्द्रासन, उत्कट कर्मकासन और पादहस्तासन। ताण्डव, पुरुषों के लिये (उचित राय के लिये आचार्य का सम्पर्क)

पथ्य - चर्बी (वसा) पदार्थ कम मात्रा में, चीनी खाना मना है। (थोड़ी मात्रा में मधु या फूल का अमृत। संरक्षित फल नहीं खाना है। मैदा कम, सम्पूर्ण गेहूँ का आटा विधेय है। खूब मात्रा में ताजे फल किसी स्वाद की भी दो काफी हरी सब्जियाँ, आलू कम। मद्यपान, तम्बाकू और ड्रग्स का व्यवहार मना है। सामिष आहार मना है। मात्र दही ले सकते हैं।

चर्य-अचर्य - तेज चलना, दौड़ना, वाञ्छनीय है। शरीर के तापमान के समान पानी से रोज स्नान करना अच्छा है।

अध्याय-16

औषधीय पौधो-औषधीय वनस्पतियाँ

अनेक प्रकार के पेड़-पौधों में औषधीय गुण हैं। कुछ पौधों के औषधीय गुण सर्वजन विदित हैं। अन्य कुछ पौधों में औषधीय गुण रहने पर भी उतने जनप्रिय नहीं हैं। फिर अनेक पौधे हैं जिनके बारे में लोग जानते ही नहीं हैं। इसलिए सभी पौधों के एक औषधीय गुण सम्पन्न पेड़-पौधों के बारे में उल्लेख किया जा रहा है।

ताड़

सूचीपत्र

ताड़ का रस (ताड़ी का फेना हुआ रस नहीं) सेंधा नमक मिलाकर रात में सोने के समय जुलपित्ती पर लगाने से जुलापिति रोग दूर हो जाता है।

-

ताड़ का ताजा रस मूत्रसार की दवा है। इसके अलावा अग्न्याशय और प्लीहा के रोग में भी ताजा ताड़ रस उपकारी है। मलेरिया रोगी को ताजा ताड़ रस पीने से वह जल्द ही रोग मुक्त हो जाता है। ताड़ के रस को आँच से पकाकर ताड़-गुड़, ताड़-पटाली, ताड़-बरफी, ताल-संदेश और नीरा (आँच में आधा सुखाया ताड़-रस टीन में भरा) तैयार किए जाते हैं। वह ताड़-गुड़, ताड़-पाटाली, ताड़-बरफी, ताड़-संदेश और नीरा थोड़ा-थोड़ा खाने पर स्वास्थ्य की उन्नति होती है।

कयेथबेल

चटनी या अचार के रूप में कयेथबेल मुँह में लार लाकर खाद्य में रुचि बढ़ाता है और पाचनक्रिया में कुछ सहायता कर देता है। बासी पानी में आमपत्ता, जामुनपत्ता, बेलपत्ता और कयेथबेल-पत्ता समान परिमाण में भिंगोकर उसमें गरम अवस्था में लोहा डूबा, जब छन् शब्द हो, तब लोहा को हटाकर उस ओक्सोडाइज्ड रस को पिलाने से बहुत पुराने ज्वररोगी का ज्वर छूट जाता है।

कच्चा कटहल

कच्चा कटहल गुणगत विचार से माँस के समान है, अथच माँस का तामसिक दोष इसमें नहीं है।

बाँस

एक बाल्टी जल में बाँस के पत्ते डुबाकर रख दूसरे दिन सबेरे उस जल को छानकर पीना मूत्रस्तम्भ और मधुमेह रोग की अच्छी औषधि है। कामला या पाण्डु रोग (Jaundice) की बढ़ी हुई अवस्था में भी यह जल पीने से सुफल मिलता है। गाय के मृतवत्सा रोग में बाँस का पत्ता उबालकर नियमित खिलाने से गाय का यह रोग दूर हो जाता है। मनुष्य के लिए भी यह उस रोग की औषधि है। बाँस पत्ते-जैसा शिशम (बंगला 'शिशु गाछ') के पत्ते भी मूत्रस्तम्भ, मूत्राश्मरी और मधुमेह रोग की औषधि है।

कुछ परिमाण में बाँस के पत्ते यदि चार गुणा वजन जल में उबाले जाएँ और वे बाँस पत्ते जिस वजन में थे वही वजन रहते उतार कर बाद में उस जल को छानकर, उस जल के साथ सम परिमाण ताजा खजूर का रस अथवा आधा परिमाण ताजा गन्ने का रस मिलाकर प्रातः खाली पेट पीया जाए, तो यकृत रोग और मूत्ररोग की औषधि का काम करता है। हाँफनी की प्रथम अवस्था

में व्यवहार करने से [हाँफनी दूर हो जाती है, बढ़ी हुई प्रथम अवस्था में व्यवहार करने से] रोग प्रशमित होता है और पूरा एक शीतऋतु व्यवहार करने से ऋतु के अन्त में सम्पूर्ण दूर हो जाता है।

कामिनी

कामिनी फूल के गाछ (उत्तर भारत में 'मनस्काम')- प्राचीनकाल के लोगों की धारणा थी कि कामिनी फूल की गन्ध और उसके पत्ते का रस चर्मरोग के प्रतिबन्धक हैं। सम्वेदन-विहीन कुष्ठ के प्रतिरोध के लिए भी इसका प्राचीनकाल में कुछ-कुछ व्यवहार होता था। इस प्रकार की एक धारणा थी कि स्वस्थ व्यक्ति भी कामिनी फूल के गन्ध के संस्पर्श में यदि रहे, तो चर्मरोग एक प्रकार से नहीं होता है।

कदम्ब

'कदम्ब' शब्द का तृतीय अर्थ कच्ची हल्दी है, जो हल्दी गाछ के नीचे गुच्छाकार रहती है। यह कच्ची हल्दी चर्मरोग नाशक है। पर कुछ विषप्राययुक्त होने के कारण औषधि के लिए छोड़कर मनुष्य के लिए भक्ष्य नहीं है। कच्ची हल्दी में रोग-बीज नाश करने की समर्थता रहने के कारण प्राचीनकाल में लोग विवाह और उत्सावादि के पहले पीसी कच्ची हल्दी का लेप देह में लगाकर स्नान करते थे जिससे बहुत से लोगों के समागम से रोग का प्रादुर्भाव नहीं हो। कच्ची हल्दी एकजिमा या गरल घाव की भी औषधि है। एक छोटे चम्मच परिमाण कच्ची हल्दी छोटे-छोटे टुकड़े कर उसके साथ एक या दो बूँद शुद्ध मधु और एक तुलसी पत्ती मिलाकर खाली पेट में खाने पर गरल घाव या एक्जिमा की औषधि के रूप में गण्य होगा।

अर्जुन

अर्जुन का छाल दाँत और चौवा के विभिन्न प्रकार के रोगों की महाऔषधि है। कई प्रकार के चर्मरोगों की औषधि है। अर्जुन का छाल का क्वाथ मूत्रस्तम्भकी औषधि है। रात में अल्पमात्रा में अर्जुन छाल के रस का सेवन करना मूर्खता या उपस्थित बुद्धि के अभाव को दूर करता है- यह धारणा प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों की थी।

आकन्दर

आकन्दर का अच्छा नाम अर्क है। अर्क नाना प्रकार के रोगों की औषधि है। अर्कपत्र, अर्कफूल और अर्कमूल-विशेषकर श्वेत अर्क से विभिन्न प्रकार के कान की औषधियाँ और चर्मरोग की औषधियाँ बनती हैं। इस तरह के औषधीय गुण सभी आकन्द में रहने पर भी, ये गुणविशेषकर श्वेत आकन्द में कुछ अधिक हैं। कन्द के पके पत्ते से (सूखा पत्ता नहीं) प्राचीनकाल में कर्णशूल की औषधि तैयार की जाती थी।

हरितकी

हरितकी कोष्ठ-परिष्कारक है, इसलिए यह विष्ठम्भिनी रूप में भी परिचित है। जो कोष्ठबद्धता को दूर करता है, संस्कृत में उसे विष्टम्भिनी कहते हैं। पालक साग (पालं शाक, पालन्ध्या) और मटरसाग भी (केला के पत्ता पर) विष्टम्भिनी रूप से अच्छी तरह जानी जाती है। तुमलोग स्वास्थ्य-रक्षा के लिए बीच-बीच में पालक साग और मटर साग खा सकते हो।

मधु-जैसा हरीतकी रक्त गतिवर्द्धक है अर्थात् हरीतकी खाने से मनुष्य की कर्म तत्परता बढ़ती है, आलस्य कमता है। चूँकि, हरीतकी रक्तगतिवर्द्धक है इसलिए शरीर के बाहर या भीतर कोई क्षत रहने से उस समय हरीतकी का व्यवहार नहीं करना ही अच्छा है और करने पर भी उसे बहुत कम परिमाण में करना उचित है।

यदि कोई स्त्री व्याधिग्रस्त है, तो उसे हरितकी का व्यवहार नहीं करना ही अच्छा है।

कमल

कमल की पापड़ी से औषधि बनती है। कमल का, विशेषकर श्वेत कमल का केशर सर्प विष की औषधि है। कमल का मधु प्राचीनकाल से नेत्र की महौषधि के रूप में गण्य होता आया है।

भतुआ

भतुआ यकृत (लीवर) के लिए अच्छा है। फिर स्नायुकोष और स्नायुतन्तु के लिए भी। भतुआ में जो गुण हैं कद्दू में भी वे गुण हैं। किन्तु भतुआ में अधिक मात्रा में है।

इसका खाद्यगत मूल्य उतना नहीं होने पर भी खाना पचाने और भूख जगाने में सहायता करता है। मिष्टि कुमड़ो (कोंहड़ा) के बीज का खाद्यगत मूल्य अत्यन्त अधिक है। भतुआ जितनी ताजी और कच्ची अवस्था में रहेगा उतना ही वह स्नायुकोष और स्नायुतन्तु के लिए अच्छी औषधि है, और जितना अधिक पूर्णत्व की ओर बढ़ता है उतना अधिक यकृत रोग के लिए अच्छी औषधि है। भतुआ के बीज का तेल चर्मरोग की औषधि है।

पका केला

घी में भूनकर पका केला रक्त-आमाशय की औषधि है। दुग्ध-खीरा के रस के साथ पका केला सभी तरह के आमाशय की औषधि है। विशेष प्रकार से व्यवहार करने पर पका केला मियादी बुखार (रेमिटेंट फीवर) की भी औषधि है।

हल्दी

कच्ची हल्दी विषाक्त होती है। फिर विषनाशक के रूप में भी कई बार हल्दी का व्यवहार होता है। इसलिए पौराणिक विधि के अनुसार लड़कियों को शादी के पहले कच्ची हल्दी पीसकर शरीर में मलकर स्नान कराया जाता है। कच्ची हल्दी और गुड़ रक्त-परिष्कारक और कृमिनाशक है। मगरमच्छ के लिए कच्ची हल्दी घात विष है। नीम-पत्ती और कच्ची हल्दी को पानी में खौलाकर उस पानी को ठण्डा करके चेचक के रोगी को स्नान कराया जाता है। इससे घाव जल्दी ठीक होते हैं।

दालचीनी

दालचीनी गरम मसाला (षड्डूषण) के रूप में सुपरिचित है। दालचीनी शरीर में उष्णता लाती है। रक्त-गतिवर्धक है- खाद्य में वर्ण, गन्ध और रूचि लाती है। खाद्य के पचने में सहायता करने पर भी स्वयं हजम नहीं होता है। इसलिए इसे तामसिक भोज्य के रूप

में गण्य किया जाता है। उदरामय (डायरिया) रहने पर दालचीनी या कोई गरम मसाला खाना उचित नहीं है।

गोलमिर्च

गोलमिर्च मुँह में लार को लाता है, भूख बढ़ाता है और पचाने में सहायता करता है। गोलमिर्च स्नायुतन्तु में सजीवता ला देता है।

एक आना वजन कण्टिकारी (कंटकी) की जड़ और अढ़ाई गोलमिर्च एक साथ पीसकर खाने से उस वर्ष चेचक नहीं होगा- सील पर दूध की छाली के साथ गोलमिर्च घिसकर यह घिसी बीज मुँह में लगाना मुँहासा की एक अचूक दवा है। दलपित्ती रोग में ताजा ताड़ के रस में सील पर गोलमिर्च घिसकर वह लेई जैसा हो जाने पर रात में सोने के समय लगाने से लाभ होता है। जिन्हें आलू नहीं पचता है वे यदि उबाला आलू घी में भँजकर थोड़ा नमक दे

गोलमिर्च के झोल में पकाएँ और उसे लीपी अवस्था में चूल्हे से उतारकर जो आलू-मिर्च बनता है, वह आलू को पचाने में सहायता करता है, मधुमेह रोगी को छोड़कर और सभी के लिए एक उपादेय खाद्य है।

भृंगराज-भृंगराज से तेल तैयार होता है। तेल बहुत ठंडा होता है। इसलिए माथा की गरमी और वायु विकार की औषधि के रूप में इसका व्यवहार होता है। पागल लोगों की चिकित्सा के लिए भृंगराज तेल व्यवहृत होता है।

बहेड़ा- बहेड़ा कोष्ठकाठिन्य की अच्छी दवा है। त्रिफला (हरें, आँवला और बहेड़ा) पहली रात को पानी में फुलाकर प्रातः वही जल पान करने से कोष्ठकाठिन्य रोग उपशमित होता है।

आमड़ा- आमड़ा गाछ से चर्मरोग, किडनी, फुसफुस, उल्टी इत्यादि रोगों की दवा तैयार होती है। आमड़ा और छोटा आमड़ा या देशी आमड़ा।

छातीम- इसे सप्तपर्णी पेड़ भी कहा जाता है। इससे बुखार की प्रतिषेधक दवा तैयार की जा सकती है।

नागदौना- इससे सिरदर्द की दवा बनती है।

नींबू-नींबू का रस एक उत्तम दवा है। अम्लरोग, काष्ठकाठिन्य की अत्युत्तम दवा है। नींबू के छिलके और रस दोनों से विभिन्न प्रकार की दवाएँ तैयार की जा सकती है।

देशी नीम (मार्गोंसा इण्डिका)

सूचीपत्र

नीम की जड़ यकृत सम्बन्धी व्याधियों की दवा है। नीम की छाल लघु चर्मरोग की दवा है। नीम का रस मधुमेह रोग (Diabetes) की दवा है। रक्त में शर्करा का भाग कम करने में भी यह सहायता करता है। नीम के पत्तों का रस थोड़ी मात्रा में खाने पर रुचिवर्धक और रक्तशोधक है। नीम बीज का तेल त्रिदोषज चर्मरोग की दवा है। नीम के पत्तों के रस से तैयार नीम-घी संक्रामक चर्मरोग की दवा है। नीम के पत्ते कपड़ों में लगने वाले कीड़ों की भी दवा है। नीम की लकड़ी भी काफी उन्नत दर्जे की होती है। नीम की हवा हर प्रकार के ज्वर रोगों का निषेधक और मलेरिया कालाजार का शत्रु है।

नीम फूल का मधु केवल एक पुष्टिकर खाद्य और उन्नत दर्जे का शर्करा प्रतिभू है, ऐसी बात नहीं है। नीम फूल का मधु एक उन्नत दर्जे की दवा भी है। अकाल-वार्धक्य की उत्तम श्रेणी की

दवा है। तुम लोगों ने देखा होगा कि किसी-किसी लड़के में 25/26 वर्ष की उम्र होते ही अर्थात् बुढ़ापे के नाना लक्षण आ जाते हैं। उठना-बैठना नहीं चाहता हमेशा लेटे रहना पसन्द करता है। थोड़ी सी ठंडक में गले में मफलर बाँध लेता है. बरसात में घर से बाहर नहीं निकलता...चाव से खाता नहीं, कहीं पेट न खराब हो जाए... सामने झुककर चलता है .... दीवार से उठंग कर बैठता है..... इत्यादि इत्यादि।

बसन्त ऋतु में नीम-बैगन, नीम-झोल तथा नीम सूक्ता स्वास्थ्य वर्धक और रोग प्रतिषेधक है। साधना मार्ग में पंचवटी कहने से जो समझा जाता है, उसमें अन्यतम नीम है। बाकी सब- वट, अश्वत्थ, बिल्व और शाल्मली। और आँवला हैं।

ISBN: 81-7252-244-4

समाप्त

**********X**********

घोषणा

आप नीचे दिए गए लिंक पर क्लिक करके ऐसी कई पुस्तकें पा सकते हैं।

www.anandamargaideas.com

सूचीपत्र

यदि आपके कोई प्रश्न हों तो आप इस व्हाट्सएप नंबर 8972566147 पर मेसेज भेज सकते हैं।